कोई अनहोनी बात नहीं है । महामारी और युद्धादि में बहुत-से मनुष्य एक साथ मरते हैं । मृत्यु तो प्रत्येक संसारी जीव के साथ लगी ही हुई है । यदि संसार में रह कर ही अमर होने का कोई उपाय होता, तो चक्रवर्ती आदि नरेन्द्र और देवेन्द्रादि कभी नहीं मरते । मृत्यु सभी के लिए अनिवार्य है, फिर विक्षिप्त के समान विलाप करना और मरने के लिए तत्पर होना तो मात्र मूर्खता ही है । इसलिए तुम धैर्य धारण करो और अपने स्थान पर जाओ । तुम्हारे स्वामी को सम्हालने के लिए मैं उनके पास जाता हूँ ।"

माँगलिक अग्नि कहाँ है ?

इस प्रकार सभी को समझा कर वह ब्राह्मण आगे बढ़ा और मार्ग में से किसी मरे हुए मनुष्य का शव उठा कर विनिता नगरी में प्रवेश किया । राजभवन के आँगन में जा कर वह ब्राह्मण जोर-जोर से चिल्लाने लगा; —

– "हे चक्रवर्ती महाराज ! हे न्यायावतार ! हे रक्षक-शिरोमणि ! आपके राज्य में मुझ पर महान् अत्याचार हुआ है । आप जैसे महाबाहु राजेश्वर के राज्य में मैं लूट गया हूँ । मेरी रक्षा करो देव ! मैं आपकी शरण में आया हूँ ।"

ब्राह्मण के ऐसे अश्रुतपूर्व शब्द सुन कर सगर महाराज चिंतित हुए । उसके दुःख को अपना ही दुःख मानते हुए उन्होंने द्वारपाल को भेज कर ब्राह्मण को बुलाया । ब्राह्मण रुदन करता हुआ राजा के सामने आया । महाराज ने ब्राह्मण से पूछा; —

—"तुझे किसने लूटा है ? कौन है तुझे दुःख देने वाला ?"

—"पृथ्वीनाथ ! आपके राज्य में सर्वत्र शांति है । कोई किसी को लूटता नहीं है, न चोरियाँ होती है, न छिनाझपटी होती है और न कोई धरोहर दबाता है । अधिकारीगण अपने कर्त्तव्य का सचाई के साथ पालन करते हैं । आरक्षक भी अपने स्वजनादि के समान प्रजा की रक्षा करते हैं । प्रजा भी सत्य और न्याय युक्त आचरण करती है । अन्याय, अनीति एवं दुराचार का नाम ही नहीं है । न लड़ाई-झगड़े हैं, न वैर-विरोध । सर्वत्र सुख-शांति और संतोष व्याप रहा है । कोई दुःखी-दर्दी और दरिद्र नहीं है—आपके राज्य में । किन्तु मुझ गरीब पर ही वज्रपात हुआ है—महाराज !"

"मैं अवंतीदेश के अश्वभद्र नगर का रहने वाला अग्निहोत्री ब्राह्मण हूँ । मैं अपने एकमात्र पुत्र और पत्नी को छोड़ कर विशेष अध्ययन के लिए विदेश गया था । मेरा अध्ययन

सुखपूर्वक चल रहा था कि एक दिन मुझे अपने-आप ही उदासी आ गई और मन चिन्तामग्न हो गया। अनिष्ट की आशंका से मैं उद्विग्न हो उठा। मैंने सोचा—मेरे कुटुम्ब पर अवश्य ही कोई संकट आया होगा। मैं उसी समय घर के लिए चल दिया। मेरी बायीं आँख फड़कने लगी थी। एक कौआ सूखे हुए झाड़ के ठूंठ पर बैठ कर कठोर शब्द बोल रहा था। मैं अपने घर के निकट पहुँचा, तो मेरा घर भी मुझे शोभाहीन दिखाई दिया। घर में पहुँचा, तो मेरी पत्नी रुदन कर रही थी। मेरा पुत्र मरा हुआ पड़ा था। यह देख कर मैं मूच्छित हो कर गिर पड़ा। सचेत होने पर मालूम हुआ कि मेरा पुत्र, सर्पदंश से मरा है। मेरे दुःख का पार नहीं रहा। मैं रात को भी शव के पास बैठा रोता रहा। इतने में मेरी कुलदेवी ने प्रकट हो कर कहा—

—"वत्स ! रुदन क्यों करता है ? मैं कहूँ वैसा करेगा, तो तेरा यह मृत पुत्र जीवित हो जायगा। तू कहीं से 'माँगलिक अग्नि' ले आ।"

—"माता ! कहाँ मिलेगी माँगलिक अग्नि मुझे"—मैंने आशान्वित होते हुए पूछा।

—"जिस घर में कभी कोई मरा नहीं हो, उस घर से अग्नि ले आ। वह 'मंगल-अग्नि' होगी। जिस घर में सदा आनंद-मंगल रहा हो, कभी शोक-संताप और मृत्यु नहीं हुए हों, वहाँ की अग्नि मंगलमय होती है"—देवी ने कहा।

—"महाराज ! देवी की बात सुन कर मैं उत्साहित हुआ और पुत्र को जीवित करने के लिए मैं उत्साहपूर्वक घर से निकल गया। मैं प्रत्येक गाँव और गाँव के प्रत्येक घर में गया, किन्तु ऐसा एक भी घर नहीं मिला कि जहाँ कोई मरा नहीं हो। सभी ने कहा—"हमारे वंश में असंख्य मनुष्य मर चुके हैं।" मैं माँगलिक अग्नि की खोज में भटकता हुआ आपकी शरण में आया हूँ। मुझे माँगलिक अग्नि दिलवाइये—महाराज ! आप चक्रवर्ती सम्राट हैं। सम्पूर्ण छह खंड में आपका राज्य है। वैताढ्य पर्वत पर की दोनों श्रेणियों में रहे हुए विद्याधर भी आपके आज्ञाकारी हैं और देव भी आपकी सेवा करते हैं तथा नव-निधान आपके सभी मनोरथ पूर्ण करते हैं। इसलिए किसी भी प्रकार से मेरा मनोरथ पूर्ण कराइये—दयालु"—ब्राह्मण अत्यन्त दीनतापूर्वक याचना करने लगा।

ब्राह्मण की याचना सुन कर नरेन्द्र विचार में पड़ गए। यह अनहोनी माँग कैसे पूरी हो। उन्होंने ब्राह्मण को समझाते हुए कहा;—

'हे भाई ! हमारे ही घर में तीन लोक के स्वामी अरिहंत भगवान् ऋषभदेवजी हुए। भरतेश्वर जैसे चक्रवर्ती नरेन्द्र हुए, जिनका सौधर्मेन्द्र जैसे भी आदर करते थे और अपने साथ एक आसन पर बिठाते थे। वीर-शिरोमणि, महाबाहु बाहुबलीजी तथा आदित्ययश

आदि नरेन्द्र हुए। ये सभी आयु पूर्ण होने पर देह का त्याग कर गये। हमारे वंश में असंख्य नरेन्द्र और उनके आत्मीयजन मर चुके, तब तुम्हारे लिए माँगलिक अग्नि कहाँ से लाई जाय ? काल तो दुरतिक्रम है भाई ! यह सर्वभक्षी और सर्वभेदी है। इसकी पहुँच से न कोई घर अछूता रहा और न कोई प्राणी बचा। इसलिए तू चाहता है वैसा मंगल-गृह तो कहीं नहीं मिल सकता। अब तू शोक करना छोड़ दे। मृत्यु आने पर सभी मरते हैं, चाहे वृद्ध हो या युवा अथवा बालक ही हो। जब एक बार सभी को मरना है, तो फिर शोक और रुदन क्यों करना चाहिए ? संसार में जो माता, पिता, पुत्र, भाई, बहन और पत्नी आदि का सम्बन्ध है, वह पारमार्थिक नहीं है। जिस प्रकार नगर की धर्मशाला में विविध स्थानों और विभिन्न दिशाओं से आने वाले बहुत-से व्यक्ति ठहरते हैं और साथ रह कर रात्रि व्यतीत करते हैं, किन्तु प्रातःकाल होते ही सभी अपने-अपने गन्तव्य की ओर चले जाते हैं, उसी प्रकार इस संसार में भी विभिन्न गतियों से आ कर जीव, एक घर में एकत्रित होते हैं और समय पूर्ण होने पर अपने-अपने कर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न गतियों में चले जाते हैं। ऐसे अनादि सिद्ध एवं अवश्यंभावी तथा अनिवार्य विषय में कौन बुद्धिमान शोक करता है। नहीं, नहीं, यह शोक करने का विषय नहीं है। इसलिए हे द्विजोत्तम ! तुम मोह का त्याग कर के स्वस्थ बनो और विवेक धारण करो।"

—"महाराज ! आपका उपदेश सत्य है—यथार्थ है। मैं भी यह जानता हूँ, किंतु करूँ क्या ? मुझ से पुत्र-मोह नहीं छूटता। पुत्र-वियोग ने मेरा सारा विवेक हर लिया है। यह दुःख वही जानता है, जो भुगत चुका है। जब तक पुत्र-विरह की वेदना भुगती नहीं, तब तक सभी लोग ऐसी बातें करते हैं और धीरज रखने और विवेकी बनने का उपदेश देते हैं। फिर आप तो अरिहंत भगवान् के वंशज हैं। निर्ग्रंथ-प्रवचन से आप का हृदय निर्मल हो चुका है। आप जैसे शक्तिशाली धैर्यवान् पुरुष विरल ही होते हैं। हे स्वामिन् ! आपने जो उपदेश मुझे दिया और मेरा मोह दूर किया, यह बहुत ही अच्छा किया। किन्तु यदि कभी आप पर भी ऐसी बीते, तो आप भी धीरज रख सकेंगे क्या ?"

"महाराज ! जिसके थोड़े पुत्र होते हैं, उसके थोड़े मरते हैं और अधिक पुत्र हैं, उसके अधिक मरते हैं। थोड़े मरते हैं, तो उनके पितादि को भी दुःख होता है और बहुत पुत्रों के मरने पर उनके माता-पितादि को भी दुःख होता है। जिस प्रकार थोड़े प्रहार से कीड़ी-कुंथू को और अधिक प्रहार से हाथी को समान पीड़ा होती है, उसी प्रकार पुत्रों के थोड़े बहुत मरने पर माता-पितादि को भी समान दुःख होता है। दुःख में न्यूनाधिकता नहीं होती। आपके उपदेश से मैं अपना मोह दूर करता हूँ। किन्तु राजेन्द्र ! आपको भी अपने

सुखपूर्वक चल रहा था कि एक दिन मुझे अपने-आप ही उदासी आ गई और मन चिन्तामग्न हो गया। अनिष्ट की आशंका से मैं उद्विग्न हो उठा। मैंने सोचा—मेरे कुटुम्ब पर अवश्य ही कोई संकट आया होगा। मैं उसी समय घर के लिए चल दिया। मेरी बायीं आँख फड़कने लगी थी। एक कौआ सूखे हुए झाड़ के ठूंठ पर बैठ कर कठोर शब्द बोल रहा था। मैं अपने घर के निकट पहुँचा, तो मेरा घर भी मुझे शोभाहीन दिखाई दिया। घर में पहुँचा, तो मेरी पत्नी रुदन कर रही थी। मेरा पुत्र मरा हुआ पड़ा था। यह देख कर मैं मूच्छित हो कर गिर पड़ा। सचेत होने पर मालूम हुआ कि मेरा पुत्र, सर्पदंश से मरा है। मेरे दुःख का पार नहीं रहा। मैं रात को भी शव के पास बैठा रोता रहा। इतने में मेरी कुलदेवी ने प्रकट हो कर कहा—

—"वत्स! रुदन क्यों करता है? मैं कहूँ वैसा करेगा, तो तेरा यह मृत पुत्र जीवित हो जायगा। तू कहीं से 'माँगलिक अग्नि' ले आ।"

—"माता! कहाँ मिलेगी माँगलिक अग्नि मुझे"—मैंने आशान्वित होते हुए पूछा।

—"जिस घर में कभी कोई मरा नहीं हो, उस घर से अग्नि ले आ। वह 'मंगल-अग्नि' होगी। जिस घर में सदा आनंद-मंगल रहा हो, कभी शोक-संताप और मृत्यु नहीं हुए हों, वहाँ की अग्नि मंगलमय होती है"—देवी ने कहा।

—"महाराज! देवी की बात सुन कर मैं उत्साहित हुआ और पुत्र को जीवित करने के लिए मैं उत्साहपूर्वक घर से निकल गया। मैं प्रत्येक गाँव और गाँव के प्रत्येक घर में गया, किन्तु ऐसा एक भी घर नहीं मिला कि जहाँ कोई मरा नहीं हो। सभी ने कहा—"हमारे वंश में असंख्य मनुष्य मर चुके हैं।" मैं माँगलिक अग्नि की खोज में भटकता हुआ आपकी शरण में आया हूँ। मुझे माँगलिक अग्नि दिलवाइये—महाराज! आप चक्रवर्ती सम्राट हैं। सम्पूर्ण छह खंड में आपका राज्य है। वैताढ्य पर्वत पर की दोनों श्रेणियों में रहे हुए विद्याधर भी आपके आज्ञाकारी हैं और देव भी आपकी सेवा करते हैं तथा नव-निधान आपके सभी मनोरथ पूर्ण करते हैं। इसलिए किसी भी प्रकार से मेरा मनोरथ पूर्ण कराइये—दयालु"—ब्राह्मण अत्यन्त दीनतापूर्वक याचना करने लगा।

ब्राह्मण की याचना सुन कर नरेन्द्र विचार में पड़ गए। यह अनहोनी माँग कैसे पूरी हो। उन्होंने ब्राह्मण को समझाते हुए कहा;—

'हे भाई! हमारे ही घर में तीन लोक के स्वामी अरिहंत भगवान् ऋषभदेवजी हुए। भरतेश्वर जैसे चक्रवर्ती नरेन्द्र हुए, जिनका सौधर्मेन्द्र जैसे भी आदर करते थे और अपने साथ एक आसन पर बिठाते थे। वीर-शिरोमणि, महाबाहु बाहुबलीजी तथा आदित्ययश

आदि नरेन्द्र हुए। ये सभी आयु पूर्ण होने पर देह का त्याग कर गये। हमारे वंश में असंख्य नरेन्द्र और उनके आत्मीयजन मर चुके, तब तुम्हारे लिए माँगलिक अग्नि कहाँ से लाई जाय ? काल तो दुरतिक्रम है भाई ! यह सर्वभक्षी और सर्वभेदी है। इसकी पहुँच से न कोई घर अछूता रहा और न कोई प्राणी बचा। इसलिए तू चाहता है वैसा मंगल-गृह तो कहीं नहीं मिल सकता। अब तू शोक करना छोड़ दे। मृत्यु आने पर सभी मरते हैं, चाहे वृद्ध हो या युवा अथवा बालक ही हो। जब एक बार सभी को मरना है, तो फिर शोक और रुदन क्यों करना चाहिए ? संसार में जो माता, पिता, पुत्र, भाई, बहन और पत्नी आदि का सम्बन्ध है, वह पारमार्थिक नहीं है। जिस प्रकार नगर की धर्मशाला में विविध स्थानों और विभिन्न दिशाओं से आने वाले बहुत-से व्यक्ति ठहरते हैं और साथ रह कर रात्रि व्यतीत करते हैं, किन्तु प्रातःकाल होते ही सभी अपने-अपने गन्तव्य की ओर चले जाते हैं, उसी प्रकार इस संसार में भी विभिन्न गतियों से आ कर जीव, एक घर में एकत्रित होते हैं और समय पूर्ण होने पर अपने-अपने कर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न गतियों में चले जाते हैं। ऐसे अनादि सिद्ध एवं अवश्यंभावी तथा अनिवार्य विषय में कौन बुद्धिमान शोक करता है। नहीं, नहीं, यह शोक करने का विषय नहीं है। इसलिए हे द्विजोत्तम ! तुम मोह का त्याग कर के स्वस्थ बनो और विवेक धारण करो।"

—"महाराज ! आपका उपदेश सत्य है—यथार्थ है। मैं भी यह जानता हूँ, किंतु करूँ क्या ? मुझ से पुत्र-मोह नहीं छूटता। पुत्र-वियोग ने मेरा सारा विवेक हर लिया है। यह दुःख वही जानता है, जो भुगत चुका है। जब तक पुत्र-विरह की वेदना भुगती नहीं, तब तक सभी लोग ऐसी बातें करते हैं और धीरज रखने और विवेकी बनने का उपदेश देते हैं। फिर आप तो अरिहंत भगवान् के वंशज हैं। निर्ग्रंथ-प्रवचन से आप का हृदय निर्मल हो चुका है। आप जैसे शक्तिशाली धैर्यवान् पुरुष विरल ही होते हैं। हे स्वामिन् ! आपने जो उपदेश मुझे दिया और मेरा मोह दूर किया, यह बहुत ही अच्छा किया। किन्तु यदि कभी आप पर भी ऐसी बीते, तो आप भी धीरज रख सकेंगे क्या ?"

"महाराज ! जिसके थोड़े पुत्र होते हैं, उसके थोड़े मरते हैं और अधिक पुत्र हैं, उसके अधिक मरते हैं। थोड़े मरते हैं, तो उनके पितादि को भी दुःख होता है और बहुत पुत्रों के मरने पर उनके माता-पितादि को भी दुःख होता है। जिस प्रकार थोड़े प्रहार से कीड़ी-कुंथू को और अधिक प्रहार से हाथी को समान पीड़ा होती है, उसी प्रकार पुत्रों के थोड़े बहुत मरने पर माता-पितादि को भी समान दुःख होता है। दुःख में न्यूनाधिकता नहीं होती। आपके उपदेश से मैं अपना मोह दूर करता हूँ। किन्तु राजेन्द्र ! आपको भी अपने

उपदेश को हृदयंगम कर के अखण्ड धैर्य धारण करना चाहिए। आपके पुत्र जो देशाटन करने गये थे, वे सभी मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं। उनके साथ रहे हुए सेनापति, सामन्त आदि शोक संतप्त दशा में आये हैं। आपने जो उपदेश मुझे दिया, उसका स्वयं भी पालन करें और शोकमग्न परिवार को भी धीरज बँधावें।"

ब्राह्मण की बात पूरी होते ही वे सेनापति आदि जो कुमारों के साथ गये थे, अश्रुपात करते हुए सभा में आये और राजा को प्रणाम कर नीचा मुख कर के बैठ गए।

ब्राह्मण की बात सुन कर और कुमार के साथ गये हुए सेनापति आदि को अश्रुपात करते हुए, बिना पुत्रों के ही आया हुआ देख कर, नरेन्द्र जड़वत् स्तंभित रह गए। उनके नेत्र स्थिर हो गए और वे मूच्छित हो गए। कुछ समय बाद स्वस्थ होने पर ब्राह्मण ने कहा;—

"राजन्! आप उन विश्ववंद्य महापुरुष भगवान् आदिनाथजी के वंशज और भगवान् अजितनाथजी के भाई हैं, जिन्होंने विश्व की मोह-निद्रा का नाश किया है। एक साधारण मनुष्य के समान आपको मोहाधीन हो कर शोक करना शोभा नहीं देता। इस समय की आपकी दशा, उन महापुरुषों और उस कुल के लिए अशोभनीय है।"

नरेश, ब्राह्मण की बात सुन कर विचार में पड़ गए। वे समझ गए कि ब्राह्मण अपने पुत्र की मृत्यु के बहाने मुझे मेरे पुत्रों की मृत्यु का सन्देश देने आया है। जब राजा को कुमारों के मृत्यु का कारण बताया गया, तो वे विशेष आक्रन्द करने लगे। उनके शोक का पार नहीं रहा। राजा के हृदय में शान्ति उत्पन्न करने के लिए ब्राह्मण ने फिर कहा;—

"नरेन्द्र! आपको पृथ्वी का ही राज्य नहीं मिला है, वरन् प्रबोध का आध्यात्मिक अधिकार भी प्राप्त हुआ है—वंशानुगत मिला है। आप दूसरों को बोध देने योग्य हैं, फिर आपको दूसरा कोई उपदेश दे, यह उलटी बात है। मोहनिद्रा का समूल नाश करने वाले ऐसे भगवान् अजितनाथ के भाई को दूसरे बोध दें, क्या यह लज्जा की बात नहीं है?"

ब्राह्मण की बात सुन कर राजा को कुछ धैर्य बँधा। किन्तु मोह भी महाप्रबल था। वह रह-रह कर उमड़ आता और ज्ञान को दबा देता था। यह देख कर 'सुबुद्धि' नाम के प्रधान मन्त्री ने निवेदन किया;—

"महाराज! समुद्र मर्यादा नहीं छोड़ता, कुलपर्वत कम्पायमान नहीं होते और पृथ्वी चपल नहीं बनती। यदि कभी समुद्र, पर्वत और पृथ्वी भी मर्यादा छोड़ दे, तो भी आप जैसे महानुभाव को तो दुःख प्राप्त होने पर भी अपना संतुलन नहीं खोना चाहिए। संसार की तो लीला ही विचित्र है। क्षणभर पहले जिसे सुखपूर्वक विचरण करते देखते हैं,

वह क्षणभर बाद ही नष्ट होते दिखाई देता है। इसलिए विवेकी पुरुष को संसार की विचित्रता का विचार कर के विवेक को जाग्रत रखना चाहिए।

इन्द्रजालिक की कथा

महाराजा सगर चक्रवर्ती का शोक दूर करने के लिए सुबुद्धि प्रधानमन्त्री इस प्रकार कथा सुनाने लगा—

"जम्बूद्वीप के इसी भरत-क्षेत्र के किसी नगर में एक राजा राज करता था। वह जैनधर्म रूपी सरोवर में हंस के समान था। सदाचारी और प्रजावत्सल था। न्याय-नीति-पूर्वक राज्य का संचालन करता था। एक समय वह सभा में बैठा हुआ था कि उसके सामने एक व्यक्ति उपस्थित हुआ। उसने राजा को प्रणाम कर के अपना परिचय देते हुए कहा—"मैं वेदादि शास्त्र, शिल्पादि कला एवं अन्य कई विद्याओं में पारंगत हूँ। किन्तु इस समय मैं अपनी इन्द्रजालिक (जादुई) विद्या का परिचय देने के लिए आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। इस विद्या से मैं उद्यानों की रचना कर सकता हूँ, ऋतुओं का परिवर्तन और आकाश में गन्धर्वों द्वारा संगीत प्रकट कर सकता हूँ। मैं अदृश्य हो सकता हूँ। आग चबा सकता हूँ। धधकते हुए लोहे को खा सकता हूँ। जलचर, स्थलचर और खेचर (आकाश में उड़ने वाला पक्षी) बन सकता हूँ। इच्छित पदार्थ को दूर देश से मँगवा सकता हूँ। पदार्थों के रूप पलट सकता हूँ और अन्य अनेक प्रकार के आश्चर्यकारी दृश्य दिखा सकता हूँ। मेरी प्रार्थना है कि आप मेरी कला देखें।"

"हे कलाविद्"—नरेश ने इन्द्रजालिक को सम्बोध कर कहा—"अरे, तुमने बुद्धि को बिगाड़ने वाली इस कला के पीछे अपना अनुपम मानवभव क्यों गँवाया? इस जन्म से तो परमार्थ की ही साधना करनी थी। अब तुम आये हो, तो मैं तुम्हें तुम्हारी इच्छानुसार धन दे कर संतुष्ट करता हूँ, किन्तु ऐसे जादुई खेल देखने की मेरी रुचि नहीं है।"

—"राजन्! मैं दया का पात्र नहीं हूँ। मैं कलाविद् हूँ। अपनी कला का परिचय दिये बिना मैं किसी का दान ग्रहण नहीं करता। यदि आपको मेरी कला के प्रति आदर नहीं है, तो रहने दीजिए"—कह कर और नमस्कार कर के जादूगर चलता बना। राजा ने उसे मनाने का प्रयत्न किया, किन्तु वह नहीं रुका और चला ही गया।

वही जादूगर दूसरी बार एक ब्राह्मण का रूप बना कर राजा के सामने उपस्थित

अपने ज्ञान और अनुभव के बल पर जो भविष्यवाणी की है, वह कदापि अन्यथा नहीं हो सकती। बस थोड़ी ही देर और है। आप, मैं, यह राज्य-सभा और यह हरी-भरी पृथ्वी, थोड़ी ही देर रहेंगे। फिर सब नष्ट हो जाएगा"—ब्राह्मण ने हँसते हुए कहा।

यह बात हो ही रही थी कि इतने में एक भयंकर गर्जना हुई। सभी लोग इस गर्जना से चौंक उठे। ब्राह्मण ने कहा—

"महाराज ! यह समुद्र की गंभीर गर्जना है। यह प्रलय की सूचना है। अब सावधान हो जाइए। देखिए, वह आ रहा है। वह........वह...............वह.................

ब्राह्मण प्रलय का वर्णन करता जा रहा था। सभी लोगों की दृष्टि दूर-दूर तक पहुँच रही थी। इतने में सभी को दूर से ही, मृग-तृष्णा के समान सभी ओर से, पानी का प्रवाह अपनी ओर आता दिखाई दिया। ब्राह्मण राजा के निकट आ कर कहने लगा—

"देखिए, वह पहाड़ आधा डूब गया। वह विशाल वृक्ष देखिए, कितना डूब गया ? अब तो वृक्षों की ऊपर की डालियें ही दिखाई दे रही हैं। वह गाँव जलमग्न हो गया। उधर देखो। वहाँ पानी के अतिरिक्त और है ही क्या ? देखिए, यह प्रवाह इधर ही आ रहा है। ये वृक्ष, पशु और मनुष्यों के शव तैरते दिखाई दे रहे हैं। देखिये, अब तो आपके किले तक पानी आ गया है। ओह ! अब तो भवन के आंगन में भी पानी आ गया। नरेन्द्र ! कहाँ गया आपका नगर ? अब तो आपके इस विशाल भवन के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं देता। सभी जलमग्न हो गया महाराज ! भवन का प्रथम खण्ड जलमग्न हो गया। अब दूसरा खण्ड भी भर रहा है। यह देखिये, अब तो तीसरे खण्ड में भी पानी भरने लगा है।" होते-होते सारा भवन डूबता दिखाई दिया। "कहाँ गये महाराज ! आपके वे मूर्ख ज्योतिषी ?" ब्राह्मण बोलता जा रहा था। राजा भयभीत था। बचने की कोई आशा नहीं रही थी। वह दिग्मूढ़ हो कर कूद पड़ा—उस महासागर में। किन्तु उसने अपने को सिंहासन पर सुरक्षित बैठा पाया। न सागर का पता, न पानी का। सब ज्यों का त्यों।

विप्र, कमर में ढोल बाँध कर बजा रहा था और अपने ईष्टदेव की स्तुति करता हुआ हर्षोन्मत्त हो रहा था। राजा ने पूछा—"यह सब क्या है ?"

"महाराज ! मैं वही इन्द्रजालिक हूँ। पहले आपने मेरी कला की उपेक्षा की, तो दूसरी बार मैं भविष्यवेत्ता बन कर आया और अपनी कला दिखलाई। मैंने आपके सुयोग्य सभासदों का तिरस्कार किया और आपको भी कष्ट दिया, इसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ"—नम्रतापूर्वक जादूगर ने कहा।

"विप्र ! तुम्हें क्षमा माँगने की आवश्यकता नहीं है। तुमने मेरा उपकार ही किया है। इन्द्रजाल के समान इस संसार की असारता का प्रत्यक्ष बोध दे कर तुमने मुझे सावधान कर दिया।"

राजा ने उस जादूगर को बहुत-सा पारितोषिक दे कर विदा किया और अपने पुत्र को राज्य का भार दे कर निर्ग्रंथ अनगार बन गया।

कथा को पूर्ण करते हुए सुबुद्धि प्रधान ने कहा—

"स्वामिन् ! यह सारा संसार ही इस कथा के इन्द्रजाल के समान है। इसमें संयोग और वियोग होते ही रहते हैं। आप तो जिनेश्वर भगवान् के कुल में चन्द्रमा के समान हैं और धर्मज्ञ हैं। आपको इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिए।"

सुबुद्धि प्रधान के उद्बोधन से क्षणभर के लिए राजा का मोह हलका हुआ, किन्तु रह-रह कर पुनः उभरने लगा, तब दूसरा मन्त्री कहने लगा।

मायावी की अद्भुत कथा

"राजन् ! संसार में अनुकूल और प्रतिकूल संयोग तो मिलते ही रहते हैं। उदय-भाव से उत्पन्न परिस्थितियों में हर्ष-शोक करना साधारण व्यक्ति के योग्य हो सकता है, परन्तु आप जैसे ज्ञानियों के लिए उचित नहीं है। संसार के संयोग नाटकीय दृश्यों के समान है। मैं आपको एक कथा सुनाता हूँ। जरा शान्ति से सुनिये—

एक राजा के पास उसके द्वारपाल ने आ कर कहा—

—"महाराज ! एक पुरुष आपके दर्शन करना चाहता है। वह अपने को उच्चकोटि का मायावी बतलाता है और अपने कर्तव्य दिखाने आया है। आज्ञा हो, तो उपस्थित करूँ।"

राजा ने इन्कार करते हुए कहा—"नहीं, यह संसार ही मायामय है। इन्द्रजाल के मैंने भी कई दृश्य देख लिए। अब विशेष देखने की इच्छा नहीं है। उसे मना कर दो।"

राजा की उपेक्षा से निराश एवं उदास हुआ मायावी चला गया। किंतु उसकी इच्छा वैसी ही रही। थोड़े दिनों के बाद वह अपना मायावी रूप ले कर राजा के सामने उपस्थित हुआ। वह एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में भाला और साथ में एक सुन्दर-तम स्त्री को लिये आकाश-मार्ग से राजा के सामने आ खड़ा हुआ। आश्चर्य के साथ राजा ने उससे पूछा—

"तुम कौन हो ? यह स्त्री कौन है ? यहाँ क्यों आये हो ?"

—"राजेन्द्र ! मैं विद्याधर हूँ। यह मेरी पत्नी है। एक दूसरे विद्याधर के साथ मेरा झगड़ा हो गया है। वह लम्पट मेरी इस स्त्री को हरण कर के ले गया था, किंतु मैं अपनी प्रिया को उससे छुड़ा कर ले आया। वह लम्पट फिर भी मेरे पीछे पड़ा हुआ है। मैं पत्नी को साथ रख कर उससे युद्ध नहीं कर सकता। इसलिए मैं आपकी शरण में आया हूँ। आप न्यायी, सदाचारी, परदार-सहोदर, प्रबल पराक्रमी, धर्मात्मा एवं शरणागत-रक्षक हैं। आप मेरी पत्नी को धरोहर के रूप में रखें। मैं इसको आपके रक्षण में रख कर उस दुष्टात्मा का दमन करने जाता हूँ। उसे यमद्वार पहुँचा कर फिर अपनी प्राणप्रिया को ले जाउँगा।"

"नरेन्द्र ! अर्थ-लिप्सा पर अंकुश रखने वाले तो मिल सकते हैं। किन्तु भोग-लिप्सा पर अंकुश रखने वाले संसार में खोज करने पर भी नहीं मिलते। मैंने सभी ओर देखा, किन्तु आप जैसा स्वदार-संतोषी एवं परनारी-सहोदरवत् और कोई दिखाई नहीं दिया। आपकी यशध्वजा दिगन्त व्याप्त है। इसीलिए वैताढ्य पर्वत से चल कर मैं आपकी शरण में आया हूँ। आप थोड़े दिनों के लिए मेरी पत्नी की रक्षा कीजिए"—मायावी ने हृदय-स्पर्शी विनती की।

—"भद्र ! तुमने यह क्या तुच्छ याचना की। मैं तेरे शत्रु उस दुष्ट लम्पट को ही उसकी दुष्टता का कठोर दण्ड देने के लिए तत्पर हूँ। तू चिन्ता मत कर और यहाँ सुख से रह"—राजा ने अपने वीरत्व के अनुकूल उत्तर दिया।

—"कृपावतार ! आप केवल मेरी पत्नी की ही रक्षा कीजिए। यही उपकार बड़ा भारी है। क्योंकि चन्द्रमुखी रूप-सुन्दरी का पवित्रतापूर्वक रक्षण करना ही दुष्कर है। आप यही कृपा कीजिए। उस दुष्ट को तो मैं थोड़ी ही देर में मसल कर सदा के लिए सुला दूंगा"—आगत ने अपनी प्रार्थना पुनः दुहराई।

—"स्वीकार है वीर ! तुम निश्चित रहो। तुम्हारी पत्नी यहाँ अपने पितृगृह के समान सुरक्षित रहेगी"—राजा ने आश्वासन दिया।

राजा की स्वीकृति पाते ही वह मायावी उछला और पक्षी के समान आकाश में उड़ गया। राजा ने उस सुन्दरी से कहा—

"जाओ बेटी ! तुम अन्तःपुर में प्रसन्नतापूर्वक रहो। मैं वहाँ तुम्हारी सुविधा का सारा प्रबन्ध करवा दूंगा। तुम किसी भी प्रकार की चिन्ता मत करो और जिस वस्तु की आवश्यकता हो........

हठात् आकाश में घोर गर्जना हुई। सिंहनाद हुआ। तलवार और भाले की टक्कर की आवाजें आने लगी। "मैं तुझे आज यमधाम पहुँचा कर ही रहूँगा। ठहर, जाता कहाँ है? आज तेरे जीवन का अंतिम क्षण है," इत्यादि आवाजें आने लगी। नरेश एवं सभासद् सभी अपने स्थान से उठ कर आकाश की ओर देखने लगे। इतने में उनके सामने एक कटा हुआ मानव हाथ, आकाश से आ कर गिरा। हाथ को देखते ही वह स्त्री चौंकी और रोने लगी। इतने में एक कटा हुआ पाँव आ कर गिरा। यह देख कर रोती हुई वह बोली—"यह हाथ और पाँव तो मेरे पति के ही हैं।" इसके बाद दूसरा हाथ, दूसरा पाँव, मस्तक और धड़ कटे हुए गिरे। स्त्री करुण क्रन्दन करती हुई कहने लगी—

"मेरा सर्वनाश हो चुका। उस दुष्ट ने मेरे पति को मार डाला। यह उन्हीं के अंग हैं। अब मैं जीवित नहीं रह सकती। मैं भी अब पति के साथ ही परलोक जाना चाहती हूँ। महाराज! शीघ्रता कीजिए। मुझे पतिधाम जाने के लिए आज्ञा दीजिए। चितारूपी शीघ्र-गति वाला वाहन बनाइए। मैं उस पर आरूढ़ हो कर जाना चाहती हूँ।"

—"हे पति-परायणा पुत्री! धैर्य धर। विद्याधरी लीला में अनेक प्रकार की मायावी रचना हो सकती है। कदाचित् उस दुष्ट लम्पट ने निराश हो कर तुझे भ्रमजाल में फँसाने के लिए यह सभी प्रपञ्च किया हो। इसलिए शान्ति धारण कर और थोड़ी देर प्रतिक्षा कर"—राजा ने सान्त्वना देते हुए कहा।

—"नहीं, महाराज! यह मेरा पति ही है। मैं पूर्णरूप से पहिचानती हूँ। इसमें किसी प्रकार का भ्रम अथवा धोखा नहीं है। मैं अब क्षणभर भी जीवित रहना नहीं चाहती। अब मेरा जीवित रहना मेरे पितृकुल एवं पतिकुल के लिए शोभनीय नहीं है। इसलिए अपने सेवकों को आज्ञा दे कर मेरे लिए शीघ्र ही चिता रचाइए"— उस स्त्री ने कहा।

—"बहिन! तेरे दुःख को मैं जानता हूँ। फिर भी मेरा आग्रह है कि तू थोड़ा धीरज रख। बिना विचारे एकदम साहस कर डालना अच्छा नहीं होता। जो विद्याधर हैं, आकाश में उड़ सकते हैं, वे विविध प्रकार के भ्रम की सृष्टि भी कर सकते हैं। कौन जाने यह भी कोई छल हो"—राजा ने सन्देह व्यक्त किया।

राजा की बात सुनते ही सुन्दरी क्रोधित हो कर बोली—

—"राजन्! आप मुझे क्यों रोकते हैं? आपका 'परस्त्री-सहोदर' विरुद वास्तविक है या मात्र भुलावा देने के लिए ही है? यदि वास्तव में आपकी दृष्टि शुद्ध है, तो कृपा कर शीघ्रता करिये और अपनी धर्मपुत्री को अपने कर्तव्य-मार्ग पर चलने दीजिए। मैं अब एक पल के लिए भी रुकना नहीं चाहती।"

राजा निराश हो गया और उसकी इच्छानुसार व्यवस्था करने की आज्ञा प्रदान कर दी। महिला ने स्नान-मंजन किया। वस्त्राभूषण पहिने। वह सम्पूर्ण रूप से श्रृंगारित हो कर रथ में बैठ गई और पति के अंगों को भी ले लिये। रथ श्मशान भूमि की ओर चलने लगा। पीछे राजा एवं नागरिकजन पैदल चलने लगे। चिता रची गई। चिता में प्रवेश होने के पूर्व उस महिला ने राजा के दिये हुए धन का मुक्त हस्त से दान किया और सभी लोगों को प्रणाम किया। उसके बाद चिता की प्रदक्षिणा कर के उसमें बैठ गई और पति के अंगों के साथ जल गई। राजा और नागरिकजन शोकाकुल हृदय से घर लौटे।

राजा सभा में बैठा था, तब वही मायावी पुरुष हाथ में तलवार और भाला ले कर सभा में उपस्थित हुआ। राजा और सभी लोग उसे देख कर चकित रह गए। वह पुरुष बोला—

"राजेन्द्र ! ज्योंही मैं आपके पास से गया, त्योंही मेरा उस दुष्ट से साक्षात्कार हो गया। वह यहीं मेरे पीछे आ रहा था। मैंने उसे ललकारा और घोर गर्जना के साथ हमारा युद्ध प्रारम्भ हो गया। लड़ते-लड़ते मैंने कौशल से पहले उसका एक हाथ काट दिया, फिर पाँव, इस प्रकार लड़ते-लड़ते उसके छह टुकड़े कर दिये और उसके सभी अंग आपकी सभा में ही गिरे। इस प्रकार आपकी कृपा से मैंने अपने शत्रु को समाप्त कर दिया। अब मैं बिलकुल निर्भय हूँ। अब मेरी पत्नी मुझे दे दीजिए, सो मैं अपने घर जा कर शान्ति से जीवन व्यतीत करूँ।"

मायावी के वचन सुन कर राजा चिंतामग्न हो कर कहने लगा—

"भद्र ! तुम्हारी पत्नी मेरे पास थी। किन्तु तुम्हारे युद्ध के परिणाम स्वरूप कटे हुए शरीर को देख कर वह समझी कि मेरा पति मारा गया है और ये हाथ आदि अंग उसी के हैं। वह शोकसागर में डूब गई और उस शरीर के साथ जल मरने को आतुर हो गई। हमने उसे बहुत समझाया, किन्तु वह नहीं मानी और उस शरीर के साथ जल गई। हम सब अभी उसे जला कर आये हैं और उसी चिन्ता में बैठे हैं। अब हम उसे कहाँ से लावें ? मुझे आश्चर्य होता है कि वे शरीर के टुकड़े तुम्हारे नहीं थे, अथवा पहले जो आया था, वह कोई दूसरा था और अब तुम दूसरे हो, क्या बात है ?"

"राजन् ! आप क्या कह रहे हैं ? क्या आपकी मति पलट गई ? आप भी मेरी पत्नी के रूप पर मोहित हो कर बदल रहे हैं ? क्या यही आपका परनारी-सहोदरपना है ? क्या आप भी मेरे साथ शत्रुता करने लगे हैं ? यदि आप सदाचारी और निर्लिप्त हैं, तो कृपा कर मेरी पत्नी मुझे अभी दीजिए और अपनी उज्ज्वल कीर्ति की रक्षा कीजिए।"

पौत्र भगीरथ का राज्याभिषेक किया। इतने में उद्यान पालक ने तीर्थंकर भगवान् अजित-नाथजी के शुभागमन की बधाई दी। महाराज, भगवंत को वंदन करने गये और भगवान् की धर्मदेशना सुन कर प्रव्रज्या प्रदान करने की प्रार्थना की। भगीरथ ने सगर महाराज का अभिनिष्क्रमण महोत्सव किया। सगर महाराज सर्वत्यागी निर्ग्रंथ हो गए। आपके साथ अनेक सामन्तों और मन्त्रियों ने भी दीक्षा ली। दीक्षा लेने के बाद सम्राट ज्ञानाभ्यास एवं संयम की साधना में तत्पर हो गए। संसार में राज्य-साधना में अग्रसर हुए थे, तो दीक्षा

अस्थियाँ भी गंगा के साथ समुद्र में प्रक्षिप्त की। भगीरथ ने अपने पितृओं की अस्थियाँ जल में डाली। उसका अनुकरण लोग अब तक करते हैं।

(वैदिक सम्प्रदाय भी गंगा को 'भागीरथी' के नाम से पुकारता है। उनका कहना है कि राजा दिलीप का पुत्र भगीरथ, घोर तपस्या कर के गंगा को आकाश से उतार कर पृथ्वी पर लाये, इसी से यह 'भागीरथी' कहलाई)

भगीरथ वापिस लौट रहा था। रास्ते में उसे केवलज्ञानी भगवंत के दर्शन हुए। उसने अपने पिता, काका आदि के एक साथ भस्म हो जाने का कारण पूछा। केवली भगवान् ने कहा—'एक संघ तीर्थयात्रा करने जा रहा था। वह चोरपल्ली के पास पहुँच कर वहीं ठहर गया। ऋद्धि-सम्पन्न संघ को देख कर ग्रामवासी चोर लोग खुश हुए। उन्होंने उसे लूटने का विचार किया। किंतु एक कुंभकार ने उन्हें समझाया कि यह तो धर्मसंघ है। इसे सताना अच्छा नहीं है। कुम्हार के समझाने से संघ सुरक्षित रहा। कालान्तर में राजा ने कुपित हो कर चोरपल्ली को ही जला डाला। वहाँ के निवासी सभी जल मरे, केवल वह कुंभकार ही--अन्यत्र चला गया था, सो बच गया। कुंभकार आयुष्य पूर्ण होने पर विराट देश में एक धनाढय व्यापारी हुआ और ग्रामवासी चोर वहाँ के साधारण मनुष्य हुए। कुंभकार का जीव वहाँ से मर कर उसी देश का राजा हुआ। वहाँ से मर कर ऋद्धिवंत देव हुआ और देवभव पूर्ण कर के तुम भगीरथ के रूप में जन्मे। वे ग्रामवासी भवान्तर में तुम्हारे पिता और काका हुए। उन्होंने मन से ही संघ का विनाश चाहा था, उस पाप से वे सभी एक साथ भस्मीभूत हो गए। तुमने चोरों को समझा कर संघ को बचाया, इसलिए तुम वहाँ भी बचे और यहाँ भी उस विनाश से बचे। यह सुन कर भगीरथ विरक्त हुआ, किंतु पितामह की शोक-संतप्त स्थिति देख कर—'उन्हें दुःख नहीं हो'--यह सोच कर वह दीक्षित नहीं हो कर स्वस्थान चला आया।

× ×

के कान के समान चंचल है। यौवन और लक्ष्मी, बरसाती नाले के समान वह जाने वाले हैं। जीवन, घास के अग्रभाग पर रहे हुए जलबिन्दु तुल्य है। वृद्धावस्था, आयुष्य का अंत करने वाली राक्षसी के समान है। जब तक वृद्धावस्था नहीं आती और इन्द्रियाँ विकल नहीं होतीं, तब तक सामर्थ्य रहते ही संसार का त्याग कर के निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या धारण कर, आत्महित साध लेना ही श्रेयस्कर है। जो मनुष्य, इस असार संसार का त्याग कर के मोक्ष प्राप्ति के पुरुषार्थ में पराक्रमी बनता है, वह इस नश्वर शरीर रूपी तुच्छ कंकर से, शाश्वत सुख रूपी महान् रत्न का महालाभ प्राप्त करता है।"

महाराजाधिराज सगर इस प्रकार संसार की असारता बता कर आत्म-कल्याण के लिए प्रव्रजित होने का मनोभाव व्यक्त करने लगे। वे विरक्त हो गए। संसार में रहना अब उन्हें नहीं सुहाता था। उनका वैराग्य भाव वर्द्धमान हो रहा था +। उन्होंने अपने

+ ग्रथकार बतलाते हैं कि चक्रवर्ती महाराजा के सामने अष्टपद पर्वत के समीप रहने वाले बहुत-से लोगों का एक झुंड आया और आर्त्त स्वर में चिल्लाया—"महाराज ! हमारी रक्षा कीजिए। हम दुःखी हो गए हैं।" उन्होंने आगे कहा—"आपके पुत्रों ने अष्टापद पर्वत के समीप जो खाई खोद कर गंगा के जल से भरी, वह जल हमारा सर्वनाश कर रहा है। खाई भर जाने के बाद सारा जल हमारे प्रदेश में फैल गया और आस-पास के गाँवों को डुबा कर नष्ट करने लगा। हम सभी जीवन बचाने के लिए वहाँ से भाग निकले। हमारे घर, सम्पत्ति और सभी साधन नष्ट हो रहे हैं। हमारी रक्षा करिये कृपालु ! अब हम क्या करें ? कहाँ रहें ?" ग्राम्यजनों की करुण कहानी सुन कर सम्राट को खेद हुआ। उन्होंने अपने पौत्र भगीरथ को बुलाया और कहा—"वत्स ! तुम जाओ और दण्ड-रत्न से गंगा के प्रवाह को आकर्षित कर के पूर्व के समुद्र में मिला दो। जब तक पानी को रास्ता नहीं बताया जाता, तब तक वह अन्धे के समान इधर-उधर भटक कर जीवों के लिए दुःखदायक बनता रहता है। जाओ, शीघ्र जाओ और इन दुखियों का दुःख दूर करो।" भगीरथ गया। उसने तेले का तप कर के 'ज्वलनप्रभः' नामक नागकुमारों के अधिपति का आराधन किया और उसकी आज्ञा ले कर दण्ड-रत्न के प्रयोग से गंगा के लिए मार्ग करता हुआ चला। आगे-आगे भगीरथ और पीछे बहती हुई गंगा। वह कुरुदेश के मध्य में से ले कर हस्तिनापुर के दक्षिण से, कोशलदेश के पश्चिम से, प्रयाग के उत्तर से, काशी के दक्षिण में, विंध्याचल के दक्षिण में और अंग तथा मगध देश के उत्तर की ओर हो कर गंगा को ले चला। मार्ग में आती हुई छोटी-बड़ी नदियाँ भी उसमें मिलती गईं। अंत में उसे पूर्व के समुद्र में मिला दी गई। उसी समय से वहाँ 'गंगासागर' नामक तीर्थ हुआ। भगीरथ के द्वारा खिंची जाने के कारण गंगा का तीसरा नाम 'भागीरथी' हुआ।

गंगा को समुद्र की ओर लाते हुए मार्ग में सर्पों के निवास-स्थान टूटे, उन्हें त्रास हुआ। वहाँ भगीरथ ने नागदेव को बलिदान दिया। भगीरथ ने ज्वलनप्रभः के कोप से भस्म हुए सगरपुत्रों को

पौत्र भगीरथ का राज्याभिषेक किया। इतने में उद्यान पालक ने तीर्थंकर भगवान् अजितनाथजी के शुभागमन की बधाई दी। महाराज, भगवंत को वंदन करने गये और भगवान् की धर्मदेशना सुन कर प्रव्रज्या प्रदान करने की प्रार्थना की। भगीरथ ने सगर महाराज का अभिनिष्क्रमण महोत्सव किया। सगर महाराज सर्वत्यागी निर्ग्रंथ हो गए। आपके साथ अनेक सामन्तों और मन्त्रियों ने भी दीक्षा ली। दीक्षा लेने के बाद सम्राट ज्ञानाभ्यास एवं संयम की साधना में तत्पर हो गए। संसार में राज्य-साधना में अग्रसर हुए थे, तो दीक्षा

अस्थियाँ भी गंगा के साथ समुद्र में प्रक्षिप्त की। भगीरथ ने अपने पितृओं की अस्थियाँ जल में डाली। उसका अनुकरण लोग अब तक करते हैं।

(वैदिक सम्प्रदाय भी गंगा को 'भागीरथी' के नाम से पुकारता है। उनका कहना है कि राजा दिलीप का पुत्र भगीरथ, घोर तपस्या कर के गंगा को आकाश से उतार कर पृथ्वी पर लाये, इसी से यह 'भागीरथी' कहलाई)

भगीरथ वापिस लौट रहा था। रास्ते में उसे केवलज्ञानी भगवंत के दर्शन हुए। उसने अपने पिता, काका आदि के एक साथ भस्म हो जाने का कारण पूछा। केवली भगवान् ने कहा—'एक संघ तीर्थयात्रा करने जा रहा था। वह चोरपल्ली के पास पहुँच कर वहीं ठहर गया। ऋद्धि-सम्पन्न संघ को देख कर ग्रामवासी चोर लोग खुश हुए। उन्होंने उसे लूटने का विचार किया। किंतु एक कुंभकार ने उन्हें समझाया कि यह तो धर्मसंघ है। इसे सताना अच्छा नहीं है। कुम्हार के समझाने से संघ सुरक्षित रहा। कालान्तर में राजा ने कुपित हो कर चोरपल्ली को ही जला डाला। वहाँ के निवासी सभी जल मरे, केवल वह कुंभकार ही--अन्यत्र चला गया था, सो बच गया। कुंभकार आयुष्य पूर्ण होने पर विराट देश में एक धनाढ्य व्यापारी हुआ और ग्रामवासी चोर वहाँ के साधारण मनुष्य हुए। कुंभकार का जीव वहाँ से मर कर उसी देश का राजा हुआ। वहाँ से मर कर ऋद्धिवंत देव हुआ और देवभव पूर्ण कर के तुम भगीरथ के रूप में जन्मे। वे ग्रामवासी भवान्तर में तुम्हारे पिता और काका हुए। उन्होंने मन से ही संघ का विनाश चाहा था, उस पाप से वे सभी एक साथ भस्मीभूत हो गए। तुमने चोरों को समझा कर संघ को बचाया, इसलिए तुम वहाँ भी बचे और यहाँ भी उस विनाश से बचे। यह सुन कर भगीरथ विरक्त हुआ, किंतु पितामह की शोक-संतप्त स्थिति देख कर—'उन्हें दुःख नहीं हो'--यह सोच कर वह दीक्षित नहीं हो कर स्वस्थान चला आया।

× × × ×

साठ हजार पुत्रों की उत्पत्ति के विषय में भी मतभेद है। एक मत तो यह है कि इनकी माता भिन्न-भिन्न थीं, किंतु दूसरा मत है कि इन सभी की एक ही माता थी। 'भोजचरित्र' के अनुसार एक देव ने चक्रवर्ती को एक फल दिया। उस फल के टुकड़े सभी रानियों में बाँटे जाते, तो सभी को पुत्र होते, किंतु पटरानी ने पाटवी पुत्र की माता बनने के लोभ में पूरा फल खा लिया। उसे गर्भ रहा और कीड़े-मकोड़े जैसे साठ हजार पुत्र उसके गर्भ से जन्मे। उन्हें घृत और रुई में रख कर पालन किया गया।

लेते ही धर्मराज्य—आत्मलक्ष्मी साधने में तत्पर हो गए और संयम तथा तप के प्रवल पराक्रम से घातिकर्मों को सर्वथा नष्ट कर के सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् बन गए।

भगवान् का निर्वाण

भगवान् श्री अजितनाथजी के ९५ गणधर हुए। मुनिवर एक लाख, महासती मंडल तीन लाख तीस हजार, ३०५० चौदह पूर्वधारी, १४५० मन:पर्यवज्ञानी, ९४०० अवधि-ज्ञानी, २३००० केवलज्ञानी, ३२४०० वादी, २०४०० वैक्रिय लब्धिधारी, २९८००० श्रावक और ५४५००० श्राविकाएँ थीं। दीक्षा के बाद एक पूर्वांग कम लाख पूर्व व्यतीत होते, अपना निर्वाण काल उपस्थित जान कर प्रभु समेदशिखर पर्वत पर चढ़े। उन्होंने एक हजार श्रमणों के साथ पादपोपगमन अनशन किया। एक मास का अनशन पूर्ण कर के चैत्र-शुक्ला पञ्चमी के दिन मृगशिर नक्षत्र में चन्द्रमा आने पर, पर्यङ्कासन से प्रभु अपना वहत्तर लाख पूर्व आयु पूर्ण होते मोक्ष पधारे। इन्द्रों ने प्रभु का निर्वाण उत्सव किया।

भगवान् श्री अजितनाथ स्वामी अठारह लाख पूर्व तक कुमार अवस्था में रहे। तिरपन लाख पूर्व और एक पूर्वांग तक राज किया। बारह वर्ष छद्मस्थ रहे और एक पूर्वांग तथा बारह वर्ष कम एक पूर्व तक केवलज्ञानी तीर्थंकर पद का पालन कर मोक्ष पधारे।

दूसरे तीर्थंकर

भगवान्

॥ अजितनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

भ० संभवनाथजी

—: ꙮ : -

त्रैलोक्यप्रभवे पुण्य, संभवाय भवच्छिदे ।
श्रीसंभवजिनेन्द्राय मनोभवभिदे नमः ॥१॥

जो तीन लोक के नाथ हैं, जिनका जन्म पवित्र है, जो संसार का छेदन और कर्म का भेदन करने वाले हैं, ऐसे जिनेश्वर भगवान् श्री संभवनाथ को नमस्कार कर के भवचक्र का भेदन करने वाला भगवान् का जीवन-चरित्र प्रारम्भ किया जाता है।

धातकीखंड द्वीप के ऐरावत क्षेत्र में क्षेमपुरी नाम की एक प्रसिद्ध नगरी थी। वहाँ का विपुल वाहन नाम का तेजस्वी एवं पराक्रमी राजा था। वह प्रजा का पुत्रवत् पालन करता था। वह राजा ऐसा नीतिवंत था कि अपने खुद के किसी दोष को भी दूसरे के दोष की तरह सूक्ष्म दृष्टि से देखता और उसे दूर किये बिना चैन नहीं लेता था। वह अपराध का दण्ड और गुणों की पूजा उचित रूप से करता था। उसके मन में जिनभक्ति का स्थायी निवास हो गया था। उसकी वाणी में जिनेश्वर एवं उनके शासन की प्रशंसा होती रहती थी। वह झुकता था तो जिनेश्वर देव और निर्ग्रंथ गुरु के चरणों में ही, शेष सभी उसके आगे झुकते थे। वह परम उदार था। उसके राज्य में सभी सुखी और समृद्ध थे।

भयंकर दुष्काल में संघ-सेवा

राजा नीतिपूर्वक राज कर रहा था। कालान्तर में अशुभ कर्म के उदय से राज्य

में दुष्काल पड़ गया। वर्षा के अभाव में वर्षाकाल भी दूसरा ग्रीष्मकाल बन गया था। नैऋत्यकोण के भयंकर वायु से रहेसहे पानी का शोषण और वृक्षों का उच्छेद होने लगा। सूर्य कांसे की थाली जैसा लगता था और लोग धान्य के अभाव में तापसों की तरह वृक्ष की छाल, कन्द, मूल और फल खा कर जीवन बिताने लगे। उस समय लोगों की भूख भी भस्मक व्याधि के समान जोरदार हो गई थी। उनको पर्याप्त खुराक मिलने पर भी तृप्ति नहीं होती थी। जो लोग भीख माँगना लज्जाजनक मानते थे, वे भी दंभपूर्वक साधु का वेश बना कर भिक्षा के लिए भ्रमण करने लगे। माता-पिता भूख के मारे अपने बच्चों को भी छोड़ कर इधर-उधर भटकने लगे। यदि कभी अन्न मिल जाता, तो अपना ही पेट भरने की रुचि रखते। माताएँ थोड़े से—आधसेर धान के लिए अपने पुत्र-पुत्री बेचने लगी। धनवानों के द्वार पर बिखरे हुए धान्य के दानों को गरीब मनुष्य पक्षी की तरह एक-एक दाना बिन कर खाने लगे। यदि दिनभर में उन्हें आधी रोटी जितना भी मिल जाता, तो वह दिन अच्छा माना जाता। मनुष्यों के भटकते हुए दुर्बल कंकालों से नगर के प्रमुख बाजार और मार्ग भी श्मशान जैसे लग रहे थे। उनका कोलाहल कर्णशूल जैसा लग रहा था।

ऐसे भयंकर दुष्काल को देख कर राजा बहुत चिंतित हुआ। उसे प्रजा को दुष्काल की भयंकर ज्वाला से बचाने का कोई साधन दिखाई नहीं दिया। उसने सोचा—'यदि मेरे पास जितना धान्य है, वह सभी बाँट दूँ, तो भी प्रजा की एक समय की भूख भी नहीं मिटा सकता। इसलिए इस सामग्री का सदुपयोग कैसे हो ? उसने विचार कर के निश्चय किया कि प्रजा में भी साधर्मी, अधिक गुणवान् एवं प्रशस्त होते हैं और साधर्मी से साधु विशेष रक्षणीय होते हैं। मेरी सामग्री से संघ रक्षा हो सकती है। उसने अपने रसोइये को बुला कर कहा—

"तुम मेरे लिए जो भोजन बनाते हो, वह साधु-साध्वियों को वहराया जावे और अन्य आहार, संघ के सदस्यों को दिया जावे। इसमें से बचा हुआ आहार मैं काम में लूँगा।"

राजा इस प्रकार चतुर्विध संघ की वैयावृत्य करने लगा। वह स्वयं उल्लासपूर्वक सेवा करने लगा। जब तक दुष्काल रहा, तब तक इसी प्रकार सेवा करता रहा। संघ की वैयावृत्य करते हुए भावों के उल्लास में राजा ने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया।

एक दिन राजा आकाश में छाई हुई काली घटा देख रहा था। बिजलियाँ चमक रही थी। लग रहा था कि घनघोर वर्षा होने ही वाली है, किन्तु अकस्मात् प्रचण्ड वायु चला और नभ-मण्डल में छाये हुए बादल, टुकड़े-टुकड़े हो कर बिखर गए। क्षणभर में

वादलों का नभ-मण्डल में छा जाना और क्षणभर में बिखर जाना देख कर राजा विचार में पड़ गया। उसने सोचा—

"अहो ! यह कैसी विडम्बना है ? सघन मेघ को न तो व्यापक रूप से आकाश मण्डल पर अधिकार जमाते देर लगी और न बिखर कर छिन्न-भिन्न होते देर लगी। इसी प्रकार इस संसार में सभी प्रकार की पौद्गलिक वस्तुएँ भी नष्ट होने वाली है। मनुष्य अनेक प्रकार की योजनाएँ बनाता है। अनेक प्रकार की सामग्री संग्रह करता है, हँसता है, खेलता है, भोगोपभोग करता है और वैभव के मोह में रंगा जाता है, किन्तु जब प्रतिकूल दशा आती है, तो सारा वैभव लुप्त हो जाता है और दुःख में झुरता हुआ प्राणी, मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

कोई घोड़े पर चढ़ कर घमण्डपूर्वक इधर-उधर फिरता है, किन्तु जब अशुभ कर्म का उदय होता है, तो वह घोड़ा ही उसको नीचे पटक कर ठण्डा कर देता है। कई वैभव में रचे-मचे लोगों को चोर-डाकू, धन और प्राण लूट कर कुछ क्षणों में ही सारा दृश्य विगाड़ देते हैं। अग्नि से जल कर, पानी की बाढ़ में बह कर, दिवाल गिरने पर उसके नीचे दब कर, इस प्रकार विविध निमित्तों से नष्ट होने और मरने में देर ही कितनी लगती है। इस प्रकार नाशवान् संसार और प्रतिक्षण मृत्यु की ओर जाते हुए इस मानव जीवन पर मोह करना वड़ी भारी भूल है।

मनुष्य सोचता है—मैं भव्य भवन बनाऊँ। उच्चकोटि के वाहन, शयन, आसन और शृंगार प्रसाधनों का संग्रह करूँ। मनोहर गान, वादिन्त्र, नृत्य, नाटक और रमणियों को प्राप्त कर सुखोपभोग करूँ। मैं महान् सत्ताधारी बनूं। वह इस प्रकार की उधेड़बुन में ही रहता है और अचानक काल के झपाटे में आ कर मर जाता है। इस प्रकार विडम्बना से भरे इस संसार में तो क्षणभर भी नहीं रहना चाहिए।"

इस प्रकार सोचते हुए राजा विरक्त हो गया। अपने पुत्र विमलकीर्ति को राज्याधिकार सौंप कर आचार्य श्रीस्वयंभवस्वामी के समीप दीक्षित हो गया। प्रव्रज्या स्वीकार करने के बाद मुनिराज, पूर्ण उत्साह के साथ साधना करने लगे। परिणामों की उच्चता से तीर्थंकर नामकर्म को पुष्ट किया और समाधिपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर के 'आनत' नामक नौवें स्वर्ग में उत्पन्न हुए। स्वर्ग के सुख भोग कर, आयुष्य पूर्ण होने पर श्रावस्ति नगरी के 'जितारि' नाम के प्रतापी नरेश की 'सेनादेवी' नामकी महारानी की कुक्षि में उत्पन्न हुए। महास्वप्न और उत्सवादि, तीर्थंकर के गर्भ एवं जन्म-कल्याणक के अनुसार हुए +।

+ इसका वर्णन भ० आदिनाथ के चरित्र पृ. ३६ में हुआ है। वहाँ देखना चाहिए।

भगवान् का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला १४ को हुआ। प्रभु का शरीर चार सौ धनुप ऊँचा था। युवावस्था में लग्न हुए। पन्द्रह लाख पूर्व तक कुमार, युवराज पद पर रहे। पिता ने प्रभु को राज्याधिकार दे कर प्रव्रज्या ले ली। प्रभु ने चार पूर्वांग और ४४ लाख पूर्व की उम्र होने पर वर्षीदान दे कर मार्गशीर्ष शुक्ला पूर्णिमा को प्रव्रज्या स्वीकार कर ली। प्रभु चौदह वर्ष तक छद्मस्थ रहे। कार्तिक कृष्णा पंचमी के दिन वेले के तप युक्त प्रभु के घातिकर्म नष्ट हो गए और केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हो गया। प्रभु ने चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की।

धर्मदेशना

अनित्य भावना

"इस संसार में सभी वस्तुएँ अनित्य—नाशवान् हैं, फिर भी उनकी प्राथमिक मधुरता के कारण जीव उन वस्तुओं में मूच्छित हो रहे हैं। संसार में जीवों को अपने आप से, दूसरों की ओर से और चारों ओर से विपत्ति आती रहती है। जीव, यमराज के दाँत रूप काल के जबड़े में रहे हुए, कितने कष्ट से जी रहे हैं, फिर भी नहीं समझते।

अनित्यता, वज्र जैसे दृढ़ और कठोर देह को भी जर्जरित कर के नष्ट कर देती है, तब कदली के गर्भ के समान कोमल देह का तो कहना ही क्या है? यदि कोई व्यक्ति इस निःसार एवं नाशवान् शरीर को स्थिर करना चाहे, तो उसका प्रयत्न सड़े हुए घास से बनाये हुए नकली मनुष्य ‡ जैसा है, जो हवा और वर्षा के वेग से नष्ट हो जाता है। कालरूपी सिंह के मुख के समान गुफा में रहने वाले प्राणियों की रक्षा कौन कर सकता है? मन्त्र-तन्त्र, औषधी, देव-दानव आदि सभी शक्तियाँ काल के सामने निष्क्रिय हैं—विवश हैं। मनुष्य ज्यों-ज्यों आयु से बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसे जरावस्था (बुढ़ापा) घेरती रहती है और उसके लिए मौत की तय्यारी होती रहती है। अहो! प्राणियों के जन्म को धिक्कार है। जिस जन्म के साथ ही मृत्यु का महा भय लगा हुआ है, वह प्रशंसनीय नहीं होता।"

"मेरा शरीर कालरूपी विकराल यमराज के अधीन रहा हुआ है। न जाने कब वह इसे नष्ट कर दे"—इस प्रकार समझ लेने पर किसी भी प्राणी को खान-पान में आनन्द नहीं रहता, फिर पाप-कर्म में तो रुचि हो ही कैसे? जिस प्रकार पानी में परपोटा उत्पन्न

‡ खेती की रक्षा के हेतु पशु-पक्षी को डराने के लिए, किसान लोग ऐसा नकली मनुष्य बनाते हैं।

हो कर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार प्राणियों के शरीर भी उत्पन्न हो कर नष्ट हो जाते हैं। काल का स्वभाव ही नष्ट करने का है। वह धनाढच या निर्धन, राजा या रंक, समझदार या मूर्ख, ज्ञानी या अज्ञानी और सज्जन अथवा दुर्जन का भेद नहीं रखते हुए सब का समान रूप से संहार करता रहता है। काल का गुणी के प्रति अनुराग और दुर्गुणी के प्रति द्वेष नहीं है। जिस प्रकार दावानल, बड़े भारी अरण्य को, हरे, सूखे, अच्छे, बुरे और सफल-निष्फल आदि का भेद रखे बिना अपनी लपट में आने वाले सभी को भस्म कर देता है, उसी प्रकार काल भी सभी प्राणियों का संहार किया करता है। किसी कुशास्त्र ने यह लिख भी दिया हो कि—'किसी उपाय से यह शरीर स्थायी—अमर रहता है,' तो ऐसी शंका को मन में स्थान ही नहीं देना चाहिए। जो देवेन्द्रादि सुमेरु पर्वत का दंड और पृथ्वी का छत्र बनाने में समर्थ हैं, वे भी मृत्यु से बचने में असमर्थ हैं। उनका शक्तिशाली शरीर भी यथासमय अपने-आप काल के गाल में चला जाता है। छोटे-से कीड़े से लगा कर महान् इन्द्र पर यमराज का शासन समान रूप से चल रहा है। ऐसी स्थिति में काल को भुलावा देने की बात, कोई सुज्ञ प्राणी तो सोच ही नहीं सकता। यदि किसी ने अपने पूर्वजों में से किसी को भी अमर रूप में जीवित देखा हो, तब तो काल को ठग लेने (भुलावा देने) की बात (न्याय मार्ग से विपरीत होते हुए भी) शंकास्पद होती है, किंतु ऐसा तो दिखाई नहीं देता। अतएव सभी शरीरधारियों के लिए मृत्यु अनिवार्य है।

वृद्धावस्था, बल और रूप का हरण करती है और शिथिलता ला देती है। बल, सौन्दर्य और यौवन, ये सभी अनित्य हैं। जो कामिनियाँ, कामदेव की लीला के वश हो कर यौवनवय में जिन पुरुषों की ओर आकर्षित होती थी और उनका सम्पर्क चाहती थी, वे ही उन्हीं पुरुषों को वृद्धावस्था में देख कर घृणा करती हुई त्याग देती है। फिर उनका अस्तित्व भी उन्हें नहीं सुहाता। तात्पर्य यह कि शारीरिक शक्ति, सामर्थ्य, रूप, सौन्दर्य और यौवन भी अनित्य है। वृद्धावस्था इन सब को बिगाड़ देती है।

जिस धन को अनेक आपत्तियों, क्लेशों और कष्टों को सहन कर के जोड़ा गया और बिना उपभोग किये सुरक्षित रखा गया, धनवानों का वह प्रिय धन भी अचानक क्षणभर में नष्ट हो जाता है। इस प्रकार अग्नि, पानी आदि अनेक कारणों से, वर्षों के परिश्रम और दुःखों से जोड़ा गया धन भी नष्ट हो जाता है। अतएव वह भी पानी के बुलबुले और समुद्र के फेन के समान अनित्य है।

पत्नी पुत्र और बान्धवादि कुटुम्बियों तथा मित्रों का कितना ही उपकार किया

जाय, कितना ही गहरा संबंध रखा जाय और उस सहयोग को कितना ही दृढ़ बनाया जाय, किंतु वह अवश्य ही टूटने वाला है। सभी प्रकार के कौटुम्बिक संयोगों का वियोग अवश्य होता है।

जो भव्यात्मा सदा अनित्यता का ध्यान करते रहते हैं, वे अपने परम प्रिय पुत्र के वियोग से भी शोक नहीं करते, और जो मोहमूढ़ प्राणी, नित्यता का आग्रह करते हैं, वे अपने घर की एक भींत के गिर जाने से भी रुदन करने लगते हैं। शरीर, यौवन, धन एवं कुटुम्ब आदि ही अनित्य है—ऐसी बात नहीं है, यह समस्त सचराचर संसार ही अनित्य है।

इस प्रकार सभी को अनित्य जान कर, आत्मार्थीजनों को चाहिए कि परिग्रह का त्याग कर के नित्यानन्दमय परम पद (मोक्ष) प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

"यत्प्रातस्तन्न मध्यान्हे, यन्मध्यान्हे नतन्निशि।
निरीक्ष्यते भवेऽस्मिन् हा, पदार्थानामनित्यता ॥१॥
शरीरं देहिनां सर्व, पुरुषार्थानिबंधनम्।
प्रचंडपवनोद्धूत, घनाघन विनश्वरम् ॥२॥
कल्लोलचपला लक्ष्मीः, संगमाः स्वप्नसंनिभा।
वात्याव्यतिकरोत्क्षिप्त, तूलतुल्यं च यौवनम् ॥३॥
इत्यनित्यं जगद्वृत्तं, स्थिरचित्तः प्रतिक्षणम्।
तृष्णाकृष्णाहि मन्त्राय, निर्ममत्वाय चिन्तयेत् ॥४॥ *

—जिस वस्तु की जो स्थिति एवं सुन्दरता प्रातःकाल में होती है, वह मध्यान्ह में नहीं रहती और जो मध्यान्ह में होती है, वह रात्रि में नहीं दिखाई देती। इस प्रकार इस संसार में सभी पदार्थों की अनित्यता दिखाई देती है। प्राणियों के लिए जो शरीर, सभी प्रकार के पुरुषार्थ की सिद्धि का कारण है, वह भी इस प्रकार

९६०० अवधिज्ञानी, १२१५० मनःपर्यवज्ञानी, १५००० केवलज्ञानी, १९८०० वैक्रिय-लब्धि-धारी, १२००० वादी, २९३००० श्रावक तथा ६३६००० श्राविकाएँ हुई।

भगवान् ने केवलज्ञान होने के बाद चार पूर्वांग और चौदह वर्ष कम एक लाख पूर्व तक तीर्थंकर पद पालन कर के एक हजार मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर, चैत्र-शुक्ला ५ के दिन मोक्ष प्राप्त किया। भगवान् का कुल आयुष्य साठ लाख पूर्व का रहा।

तीसरे तीर्थंकर

भगवान्

॥ संभवनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

भ० अभिनन्दनजी

—:※:—

जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह में 'मंगलावती' नाम का एक विजय है, उसमें 'रत्नसंचया' नाम की नगरी थी। 'महावल' नाम का महा पराक्रमी राजा वहाँ राज करता था। वह वल और पराक्रम से भरपूर था और दृष्टि, विवेक तथा आत्म-जाग्रति से भी भरपूर था। दान, शील, तप और भाव में वह सदा तत्पर रहता था। कालान्तर में राजा, संसार का त्याग कर, महामुनि विमलचन्द्रजी के सर्वत्यागी निर्ग्रंथ शिष्य बन गये और निर्ग्रंथ धर्म की साधना करते हुए आत्मा की उन्नति करने लगे। उनकी मनोवृत्ति संसार से एकदम विपरीत थी। यदि कोई उनका आदर-सत्कार करता, तो वे खेदित हो कर विचार करते कि "मुझ जैसे साधारण जीव में सन्मान के योग्य ऐसा है ही क्या ? मैं अयोग्य हूँ, फिर भी ये मेरा आदर करते हैं—यह मेरे लिए लज्जा की बात है।" यदि कोई उनका तिरस्कार करता, कष्ट पहुँचाता, तो वे प्रसन्न होते और सोचते—"ये मेरे हितैषी हैं। साधना में सहायक बन रहे हैं। ऐसे अवसर ही साधना में विशेष सहयोगी होते हैं।" उन्होंने उग्र तप आदि से तीर्थंकर नाम-कर्म निकाचित किया और दीर्घ काल तक संयम पाल कर 'विजय' नाम के अनुत्तर विमान में देवरूप में उत्पन्न हुए।

इस भरत-क्षेत्र में 'अयोध्या' नाम की नगरी थी। उसमें 'संवर' नाम का राजा राज करता था। उसकी रानी का नाम 'सिद्धार्था' था। विजयविमान की उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम प्रमाण आयु पूर्ण कर, महावल मुनि का जीव रानी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। माता ने चौदह स्वप्न देखे। माघ-शुक्ला द्वितीया को जन्म हुआ। जन्मोत्सव आदि हुए।

प्रभु के गर्भ में आने पर राज्य और नगर में सर्वत्र अभिनन्द (आनन्द) व्याप्त हो गया, इससे आपका नाम 'अभिनन्दन' दिया गया। साढ़े बारह लाख पूर्व तक आप राजकुमार रहे। इसके बाद पिता ने आपका राज्याभिषेक कर के सर्वविरति स्वीकार कर ली। इस प्रकार आपने छत्तीस लाख पूर्व और आठ पूर्वांग व्यतीत किया। इसके बाद वर्षीदान दे कर माघ शु. १२ के दिन अभिचि नक्षत्र में, बेले के तप से संसार का त्याग कर दिया। प्रव्रज्या लेते ही आप को मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हो गया। आपके साथ अन्य एक हजार राजा भी दीक्षित हुए। प्रभु अठारह वर्ष छद्मस्थ अवस्था में रहे और पौष-शुक्ला १४ को अभिचि नक्षत्र में ही केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर के तीर्थ की स्थापना की। आपने प्रथम धर्म-देशना इस प्रकार दी।

धर्मदेशना

अशरण भावना

"यह संसार अनेक प्रकार के दुःख, शोक, संकट एवं विपत्ति की खान है। इस खान में पड़ते हुए मनुष्य को बचाने में कोई भी शक्ति समर्थ नहीं है। माता, पिता, बन्धु, पुत्र, पति, पत्नी और मित्रादि स्वजन-परिजन कोई भी रोग के आक्रमण से होते हुए कष्ट से भी नहीं बचा सकते, तब मौत से तो कैसे बचावेंगे? इन्द्र और अहमेन्द्रादि जैसे महान् बलशाली भी मृत्यु के झपाटे में पड़ जाते हैं। उन्हें मृत्यु के मुख से बचाने वाला—काल का भी काल ऐसा कौन-सा आश्रय है? अर्थात् कोई नहीं है।

मृत्यु के समक्ष माता, पिता, भाई, भगिनी, पुत्र, पत्नी आदि सभी देखते ही रह जाते हैं। उसे बचाने की शक्ति किसी में नहीं होती। उस निराधार प्राणी को कर्म के अधीन हो कर अकेला जाना ही पड़ता है। इस प्रकार मृत्यु पाते हुए जीव के मोहमूढ़ सम्बन्धीजन विलाप करते हैं। उन्हें स्वजन के मर जाने का दुःख तो होता है, किन्तु वे यह विचार नहीं करते कि—'मैं स्वयं भी अशरणभूत हूँ। मेरा रक्षक भी कोई नहीं है। मुझे भी इसी प्रकार मरना पड़ेगा।' जिस प्रकार महा भयंकर वन में चारों ओर उग्र दावानल जल रहा हो, उसकी लपटें बहुत ऊँची उठ रही हों, जिसमें गजराज जैसे बड़े प्राणी भी नहीं बच सकते, तब बिचारे मृग के छोटे बच्चे की तो बात ही क्या है? उसी प्रकार मौत की महाज्वाला में जलते हुए संसार में, प्राणी का रक्षक कोई नहीं है।

मनुष्य के भयंकर रोगों को दूर करने की शक्ति धराने वाले, अष्टांग आयुर्वेद, संजीवनी औषधियें और महामृत्युंजयादि मन्त्र भी मृत्यु से नहीं छुड़ा सकते। चारों ओर शस्त्रास्त्रों की वाड़ लगा दी गई हो और योद्धाओं की सेना, तत्परता के साथ अपने महा-राजाधिराज की रक्षा के लिए जी-जान से जुट गई हो, ऐसे सुदृढ़ प्रवन्ध की भी उपेक्षा कर के विकराल काल, आत्मा को पकड़ कर ले जाता है और सारी व्यवस्था व्यर्थ हो जाती है।

जिस प्रकार पशु-वर्ग, मृत्यु से वचने का उपाय नहीं जानता, उसी प्रकार महान् बुद्धि का धनी मनुष्य-वर्ग भी नहीं जानता। यह कैसी मूर्खता है? जो एक खड्ग के साधन मात्र से पृथ्वी को निष्कंटक करने की शक्ति रखते हैं, वे भी यमराज की भृकुटी से भयभीत हो कर दसों अंगुलियें मुँह में रखते हैं। यह कैसी विचित्र वात है?

पाप का सर्वथा त्याग कर के जिन्होंने निष्पाप जीवन अपनाया, ऐसे मुनियों के, तलवार की धार पर चलने जैसे महान् व्रत भी मृत्यु को नहीं टाल सके, तो शरण-रहित, पालक एवं नायक से रहित और निरुपाय ऐसा यह संसार, यमराज (मृत्यु) रूपी राक्षस के द्वारा भक्षण होते हुए कैसे वच सकता है? एक धर्म रूपी उपाय, जन्म को तो नष्ट कर सकता है, परन्तु मृत्यु को नहीं रोक सकता। जन्म की जड़ को नष्ट करने के बाद भी प्राप्त जन्म से तो मरण होता ही है। किन्तु वह मरण, अन्तिम होता है। इसके साथ ही आत्मा स्वयं मृत्युंजय वन जाता है। मौत की जड़, जन्म के साथ ही लगी हुई है। यदि जन्म होना रुक जाय, तो मृत्यु अपने-आप रुक जाती है। आयुष्य के वन्ध के साथ ही अन्त निश्चित् हो जाता है, इसलिए धर्म रूपी शुभ उपाय अवश्य करना चाहिए। जिससे मृत्यु हो, तो भी दुर्गति नहीं हो कर शुभ-गति हो।

मृत्युंजय वनने के लिए प्रत्येक आत्मार्थी को निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या रूपी प्रवल उपाय कर के, अक्षय सुख के भण्डार ऐसे मोक्ष को प्राप्त करना चाहिए। इस महा उपाय से वह स्वयं अपना रक्षक वन जाता है और दूसरों के लिए भी अपना आदर्श रख कर शरणभूत वनता है।

"इन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्येते यन्मृत्योर्याति गोचरं। अहो तदंतकातंके कः शरण्य शरीरिणां ॥१॥
पितुर्मातुः स्वसुर्भ्रातुस्तनयानां च पश्यतां। अत्राणो नीयते जंतुः कर्मभिर्यम सद्मनि ॥२॥
शोचंते स्वजनानंतं नीयमानान् स्वकर्मभिः। नेष्यमाणं तु शोचंति नात्मानं मूढबुद्धयः ॥३॥
संसारे दुःखदावाग्निज्वलज्ज्वालाकरालिते। वने मृगार्भकस्येव शरणं नास्ति देहिनः ॥४॥"

—अहो ! इन्द्र और उपेन्द्र × वासुदेवादि भी मृत्यु के अधीन हो जाते हैं, तो मृत्यु रूपी महा भय के उत्पन्न होने पर इन पामर प्राणियों के लिए कौन शरणभूत होगा ? माता, पिता, बहिन, भ्राता एवं पुत्रादि के देखते ही प्राणी को उसके कर्म, यमराज के घर की ओर (चारों गति में) ले जाते हैं। अपने कर्मों से ही मृत्यु का ग्रास बनते हुए, अपने प्रिय सम्बन्धी को देख कर मोहमूढ़ प्राणी रोते हैं, शोक करते हैं। किन्तु यह नहीं सोचते कि थोड़े समय के बाद मेरी भी यही दशा होगी। मुझे भी मौत के मुँह में जाना पड़ेगा।

दुःख रूपी दावानल की उठती हुई प्रबल ज्वालाओं से भयंकर बने हुए इस संसार रूपी महा वन में, मृग के बच्चों के समान प्राणियों के लिए धर्म के अतिरिक्त कोई भी शरणभूत नहीं है।"

भ० अभिनंदन स्वामी के 'वज्रनाभ' आदि ११६ गणधर हुए। तीन लाख साधु, छः लाख तीस हजार साध्वियें, ९८०० अवधिज्ञानी, १५०० चौदह पूर्वी, ११६५० मनःपर्यवज्ञानी, ११००० वादलब्धि वाले, २८८००० श्रावक और ५२७००० श्राविकाएँ, प्रभु के धर्म-तीर्थ में हुए। केवलज्ञान और तीर्थ स्थापना के बाद आठ पूर्वांग और अठारह वर्ष कम लाख पूर्व व्यतीत हुए, तब एक मास के अनशन से समेदशिखर पर्वत पर वैशाख-शुक्ला अष्टमी को पुष्य नक्षत्र में सिद्ध हुए और शाश्वत स्थान को प्राप्त कर लिया। देवों और इन्द्रों ने प्रभु का निर्वाण उत्सव मनाया।

चौथे तीर्थंकर

भगवान्

॥ अभिनन्दनजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

× जैन साहित्य में 'उपेन्द्र' पद का उल्लेख अन्यत्र देखने में नहीं आया। कोषकारों ने 'उपेन्द्र' शब्द का अर्थ 'वामन अवतारी विष्णु' दिया है।

भ० सुमतिनाथजी
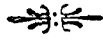
जम्बूद्वीप के पुष्कलावती विजय में शंखपुर नाम का नगर था। विजयसेन राजा और सुदर्शना रानी थी। एक बार किसी उत्सव के प्रसंग पर सभी नगरजन उद्यान में क्रीड़ा करने गये। रानी भी अपनी ऋद्धि सहित हथिनी पर सवार हो कर और छत्र-चँवरयुक्त उद्यान में पहुँची। वहाँ उसने सुन्दर और अलंकृत आठ स्त्रियों के साथ आई हुई एक ऐसी स्त्री देखी, जो अप्सराओं के बीच इन्द्रानी जैसी सुशोभित हो रही थी। रानी उसे देख कर विस्मित हुई। उसे विचार हुआ—"यह स्त्री कौन है ? इसके साथ ये आठ सुन्दरियाँ कौन है ?" यह जानने के लिए उसने अपने नाजर को पता लगाने की आज्ञा दी। उसने लौट कर कहा—'वह भद्र महिला यहाँ के प्रतिष्ठित सेठ नन्दीषेण की सुलक्षणा नाम की पत्नी है और आठ स्त्रियाँ उसके दो पुत्रों की (प्रत्येक की चार-चार) पत्नियाँ है। ये अपनी सास की सेवा दासी के समान करती है।" यह सुन कर रानी को विचार हुआ—'यह स्त्री धन्य है, सौभाग्यवती है कि जिसे पुत्र और उसकी देवांगना जैसी बहुएँ प्राप्त हुई है और वे इसकी सेवा में रत हैं। मैं कितनी हतभागिनी हूँ कि मुझे न तो पुत्र है, न बहू। यद्यपि मैं अपने पति के हृदय के समान हूँ, फिर भी मैं पुत्र और पुत्रवधू के सुख से वंचित हूँ'—इस प्रकार चिन्तामग्न रानी भवन में लौट आई। उसकी चिन्ता का कारण जान कर राजा ने उसे सान्त्वना दी और कुलदेवी की आराधना की। कुलदेवी ने प्रकट हो कर कहा—"एक महान् ऋद्धिशाली देव, रानी की कुक्षी में पुत्रपने आने वाला है।" राजा-रानी प्रसन्न हुए। रानी सिंह स्वप्न के साथ गर्भवती हुई। उसे सभी प्राणियों को अभयदान देने का दोहद हुआ। दोहद पूर्ण हुआ और यथावसर एक सुन्दर पुत्र का जन्म

हुआ। 'पुरुषसिंह' नाम दिया। यौवनवय में आठ राजकन्याओं के साथ लग्न हुए। एक बार उद्यान में क्रीड़ा करते हुए कुमार ने श्री विनयनन्दन मुनिराज को देखा और उनका उपदेश सुन कर विरक्त हुआ। माता-पिता की आज्ञा ले कर दीक्षित हुआ और उत्कृष्ट भावों से आराधना करते हुए तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध, दृढ़ीभूत कर लिया। फिर काल कर के वैजयंत नाम के अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए।

जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में विनिता नगरी में 'मेघरथ' राजा थे। उनकी रानी का नाम 'सुमंगलादेवी' था। पुरुषसिंह का जीव, वैजयंत विमान की ३३ सागरोपम की आयु पूर्ण कर के सुमंगलादेवी की कुक्षी में, श्रावण-शुक्ला द्वितीया को गर्भ रूप में उत्पन्न हुआ।

महारानी का न्याय

उस समय एक धनाढ्य व्यापारी अपनी दो पत्नियों को साथ ले कर व्यापार करने के लिए विदेश गया था। वहाँ एक स्त्री के पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र का पालन दोनों सपत्नियों ने किया। धनार्जन कर के वापिस घर आते समय रास्ते में ही वह व्यापारी मर गया। उसके धन का मालिक उसका पुत्र था। नपूती स्त्री ने सोचा—'यह पुत्र वाली है, इसलिए मालकिन यह हो जायगी और मेरी दुर्दशा हो जायगी।'' उसने कहा- "पुत्र मेरा है, तेरा नहीं है।" दोनों झगड़ती हुई विनिता नगरी में आई और नरेश के सामने अपना झगड़ा उपस्थित किया। राजा विचार में पड़ गया।

दोनों स्त्रियें वर्ण एवं आकृति में समान थीं और पुत्र छोटा था। वह बोल भी नहीं सकता था। यदि आकृति में विषमता होती, तो जिसकी आकृति से बच्चे की आकृति मिलती, या बच्चा स्वयं बोल कर अपनी जननी का परिचय देता, तो निर्णय का कुछ आधार मिलता। बच्चे को दोनों ने पाला था, इसलिए वह दोनों के पास जाता था। अब निर्णय हो भी तो किस आधार पर ?

नरेश और सभासद सभी उलझन में पड़ गए। समय हो जाने पर भी सभा विसर्जित नहीं हुई। भोजनादि का समय भी निकल गया। अंत में मन्त्रियों की सलाह से वाद को भविष्य में विचार करने के लिए छोड़ कर सभा विसर्जित की गई। राजा अन्तःपुर में गया। रानी ने विलम्ब का कारण पूछा। राजा ने विवाद की उलझन बताई। रानी भी उस विवाद को सुन कर प्रभावित हुई। गर्भ के प्रभाव से उसकी मति प्रेरित हुई। रानी ने कहा—

धर्मदेशना

एकत्व भावना

जिन भव्य प्राणियों में हिताहित और कार्याकार्य को समझने की योग्यता है, उन्हें कर्तव्य-पालन में उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि पुत्र, मित्र तथा स्त्री आदि से सम्बन्धित तथा स्वयं के शरीर सम्बन्धी जो भी क्रिया की जाती है, वह सब 'परक्रिया' है—दूसरों का कार्य है। स्वकार्य बिल्कुल नहीं है। क्योंकि अपनी आत्मा के अतिरिक्त सभी 'पर' हैं—दूसरे है। इन दूसरों का संयोग, उदय-भाव जन्य है, जिसका वियोग होता ही है जो वस्तु सदैव साथ रहे, वही स्व (अपनी) हो सकती है और जिसका कालान्तर में भी वियोग होता है, वह अवश्य पर है।

यह जीव अकेला जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। अपने संचित किये हुए कर्म का अनुभव भी अकेला ही करता है। एक द्वारा चोरी कर के लाया हुआ धन, सभी कुटुम्बी मिल कर खा जाते हैं, किन्तु चोरी का दण्ड तो चोरी करने वाला अकेला ही भुगतता है। उसे नरक गति में अपनी करणी का दुःखदायक फल भुगतना ही पड़ता है। उस समय खाने वाला कोई भी दुःख-भोग में साथी नहीं रहता। दुःख रूपी दावानल से भयंकर बने हुए और अत्यन्त विस्तार वाले, भव रूपी अरण्य में कर्म के वशीभूत हुआ प्राणी अकेला ही भटकता रहता है। उस समय उसके कुटुम्बी और प्रियजनों में से कोई एक भी सहायक नहीं होता।

यदि कोई अपने शरीर को ही सुख-दुःख का साथी मानता है, तो यह भी ठीक नहीं है। शरीर तो सुख-दुःख का अनुभव कराने वाला है। इसीके निमित्त से आत्मा दुःख भोगती है। रोग, जरा और मृत्यु शरीर में ही होते हैं। यदि शरीर नहीं हो, तो ये दुःख भी नहीं होते।

यदि शरीर को ही सदा का साथी माना जाय, तो यह भी उचित नहीं है। औदारिक और वैक्रिय शरीर तो जन्म के साथ बनता है और मृत्यु के साथ छूट जाता है। यह पूर्वभव से साथ नहीं आता, न अगले भव में साथ जाता है। पूर्वभव और पुनर्भव के मध्य के भव में आई हुई काया को सदा की साथी कैसे मानी जा सकती है?

यदि कहा जाय कि आत्मा के लिए धर्म अथवा अधर्म साथी है, तो यह भी सत्य नहीं है, क्योंकि धर्म और अधर्म की सहायता मोक्ष में कुछ भी नहीं है। इसलिए संसार में शुभ और अशुभ कर्म करता हुआ जीव, अकेला ही भटकता रहता है और अपने शुभाशुभ

कर्म के योग्य शुभाशुभ फल का अनुभव करता है। इसी प्रकार मोक्ष रूपी महाफल भी जीव अकेला ही प्राप्त करता है। पर के सम्बन्धों का आत्यन्तिक वियोग ही मोक्ष है। मोक्ष में मुक्त आत्मा अकेली ही अपने निज-स्वभाव में रहती है।

जिस प्रकार हाथ, पाँव, मुख और मस्तक आदि रस्सी से बाँध कर समुद्र में डाला हुआ मनुष्य, पार पहुँचने के योग्य नहीं रहता, किंतु खुले हाथ-पाँव वाला व्यक्ति तैर कर किनारे लग जाता है, उसी प्रकार कुटुम्ब, धन और देवादि में आसक्ति रूपी बन्धनों में जकड़ी हुई आत्मा, संसार-समुद्र का पार नहीं पा सकती और उसी में दुःखपूर्वक डूबती-उतराती रहती है। इसके विपरीत पर की आसक्ति से रहित, अकेली स्वतन्त्र—बन्ध रहित बनी हुई आत्मा, भव-समुद्र से पार हो जाती है। इसलिए सभी सांसारिक सम्बन्धों का त्याग कर के एकाकी भाव युक्त हो कर शाश्वत सुखमय मोक्ष के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

एक उत्पद्यते जंतुरेक एव विपद्यते।
कर्माण्यनुभवत्येकः प्रचितानि भवांतरे ॥१॥
अन्यैस्तेनार्जितं वित्तं, भूयः संभूय भुज्यते।
सत्वेको नरकक्रोडे, क्लिश्यते निजकर्मभिः ॥२॥

अर्थात्—यह जीव भवान्तर में अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है और अपने किये हुए कर्मों का फल—इस भव में या पर भव में—अकेला ही अनुभव करता है।

एक व्यक्ति के उपार्जन किये हुए द्रव्य का दूसरे अनेक मिल कर उपभोग करते हैं, किन्तु पाप-कर्म कर के धन का उपाजन करने वाला व्यक्ति, अपने कर्मों से नरक में जा कर अकेला ही दुःखी होता है। इसलिए एकत्व भावना का विचार कर के आत्महित साधना चाहिए।

प्रभु के 'चमर' आदि एक सौ गणधर हुए, ३२०००० साधु, ५३०००० साध्वियें, २४०० चौदहपूर्वी, ११००० अवधिज्ञानी, १०४५० मनःपर्यवज्ञानी, १३००० केवल ज्ञानी, १८४०० वैक्रिय लब्धिधारी, १०६५० वाद लब्धिधारी, २८१००० श्रावक और ५१६००० श्राविकाएँ हुईं।

केवलज्ञान होने के बाद भगवान् बीस वर्ष और बारह पूर्वांग कम एक लाख पूर्व तक भाव तीर्थंकरपने, इस पृथ्वी-तल पर विचरते रहे और एक मास के अनशन से समेदशिखर

पर्वत पर एक हजार मुनियों के साथ, कुल चालीस लाख पूर्व की आयु पूर्ण कर चैत्र-शुक्ला नौमी को पुनर्वसु नक्षत्र में मोक्ष पधारे ।

पाँचवें तीर्थंकर

भगवान्

।। सुमतिनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ।।
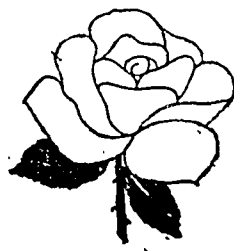
भ० पद्मप्रभःजी

धातकीखण्ड द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र के वत्स विजय में 'सुसीमा' नामकी एक नगरी थी। 'अपराजित' नाम का वहाँ का राजा था। वह धर्मात्मा, न्यायी, प्रजापालक और पराक्रमी था। एक वार अरिहंत भगवान् की वाणी रूपी अमृत का पान किया हुआ नरेन्द्र अनित्यादि भावना में विचरण करता हुआ मुनिमार्ग ग्रहण करने को तत्पर हो गया और अपने पुत्र को राज्य का भार सौंप कर एक महान् त्यागी संयमी आचार्य भगवंत के समीप प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। निर्दोष संयम एवं उग्र तप से आत्मा को उन्नत करते हुए, शुभ अध्यवसायों की तीव्रता में तीर्थंकर नाम-कर्म का वन्ध कर लिया और आयुष्य पूर्ण कर के ऊपर के सर्वोच्च ग्रैवेयक में महान् ऋद्धि सम्पन्न देव हुआ।

इस जम्वूद्वीप के भरत-क्षेत्र में 'वत्स' नामका देश है। उसमें 'कौशांवी' नामकी नगरी थी। 'धर' नाम का राजा वहाँ का शासक था। 'सुसीमा' नामकी उसकी रानी थी। अपराजित मुनिराज का जीव, सर्वोपरि ग्रैवेयक का ३१ सागरोपम का आयुष्य पूर्ण कर के चौदह महास्वप्न पूर्वक माघ-कृष्णा छठ की रात्रि में चित्रा नक्षत्र में महारानी 'सुसीमा' की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। कार्तिक कृष्णा द्वादशी को चित्रा नक्षत्र में जन्म हुआ। जन्मोत्सव आदि तीर्थंकर-परंपरा के अनुसार हुआ। गर्भ में माता को पद्म की शय्या का दोहद होने से वालक का नाम 'पद्मप्रभः' दिया गया। विवाह हुआ। साड़े सात लाख पूर्व तक युवराज रह कर राज्याभिषेक हुआ। साड़े इक्कीस लाख पूर्व और सोलह पूर्वांग तक राज्य संचालन किया और वेले के तप के साथ कार्तिक कृष्णा १३ को चित्रा नक्षत्र में प्रव्रज्या स्वीकार की। छः महीने तक छद्मस्थ अवस्था में रह कर चैत्र-शुक्ला पूर्णिमा को चित्रा नक्षत्र में घातीकर्मों

का क्षय कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् की प्रथम धर्मदेशना इस प्रकार हुई:—

धर्मदेशना

संसार भावना

जिस प्रकार समुद्र में अपार पानी भरा हुआ है, उसी प्रकार संसार रूपी समुद्र भी अपरम्पार है। महासागर जैसे अपार संसार में चौरासी लाख जीव योनी में यह जीव भटकता ही रहता है और नाटक के पात्र के समान विविध प्रकार के स्वांग धारण करता है। कभी यह श्रोत्रीय ब्राह्मण जैसे कुल मे जन्म लेता है, तो कभी चाण्डाल बन जाता है। कभी स्वामी तो कभी सेवक और कभी देव तो कभी क्षुद्र कीट भी हो जाता है। जिस प्रकार भाड़े के मकान में रहने वाला मनुष्य, विविध प्रकार के मकानों में निवास करता रहता है। कभी भव्य भवन में, तो कभी टूटे झोंपड़े में। इसी प्रकार यह जीव भी शुभाशुभ कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों में उत्पन्न हुआ और मरा। ऐसी कौन-सी योनी है कि जिसमें यह जीव उत्पन्न नहीं हुआ‡? लोकाकाश के समस्त प्रदेशों में ऐसा एक भी प्रदेश शेष नहीं रहा कि जहाँ इस जीव ने कर्म से प्रेरित हो कर, अनेक रूप धारण कर के स्पर्श नहीं किया हो और पृथ्वी का एक बालाग्र जितना अंश भी शेष नहीं रहा कि जहाँ इस जीव ने जन्म-मरण नहीं किया हो। यह जीव समस्त लोकाकाश को विविध रूपों में स्पर्श कर चुका है।

नारक की भयंकर वेदना

मोटे तोर पर संसार में १ नारक २ तिर्यंच ३ मनुष्य और ४ देव, इस प्रकार चार प्रकार के प्राणी हैं। ये प्रायः कर्म के सम्बन्ध से बाधित हो कर अनेक प्रकार के दुःख भोगते रहते हैं। प्रथम तीन नरक में मात्र उष्ण वेदना है और अंत के तीन नरकों में शीत वेदना है। चौथी नरक में उष्ण और शीत—दोनों प्रकार की क्षेत्र वेदना है। प्रत्येक नरक में

‡ अनुत्तर विमान के देव, अपवाद रूप होने से आचार्यश्री ने बृहद् पक्ष की अपेक्षा से कथन किया है।

क्षेत्र के अनुसार वेदना होती रहती है। उन नारक क्षेत्रों की गर्मी और सर्दी इतनी अधिक है कि जहाँ लोहे का पर्वत भी यदि ले जाया जाय, तो उस क्षेत्र का स्पर्श करने के पूर्व ही वह गल जाता है, या बिखर कर छिन्न-भिन्न हो जाता है। इस प्रकार नरक की क्षेत्र-वेदना भी महान् भयंकर और असह्य है। इसके अतिरिक्त नारक जीवों के द्वारा एक दूसरे पर परस्पर किये जाने वाले प्रहारादि जन्य दुःख तथा परमाधामी० देवों द्वारा दिये जाने वाले दुःख भी महान् भयंकर और सहन नहीं हो सकने योग्य होते हैं। इस प्रकार नारक जीवों को क्षेत्र सम्बन्धी, पारस्परिक मारकाट सम्बन्धी और परमाधामी देवों द्वारा दी हुई, यों तीन प्रकार की महादुःखकारी वेदना होती रहती है।

नारक जीव, छोटे-सकड़े मुँह वाली कुंभी में उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार सीसे आदि धातुओं की मोटी सलाइयों को यन्त्र में से खींच कर पतले तार बनाये जाते हैं, उसी प्रकार सकड़े मुँह वाली कुंभी में से परमाधामी देव, नारक जीवों को खींच कर बाहर निकालते हैं। कई परमाधामी देव नारकों को इस प्रकार पछाड़ते हैं, जिस प्रकार धोबी वस्त्रों को शिला पर पछाड़ता है। कोई परमाधामी नेरिये को इस प्रकार चीरता है, जिस प्रकार बढ़ई करवत से लकड़ी चीरता हो। कोई परमाधामी, नारक को घाने में डाल कर पीलते हैं।

नारक जीव नित्य तृषातुर रहते हैं। उन बेचारों को परमाधामी देव, उस वैतरिणी नदी पर ले जाते हैं, जिसका पानी तप्त लोह रस और सीसे जैसा है। उसमें उन्हें धकेल देते हैं। उनको वह तप्त रस बरबस पिलाया जाता है। पाप के भीषण उदय से पीड़ित उन नरकात्माओं की पीड़ा कितनी दारुण होती है? असह्य गर्मी से पीड़ित वे नारक किसी वृक्ष की शीतल छाया में बैठने की इच्छा करते हैं, तब परमाधामी उन्हें असिपत्र वन में ले जाते हैं। उन वृक्षों के तलवार की धार के समान पत्र जब उन पर पड़ते हैं, तब उनके अंग कट-कट कर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। नारकों को दुःखी करने में ही सुख मानने वाले क्रूर परिणामी, महामिथ्यादृष्टि वे परमाधामी देव, उन नारकों को वज्रशूल जैसे अत्यन्त तीक्ष्ण काँटों वाले शाल्मलि वृक्ष अथवा अत्यन्त तप्त वज्रांगना से आलिंगन करवाते हैं और उन्हें पर-स्त्री आलिंगन की अपनी पापी मनोवृत्ति का स्मरण करवाते हैं। कहीं-कहीं नैरयिक की मांस-भक्षण की लोलुपता का स्मरण कराते हुए उन्हें उन्हीं के अंगों का मांस+ काट-काट

---

० परमाधामी (परम अधर्मी) पापकर्म में ही रत रहने वाले। नारक जीवों को विविध प्रकार के दुःख दे कर अपना मनोरंजन करने वाले क्रूर एवं अधम देव।

+ यह मांस और वृक्षादि औदारिक शरीर के नहीं, वैक्रिय के तदनुरूप परिणत पुद्गल हैं।

तिर्यंच गति के दुःख

तिर्यंच गति में इतनी विविधता और विचित्रता है कि जितनी अन्य गतियों में नहीं है। इसमें एकेन्द्रिय से लगा कर पचेन्द्रिय तक के जीव हैं। जो भारीकर्मा जीव हैं, वे एकेंद्रिय में और वह भी पृथ्वीकाय में उत्पन्न हो कर हल आदि शस्त्रों से खोदे व फाड़े जाते हैं। हाथी, घोड़ा आदि से रोंदे जाते हैं। जल-प्रवाह से प्लावित होते हैं, दावानल से जलते हैं, कटु-तिक्षणादि रस और मूत्रादि से व्यथित होते हैं। कोई नमक के क्षार को प्राप्त होते हैं, तो कोई पानी में उबाले जाते हैं। कुंभकारादि पृथ्वीकाय के देह को खोद कर, कूट-पीस कर, घट एवं ईंटादि बना कर पचाते हैं। घर की भीतों में चुने जाते हैं। शिलाओं को टाँकी, छेनी आदि ओजारों से छिला जाता है और पर्वत-सरिता के प्रवाह से पृथ्वीकाय का भेदन हो कर विदारण होता है। इस प्रकार अनेक प्रकारों से पृथ्वीकाय की विराधना होती है।

अप्काय के रूप में उत्पन्न हुए जीव को सूर्य की प्रचण्ड गर्मी से तप कर मरणान्तक दुःख भोगना पड़ता है। वर्फ के रूप में घनीभूत होना पड़ता है। रज के द्वारा शोषण किया जाता है और क्षार आदि रस के सम्पर्क से मृत्यु को प्राप्त होते हैं। प्यासे मनुष्यों और पशुपक्षियादि से पिये जा कर भी अप्काय के जीवों की विराधना होती है। इन जीवों की विराधना भी अनेक प्रकार से होती है।

तेजस्काय में उत्पन्न जीव, पानी आदि से बुझा कर मारे जाते हैं, घन आदि से कूटे-पीटे जाते हैं, ईंधनादि से दग्ध किये जाते हैं।

वायुकाय के रूप में उत्पन्न जीवों की पंखा आदि से विराधना होती है और शीत

तथा उष्णादि द्रव्यों के योग से मृत्यु को प्राप्त होते हैं। प्राचीन वायुकाय के जीवों का नवीन वायुकाय के द्वारा नाश होता है। मुख आदि से निकले हुए पवनों से बाधित होते हैं और सर्प आदि के द्वारा पान किये जाते हैं।

कंद आदि दस प्रकार की वनस्पति में उत्पन्न जीवों का तो सदैव छेदन-भेदन होता है। अग्नि पर चढ़ा कर पकाये जाते हैं। पारस्परिक घर्षण से पीड़ित होते हैं। रस-लोलुप जीव, क्षार आदि लगा कर जलाते हैं और कंदादि सभी अवस्था में भक्षण किये जाते हैं। वायु के वेग से टूट कर नष्ट होते हैं। दावानल से बल-जल कर भस्म होते है और नदी के प्रवाह से उखड़ कर गिर जाते हैं। इस तरह सभी प्रकार की बादर वनस्पति, सभी जीवों के लिए भक्ष्य हो कर सभी प्रकार के शस्त्रों से छेदन-भेदन को प्राप्त होती है। वनस्पतिकाय को प्राप्त हुआ जीव, सदा ही क्लेश की परम्परा में ही जीवन व्यतीत करता है।

बेइन्द्रियपने उत्पन्न जीव, पानी के साथ पिये जाते हैं। आग पर चढ़ा कर उबाले जाते हैं। धान्य के साथ पकाये जाते हैं। पाँवों के नीचे कुचले जाते हैं और पक्षियों द्वारा भक्षण किये जाते हैं। शंख—सीपादि रूप में हो, तो फोड़े जाते हैं, जौंक आदि हों, तो सूँते जाते हैं। गिडोला आदि को औषधी के द्वारा पेट में से बाहर निकाला जाता है।

तेइन्द्रियपने में जीव, जूँ और खटमल के रूप में शरीर के साथ मसले जाते हैं। उबलता हुआ पानी डाल कर मारे जाते हैं। चिटियाँ पैरों तले कुचल कर मारी जाती हैं। झाड़ने-बुहारने में भी मर जाती हैं और कुंथुआदि बारीक जीवों का अनेक प्रकार से मर्दन होता है।

चौरिन्द्रिय जीवों में मधुमक्खी और भौंरों आदि का मधु-लोभियों द्वारा नाश किया जाता है। डांस-मच्छरादि प्राणी पंखे आदि से और धूम्र प्रयोग से मारे जाते हैं और छिपकली आदि द्वारा खाये जाते हैं।

पंचेन्द्रियपने जलचर में परस्पर एक दूसरे का भक्षण (मच्छ-गलागल) करते हैं। मच्छीमारों द्वारा पकड़े जा कर मारे जाते हैं। चर्बी के लिए भी जलचर जीवों की हिंसा होती है।

स्थलचर पंचेन्द्रिय जीवों में मृग आदि जीवों को सिंहादि क्रूर जीव खा जाते हैं। शिकारी मनुष्य, अपने व्यसन तथा मांस-लोलुपता के कारण निरपराधी जीवों की अनेक प्रकार से घात करते हैं। कई प्राणी क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण और अतिभार वहन के कारण दुःखी जीवन व्यतीत करते हैं। उन पर चाबुक की मार तथा अंकुश एवं शूल भोंक

मनुष्य गति के दुःख

मनुष्यत्व प्राप्त कर के भी यदि अनार्य देश में उत्पन्न हुआ, तो वहाँ इतना पाप करता है कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। आर्य-देश में भी चांडाल आदि जाति में अनार्य के समान पाप की प्रवृत्ति होती है और महान् दुःख का अनुभव करते हैं। आर्य-देश वासी कई मनुष्य, अनार्य-कृत्य करने वाले होते हैं। परिणाम स्वरूप दारिद्र एवं दुर्भाग्य से दग्ध हो कर निरन्तर दुःख भोगते हैं। कई मनुष्य दूसरों को सम्पत्तिशाली तथा अपने को दरिद्र देख कर, दुःख एवं संतापपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। कई मनुष्य रोग, जरा और मरणाभिमुख हो कर और असाता-वेदनीय के उग्र उदय से दुःखी हो कर ऐसी विडम्बना में पड़े हैं कि जिन्हें देख कर दया आती है।

मनुष्य के गर्भवास के दुःख भी नरक के घोर दुःख के समान है। गर्भवास ऐसे दुःख का कारण है कि जैसे दुःख, रोग, वृद्धावस्था, दासत्व एवं मृत्यु के भी नहीं है। आग में तपा कर गर्म की हुई सूइयों को मनुष्य के प्रत्येक रोम में एक साथ भोंकी जाने पर जितना दुःख होता है, उससे आठ गुना अधिक दुःख जीव को गर्भवास में होता है और जन्म के समय जीव को जो दुःख होता है, वह गर्भवास के दुःख से भी अनन्त गुण है।

जन्म के बाद बाल अवस्था में मूत्र एवं विष्टा से, यौवनवय में रति-विलास से और वृद्धावस्था में श्वास, खांसी आदि रोग से पीड़ित होता है, फिर भी वह लज्जारहित रहता है।

मनुष्य बालवय में विष्टा का इच्छुक—भुंडसूर, युवावस्था में कामदेव का गधा और वृद्धावस्था में बूढ़ा बैल बन जाता है। किन्तु वह पुरुष होते हुए भी पुरुष नहीं बनता (पशु जैसा रहता है) शिशु-वय में मातृमुखी (माता के मुख को ताकने वाला) यौवन में खुमी-स्त्री (स्त्री की गरज करनेवाला) और बुढ़ापे में पुत्र-मुखी (पुत्र के आश्रय में जन्म

बिताने वाला) रहता है, किन्तु वह कभी अन्तर्मुखी नहीं होता। धन की इच्छा से विह्वल बना हुआ मनुष्य, नौकरी, कृषि, व्यापार और पशुपालन आदि उद्योगों में अपना जन्म निष्फल गँवाता है। कभी चोरी करता है, तो कभी जूआ खेलता है और कभी जार-कर्म कर के मनुष्य संसार-परिभ्रमण बहुत बढ़ा लेता है। कई सुख-सामग्री प्राप्त मनुष्य, मोहान्ध हो कर काम-विलास से दुःखी हो जाते हैं और दीनता तथा रुदन करते हुए मनुष्य-जन्म को खो देते हैं, किन्तु धर्म-कार्य नहीं करते। जिस मनुष्य-जन्म से अनन्त कर्मों के समूह का क्षय किया जा सकता है, उस मनुष्य-जन्म से पापी मनुष्य, पाप ही पाप किया करते हैं। मनुष्य-जन्म, ज्ञान, दर्शन और चारित्र, इन तीन रत्नों का पात्र रूप है। ऐसे उत्तमोत्तम जन्म में पाप-कर्म करना तो स्वर्ण पात्र में मदिरा (अथवा मूत्र) भरने जैसा है। मनुष्य जन्म की प्राप्ति 'शमिलायुग' * के समान महान् दुर्लभ है। मूर्ख मनुष्य, चिन्तामणी रत्न के समान इस मानव-भव को पाप-कर्म में गँवा कर हार जाता है। मनुष्य-जन्म, स्वर्ग और मोक्ष प्राप्ति के कारण रूप है, किन्तु आश्चर्य है कि मनुष्य, पाप-कर्म के द्वारा इसे नरक प्राप्ति का साधन बना लेता है। मनुष्य-भव की अनुत्तर विमान के देवता भी आशा करते हैं। किन्तु पापी मनुष्य ऐसे दुर्लभ मानव-भव को पा कर भी पाप-कर्म में ही आसक्त रहते हैं। यह कितने दुःख की बात है। नरक के दुःख तो परोक्ष हैं, किन्तु मनुष्य-भव के दुःख तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं। इसलिए मनुष्य-सम्बन्धी दुःखों का विशेष वर्णन करना आवश्यक नहीं है।

देव-गति के दुःख

देव-गति में भी दुःख का साम्राज्य चल रहा है। शोक, अमर्ष, खेद, ईर्षा और दीनता से देवों की बुद्धि भी बिगड़ी हुई रहती है। दूसरों के पास विशेष ऋद्धि देख कर देव भी अपनी हीन-दशा पर खेद करते हैं। उन्हें अपने पूर्व-जन्म के उपार्जित शुभ-कर्म की कमी का शोक रहता है। दूसरे बलवान् और ऋद्धिशाली देवों द्वारा होते हुए अपमान एवं अड़चनों और उसके प्रतिकार की असमर्थता के कारण अल्प-ऋद्धि वाले देव, चिन्ता एवं शोक

---

* गाड़ी की धुरी अथवा जूआ और खीली, दोनों को स्वयंभुरमण समुद्र में एक-दूसरे को पूर्व-पश्चिम के समान विपरीत दिशा में डाल दिया जाय, तो दोनों का परस्पर मिल कर जुड़ जाना महान् कठिन है। इसी प्रकार मनुष्य-जन्म की प्राप्ति भी महान् दुर्लभ है।

कि जैसी किसी मनुष्य को अग्नि से जलने पर होती है। उस घबराहट को मिटाने में न तो वे विमान सहायक हो सकते हैं, न वापिका और नन्दनवन आदि ही। उन्हें कहीं भी शांति नहीं मिलती। उस समय वे विलाप करते हैं और कहते हैं कि—

"हा, मेरी प्राणप्रिय देवांगना ! हाय मेरे विमान ! हाय कल्पवृक्ष ! हाय मेरी पुष्करणी वापिका ! हाय, मैं इनसे बिछुड़ जाऊँगा। फिर इन्हें कब देख सकूँगा।

हाय ! अमृत की बेल के समान और अमृतमय वाणी से आनन्दित करने वाली मेरी कान्ता, रत्न के स्तंभ वाले विमान, मणिमय भूमि और रत्नमय वेदिकाएँ, अब तुम किसकी हो कर रहोगी ?

हे रत्नमय पद्म-पंक्ति युक्त एवं श्रेणि-बन्ध कमलवाली पूर्ण वापिकाओ ! अब तुम्हारा उपभोग कौन करेगा ? हे पारिजात, संतान, हरिचन्दन और कल्पवृक्ष ! क्या तुम अपने इस स्वामी को त्याग दोगे ?

अरे, क्या स्त्री के गर्भ रूपी नर्क में मुझे बरबस रहना पड़ेगा ? और अशुचि रस का आस्वादन करते हुए उसीसे शरीर बनाना होगा ?

हा, अपने कर्मों के बन्धन में जकड़ा हुआ मुझे जठराग्नि रूपी अँगीठी में पकने रूप दुःख भी सहन करना पड़ेगा। हाय, कहाँ तो रति-सुख की खान ऐसी ये मेरी देवांगनाएँ और कहाँ अशुचि की खान एवं बीभत्स ऐसी मानवी स्त्रियों का भोग ?"

इस प्रकार स्वर्गीय सुखों का स्मरण करते हुए देवता, उस प्रकार वहाँ से च्यव जाते हैं, जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है। इस प्रकार देवगति भी दुःख रूप है। इसलिए बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है कि इस संसार को असार जान कर दीक्षा रूपी उपाय के द्वारा संसार का अन्त कर के मुक्ति को प्राप्त करे।

श्रोत्रियः श्वपचः स्वामी, पतिर्ब्रह्मा कृमिश्च सः।
संसारनाट्ये नटवत्, संसारी हंत चेष्टते ॥१॥
न याति कतमां योनिं कतमां वा न मुंचति।
संसारी कर्मसंबंधादवक्रयकुटीमिव ॥२॥
समस्तलोकाकाशेऽपि, नानारूपैः स्वकर्मभिः।
बालाग्रमपि तन्नास्ति, यन्नस्पृष्ट शरीरिभिः ॥३॥

—इस संसार की अनेक योनियों में परिभ्रमण करने रूप नाटक में संसारस्थ जीव नट के समान चेष्टा करते रहते हैं। ऐसी संसार रूपी रंगभूमि पर वेद-वेदांग का पारगामी

भी कर्मोदय से मर कर चाण्डालपने उत्पन्न हो जाता है। स्वामी मर कर सेवक और प्रजा-पति मर कर एक तुच्छ कीड़ा हो जाता है। संसारी जीव, कर्मोदय से भाड़े की कुटिया के समान एक योनि छोड़ कर दूसरी, यों विभिन्न योनियों में भटकते ही रहते हैं, एक योनि छोड़ कर दूसरी में प्रवेश करते हैं। इस समग्र संसार में, एक बाल के अग्रभाग पर आवे, उतना भी स्थान ऐसा नहीं है कि जिसे कर्म के वश हो कर इस जीव ने अनेक बार धारण कर के, उस स्थल का स्पर्श नहीं किया हो। इस प्रकार संसार भावना का विचार करना चाहिये।

भगवान् ने सोलह पूर्वांग कम एक लाख पूर्व तक संयम पाला। इस प्रकार कुल तीस लाख पूर्व का आयुष्य भोग कर, मार्गशीर्ष-कृष्णा एकादशी को चित्रा-नक्षत्र में, एक मास के संथारे से सम्मेदशिखर पर्वत पर ३०८ मुनियों के साथ सिद्ध गति को प्राप्त हुए।

प्रभु के 'सुव्रत' आदि १०७ गणधर हुए और ३३०००० साधु, ४२०००० साध्वी, २३००* चौदह पूर्वधर, १०००० अवधिज्ञानी, १०३०० मनःपर्ययज्ञानी, १२००० केवलज्ञानी, १६८०० वैक्रिय लब्धिधारी, ९६०० वादलब्धि सम्पन्न, २७६००० श्रावक और ५०५००० श्राविकाएं हुई।

* त्रि. श. पु. च. में चौदह पूर्वधर २२०० बताये हैं।

छठे तीर्थंकर

भगवान्

।। पद्मप्रभःजी का चरित्र सम्पूर्ण ।।

भ० सुपार्श्वनाथजी

—:※:—

धातकीखंड के पूर्व-विदेह क्षेत्र में क्षेमपुरी नगरी थी। नन्दीषेण उसका राजा था। उस धर्मात्मा राजा को संसार से वैराग्य हो गया और उसने अरिदमन नाम के आचार्य के समीप प्रव्रज्या स्वीकार की। संयम एवं तप की उत्तम भावना में रमण करते हुए नन्दीषेण मुनि ने तीर्थंकर नाम-कर्म को निकाचित कर लिया और आयुष्य पूर्ण कर के छठे ग्रैवेयक विमान में देव हुए। उनका आयुष्य २८ सागरोपम का था।

काशी देश के वाराणसी नगरी में 'प्रतिष्ठसेन' नाम का राजा राज करता था। उसकी रानी का नाम 'पृथ्वी' था। नन्दीषेण मुनि का जीव देवलोक से च्यव कर भाद्रपद-कृष्णा अष्टमी को, अनुराधा नक्षत्र में महारानी पृथ्वी की कुक्षि में, चौदह महास्वप्न पूर्वक उत्पन्न हुआ। ज्येष्ठ-शुक्ला द्वादशी को विशाखा-नक्षत्र में पुत्र का जन्म हुआ। देवी-देवता और इन्द्रों ने जन्मोत्सव किया। गर्भकाल में माता के पार्श्व (छाती और पेट के अगल-बगल का हिस्सा) बहुत ही उत्तम और सुशोभित हुए। इसलिए पुत्र का 'सुपार्श्व' नाम दिया गया। यौवनवय में अनेक राजकुमारियों के साथ उनका विवाह हुआ। पाँच लाख पूर्व तक कुमार अवस्था में रहने के बाद, पिता ने प्रभु को राज्य का भार दे दिया। चौदह लाख पूर्व और बीस पूर्वांग तक राज्य का संचालन करने के बाद ज्येष्ठ-कृष्णा त्रयोदशी को, अनुराधा नक्षत्र में, बेले के तप सहित संसार का त्याग कर के पूर्ण संयमी बन गए। नौ मास तक संयम और तप की विशिष्ट प्रकार से आराधना करते हुए फाल्गुन-कृष्णा छठ को विशाखा नक्षत्र में केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया। प्रभु की प्रथम धर्मदेशना इस प्रकार हुई;—

अन्यत्व भावना

"स्त्री, पुत्र, माता, पिता, कुटुम्ब, परिवार, धन-धान्यादि और अपना शरीर, ये सब अपनी आत्मा से भिन्न एवं अन्य वस्तुएँ हैं। मूढ़ मनुष्य, इन्हें अपना मान कर इन पर वस्तुओं के लिए पाप-कर्म करता है और भवसागर में डूबता है। जब जीव, शरीर के साथ संलग्न होने पर भी भिन्नता रखता है तो स्पष्ट रूप से एकदम भिन्न ऐसे कुटुम्ब और धन-धान्यादि की भिन्नता के विषय में तो कहना ही क्या है?

जो सुज्ञ आत्मा, अपनी आत्मा को देह, कुटुम्ब और धनादि से भिन्न देखता है, उसे शोक रूपी शूल की वेदना नहीं होती। यह भिन्नता एक दूसरे के लक्षण की विलक्षणता से ही स्पष्ट ज्ञात होती है। आत्मा के स्वभाव और शरीर के पौद्गलिक स्वभाव का विचार करने पर यह भेद 'साक्षात्' हो जाता है। देहादि पदार्थ, इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जा सकते है, किन्तु आत्मा तो केवल अनुभव गोचर होती है। जब दोनों में इस प्रकार की भिन्नता प्रत्यक्ष हो रही है, तब दोनों की अनन्यता = एकता कैसे मानी जाय?

शंका—यदि आत्मा और देह भिन्न है, तो शरीर पर पड़ती हुई मार की पीड़ा आत्मा को क्यों होती है?

समाधान—शंका उचित है, किन्तु पीड़ा उसी को होती है, जिसकी देह में ममत्व बुद्धि है—अभेद भाव है। जिन महात्माओं को आत्मा और देह के भेद का भली प्रकार से अनुभव ज्ञान हो गया, उन्हें देह पर होने हुए प्रहारादि की वेदना नहीं होती+। जो ज्ञानवंत आत्मा है, उसे पितृ-वियोग जन्य दुःख होने पर भी पीड़ा नहीं होती, किंतु जिस अज्ञानी की पर में ममत्व बुद्धि है, जिसे भेद-ज्ञान नहीं है, उसे तो एक नौकर सम्बन्धी दुःख होने पर भी पीड़ा होती है। अनात्मीय—अन्यत्व रूप से ग्रहण किया हुआ पुत्र भी भिन्न है, किंतु आत्मीय—एकत्व रूप में माना हुआ नौकर भी पुत्र से अधिक हो जाता है। आत्मा जितने संयोग सम्बन्धों को अपने आत्मीय रूप में मान कर स्नेह करता है। उतने ही शोक रूपी शूल उसके हृदय में पहुँच कर दुःखदायक होते हैं। इसलिए जितने भी पदार्थ इस जगत् में हैं, वे सभी आत्मा से भिन्न ही है—इस प्रकार की समझ से जिस आत्मा की अन्यत्व भेद

+ आत्मा शरीर से कथंचित् भिन्न कथंचित् अभिन्न है। देह और आत्मा दूध-पानी के समान एकमेक हैं, अत्यंत निकट है, इसलिये वेदना होती है। वेदना होने में असातावेदनीय कर्म के उदय का जोर है, इसलिये वेदना होती है।

बुद्धि हो जाती है, वह किसी भी वस्तु का वियोग होने पर तात्विक विषय में मोह को प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार तुम्बी पर का लेप धुल जाने पर वह ऊपर उठ जाती है, उसी प्रकार अन्यत्व रूपी भेद ज्ञान से जिस आत्मा ने मोह-मल को धो डाला है, वह प्रव्रज्या को ग्रहण कर स्वल्प काल में ही शुद्ध हो कर संसार से पार हो जाती है।

यत्रायत्वं शरीरस्य, वैसादृश्याच्छरीरिणः।
धनबन्धुसहायानां, तत्रान्यत्वं न दुर्वचम् ॥१॥
यो देहधनबन्धुभ्यो, भिन्नमात्मान मीक्षते।
क्व शोकशंकुना तस्य हंतातंकः प्रतन्यते ॥२॥

—जहाँ मूर्त-अमूर्त, चेतन-जड़ और नित्य-अनित्यादि विसदृश्यता से, आत्मा से शरीर की भिन्नता स्वतः सिद्ध है, वहाँ धन-बान्धवादि सहायकों की भिन्नता बताना अत्युक्ति नहीं कहा जा सकता। जो सुज्ञ मनुष्य, देह, धन और बन्धुजनादि से आत्मा को भिन्न देखता है, उसे वियोगादि जन्य शोक रूपी शल्य कैसे पीड़ित कर सकता है? इस प्रकार देह, गेह और स्वजनादि से आत्मा भिन्न है—ऐसा विचार करना चाहिए।

प्रभु के विदर्भ आदि ९५ गणधर हुए। तीन लाख साधु, चार लाख तीस हजार साध्वियाँ, २०३० चौदह पूर्वधर, ९००० अवधिज्ञानी, ९१५० मनःपर्यवज्ञानी, ११००० केवलज्ञानी, १५३०० वैक्रिय-लब्धिधारी, ८४०० वाद-लब्धि सम्पन्न, २५७००० श्रावक और ४९३००० श्राविकाएँ हुई।

भगवान् केवलज्ञान के बाद ग्रामानुग्राम विहार कर के भव्य जीवों को प्रतिबोध देते रहे। वे बीस पूर्वांग और नौ मास कम एक लाख पूर्व तक विचरते रहे। आयुष्यकाल निकट आने पर सम्मेदशिखर पर्वत पर पाँच सौ मुनियों के साथ, एक मास के अनशन से, फाल्गुन-कृष्णा सप्तमी को, मूल-नक्षत्र में सिद्धगति को प्राप्त हुए। प्रभु का कुल आयु बीस लाख पूर्व का था।

सातवें तीर्थंकर

भगवान्

॥ सुपार्श्वनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

भ० चन्द्रप्रभः स्वामी
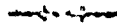
धातकीखण्ड के प्राग्विदेह क्षेत्र में मंगलावती विजय में 'रत्नसंचया' नाम की नगरी थी। 'पद्म' नाम के राजा वहाँ के शासक थे। वह परम प्रतापी राजा, श्रेष्ठ तत्त्ववेता था और संसार में रहते हुए भी वैराग्य युक्त था। उसने युगन्धर मुनिवर के पास दीक्षा ग्रहण की और साधना के सोपान पर चढ़ते हुए, जिन नाम-कर्म को दृढ़ीभूत किया और कालान्तर में आयुष्य पूर्ण कर के वैजयंत नाम के अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में 'चन्द्रानना' नाम की नगरी थी। 'महासेन' नाम का नरेश वहाँ का अधिपति था। 'लक्ष्मणा' नाम की उसकी रानी थी। पद्म मुनिवर का जीव वैजयंत विमान का तेतीस सागरोपम का आयु पूर्ण कर के चैत्र-कृष्णा पंचमी को अनुराधा नक्षत्र में महारानी लक्ष्मणा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ और पौष-कृष्णा द्वादशी को अनुराधा नक्षत्र में जन्म हुआ। माता को चन्द्र-पान करने का दोहद होने और पुत्र की चन्द्र के समान कान्ति होने से 'चन्द्रप्रभः' नाम दिया गया। यौवन वय में प्रभु ने राजकुमारियों के साथ विवाह किया। ढ़ाई लाख पूर्व तक कुमार अवस्था में रहने के बाद प्रभु का राज्याभिषेक हुआ। साढ़े छह लाख पूर्व और चौबीस पूर्वांग तक राज्य का संचालन किया। पौष-कृष्णा त्रयोदशी को अनुराधा नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ संसार त्याग कर पूर्ण संयमी बन गये। तीन महीने तक छद्मस्थ अवस्था में रहने के बाद फाल्गुन-कृष्णा सप्तमी को अनुराधा नक्षत्र में केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया।

भगवान् ने प्रथम समवसरण में धर्मोपदेश दिया। यथा—

धर्मदेशना

अशुचि भावना

अनन्त क्लेश रूपी तरंगों से भरा हुआ यह भवसागर, प्रति-क्षण सभी प्राणियों को ऊपर नीचे और तिरछे फेंकता रहता है। जिस प्रकार समुद्र की लहरें स्थिर नहीं रहती, उसी प्रकार प्राणियों का जीवन भी स्थिर नहीं रहता। किन्तु ऐसे अस्थिर जीवन में भी प्राणी मूर्च्छित हो रहा है। जिस प्रकार विष्टादि अशुचि से कीड़े प्रीति करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी अशुचिमय क्षणिक शरीर से स्नेह करता है। वह शरीर ही उसके लिए बन्धन रूप बन जाता है।

रस, रुधिर, मांस, चर्वी, अस्थि, मज्जा, वीर्य, आंतें और विष्टादि अशुचि के स्थान रूप देह में पवित्रता कहाँ है? नव द्वारों में से झरते हुए दुर्गन्धमय झरनों से बिगड़े हुए इस देह में, पवित्रता का संकल्प करना, यही मोहराज की महा मस्ति है। वीर्य और रुधिर से उत्पन्न, मलिन रस से बढ़ा हुआ और गर्भ में जरायु से ढँका हुआ यह देह, कैसे पवित्र हो सकता है?

माता के खाये हुए भोजनादि से उत्पन्न और रस नाड़ी में हो कर आये हुए रस का पान कर के बढ़े हुए शरीर को कोई भी सुज्ञ पवित्र नहीं मान सकता।

दोष, धातु और मल से भरे हुए, कृमि और गिंडोले के स्थान रूप तथा रोग रूपी सर्पों से डसे हुए शरीर को शुद्ध मानने की भूल कोई भी सुज्ञ नहीं कर सकता।

स्वादिष्ट अन्न-पान, क्षीर, इक्षु और घृतादि उत्तम पदार्थ भी इस शरीर में जाने के बाद विष्टा जैसे घृणित रूप में बदल जाते हैं। ऐसे अपवित्र शरीर को कौन शुचिभूत कहेगा?

अनेक प्रकार के सुगन्धी द्रव्यों से किया हुआ विलेपन, तत्काल मल रूप हो जाता है। ऐसे शरीर को पवित्र कहना भूल है। मुँह में सुगन्धित ताम्बुल चबा कर सोया हुआ मनुष्य, प्रातःकाल उठ कर अपने ही मुख की दुर्गन्ध से घृणा करता है। सुगन्धी पुष्प, पुष्प-माला और धूपादि भी जिस शरीर के द्वारा दुर्गन्धमय बन जाते हैं, उस शरीर को शुद्ध नहीं कहा जा सकता।

जिस प्रकार शराब का घड़ा दुर्गन्धमय रहता है, उसी प्रकार उच्च प्रकार के सुगन्धित तेल और उबटन से स्वच्छ कर के प्रचूर पानी से धोया हुआ शरीर भी अपवित्र ही रहता है।

जो लोग कहते हैं कि यह शरीर मृत्तिका, जल, अग्नि, वायु और सूर्य की किरणों के स्नान से शुद्ध होता है, उन्होंने शरीर की वास्तविकता नहीं समझी और ऊपरी चमड़ी को देख कर ही रीझे हुए हैं।

जिस प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य, खारे पानी के समुद्र में से रत्न ढूंढ कर निकालते हैं, उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्यों को ऐसे दुर्गन्धमय देह से, केवल मोक्ष रूपी फल का उत्पादक ऐसा तप ही करना चाहिए। इसी से महान् सुख की प्राप्ति होती है।

रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रांत्रवर्चसां।
अशुचीनां पदं कायः, शुचित्वं तस्य तत्कुतः ॥१॥
नवस्रोतः स्रवद्विस्ररसनिःस्यंदपिच्छिले।
देहेऽपि शौचसंकल्पो, महन्मोहविजृंभितम् ॥२॥

—रस, रुधिर मांस, मेद, हड्डी, मज्जा, वीर्य, अंतड़ियां एवं विष्ठादि अशुचि के घर रूप इस शरीर में पवित्रता है ही कहां ? देह के नौ द्वारों से बहता हुआ दुर्गन्धित रस और उससे लिप्त देह की पवित्रता की कल्पना करना या अभिमान करना, यह तो महामोह की चेष्टा है। इस प्रकार का विचार करने से मोह-ममत्व कम होता है।

भगवान् के 'दत्त' आदि ९३ गणधर हुए। २५०००० साधु, ३८०००० साध्वियां, २००० चौदह पूर्वधर, ८००० अवधिज्ञानी, ८००० मनःपर्यवज्ञानी, १०००० केवली, १४००० वैक्रिय लब्धिधारी, ७६०० वादी, २५०००० श्रावक और ४९१००० श्राविकाएँ हुईं।

प्रभु चौवीस पूर्वांग और तीन महिने कम एक लाख पूर्व तक तीर्थंकरपने विचरते हुए भव्य जीवों का उपकार करते रहे। फिर मोक्ष-काल निकट आने पर एक हजार मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर एक मास के अनशन से भाद्रपद-कृष्णा सप्तमी को श्रवण-नक्षत्र में सिद्ध गति को प्राप्त हुए। प्रभु का कुल आयु दस लाख पूर्व का था।

आठवें तीर्थंकर

भगवान्

॥ चन्द्रप्रभः स्वामी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

भ० सुविधिनाथजी
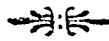
पुष्करवर दीपार्द्ध के पूर्व-विदेह में पुष्कलावती विजय है। उस विजय में 'पुंडरिकिनी' नाम की नगरी थी। 'महापद्म' वहाँ का शासक था। वह वड़ा ही धर्मातमा एवं हलुकर्मी था। उसने संसार का त्याग कर के जगन्नन्द मुनिराज के पास सर्वविरति स्वीकार कर ली। साधना में उन्नत होते हुए उन्होंने जिन नामकर्म का वन्ध कर लिया और आयुष्य पूर्ण कर के वैजयंत नाम के अनुत्तर विमान में देव रूप में उत्पन्न हुए।

इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भरत में 'काकंदी' नाम की नगरी थी। उस भव्य नगरी का शासन महाराजा 'सुग्रीव' करते थे। महारानी 'रामा' उनकी प्रिय पत्नी थी। वैजयंत विमान में ३३ सागरोपम का आयु पूर्ण कर के महापद्म देव, फाल्गुन-कृष्णा नौमी को मूल-नक्षत्र में रामादेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। चौदह महास्वप्न देखे। मार्गशीर्ष-कृष्णा पंचमी को मूलन-क्षत्र में पुत्र का जन्म हुआ। देव-देवियों और इन्द्रों ने जन्मोत्सव किया। गर्भावस्था में, गर्भ के प्रभाव से रामादेवी सभी प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करने की विधि में कुशल हुई। इसलिए पुत्र का नाम 'सुविधि' रखा और पुष्प के दोहद से पुत्र के दाँत आये, इसलिए दूसरा नाम 'पुष्पदंत' हुआ। यौवन वय में राजकुमारियों के साथ लग्न किया। पचास हजार पूर्व तक कुमार अवस्था में रहे। फिर पिता ने आपको राज्याधिकार प्रदान किया। पचास हजार पूर्व और अट्ठाईस पूर्वांग तक राज्य का शासन किया। उसके वाद मार्गशीर्ष-षष्ठी के दिन मूल-नक्षत्र में वेले के तप सहित सर्वत्यागी वन गए। आपके साथ एक हजार राजाओं ने भी प्रव्रज्या स्वीकार की। चार मास तक प्रभु छद्मस्थ रहे और कार्तिक-शुक्ला

धर्मदेशना

आस्रव भावना

भगवान् का प्रथम उपदेश इस प्रकार हुआ—

यह संसार अनन्त दुःखों के समूह का भण्डार है। जिस प्रकार विष की उत्पत्ति का स्थान विषधर (सर्प) है, उसी प्रकार दुःखमय संसार की उत्पत्ति का कारण 'आस्रव' है।

आस्रव का अर्थ है—कर्म पुद्गलों का आत्मा में प्रवेश करने का कारण। आत्मा में कर्म के प्रवेश करने का मार्ग।

जीवों के मन वचन और काया से जो क्रिया होती है, वह 'योग' कहलाता है। ये योग ही आत्मा में शुभाशुभ कर्म को आस्रवते (लाते) हैं। इसी से यह 'आस्रव' कहलाता है। मैत्री आदि शुभ भावना से वासित जीव, शुभ कर्म का बन्ध करता है और कषाय तथा विषयों से आक्रान्त हुए चित्त से आत्मा, अशुभ कर्म बांधता है। श्रुतज्ञान के आश्रय से बोला हुआ सत्य वचन, शुभ कर्मों का कारण है। इसके विपरीत वचन अशुभ कर्मों का सर्जक है। बुरे कामों से रोक कर अच्छे कार्यों में लगाये हुए शरीर से शुभ कर्म की उत्पत्ति होती हैं और आरम्भ तथा हिंसादि सावद्य कार्यों में लगी हुई शारीरिक प्रवृत्ति से बुरे—दुःख-दायक कर्मों का आस्रव होता है।

विषय, कषाय, योग, प्रमाद, अविरति, मिथ्यात्व तथा आर्त्त और रौद्र ध्यान—ये अशुभ आस्रव के कारण हैं।

आस्रव के द्वारा आत्मा में प्रवेश करने वाले कर्मों के ज्ञानावरणादि, आठ भेद हैं।

ज्ञान और दर्शन के विषय में, ज्ञानी व दर्शनी के प्रति और ज्ञान दर्शन उत्पन्न करने के कारणों में विघ्न (बाधा) खड़ी करना, निन्हवता करना, पिशुनता एवं आशातना करना, उनकी घात करना और मात्सर्यता करना—**ये ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय** कर्म बाँधने के हेतुभूत आस्रव हैं।

देव की आराधना, गुरुसेवा, पात्र-दान, दया, क्षमा, सरागसंयम, देशविरति, अका
निर्जरा, शौच (भावविशुद्धि, निरतिचार व्रत पालनादि) और बालतप—ये **सातावेदनी**
कर्म बाँधने के आस्रव हैं।

स्व, पर अथवा स्वपर (उभय) को दुःख, शोक, वध, ताप, आक्रन्द और विला
अथवा पश्चात्ताप उत्पन्न करना या करवाना—**ये असातावेदनीय** कर्म बाँधने के कारण हैं

वीतराग भगवंत के, शास्त्र के, संघ के, धर्म के और सभी देवताओं के अवर्णवा
बोलना (बुराई करना—निन्दा करना) मिथ्यात्व के तीव्र परिणाम करना, सर्वज्ञ भगवा
और सिद्ध भगवान् का निन्हव बनना (उनमें देवत्व नहीं मानना, उनके विपरीत बोलन
उनके गुणों का अपलाप करना आदि) धार्मिक मनुष्यों को दोष देना, उनकी निन्दा करन
उन्मार्ग का उपदेश करना, अनर्थ का आग्रह करना, असंयमी का आदर सत्कार एवं पूज
करना, बिना विचारे कार्य करना और गुरु आदि की अवज्ञा करना इत्यादि कुकृत्यों
दर्शनमोहनीय-कर्म का आस्रव होता है।

कषाय के उदय से आत्मा के तीव्र परिणाम होना—**चारित्र-मोहनीय** कर्म बाँध
का कारण है।

किसी की हँसी करना, सकाम उपहास (स्त्रियादि से कामोत्पादक हँसी करना) विशे
हँसने की आदत, वाचालता और दीनता बताने की प्रवृत्ति—यह **हास्य-मोहनीय** कर्म क
आस्रव है।

देश-विदेश में भ्रमण कर नये-नये दृश्य देखने की इच्छा, अनेक प्रकार के खे
खेलना और दूसरों के मन को अपनी ओर आकर्षित करना—वशीभूत करना, ये **रति-
मोहनीय** कर्म का आस्रव है।

असूया=घृणा (गुणों को भी दोष रूप में देखना) पाप करने की प्रकृति, दूसरे की
सुख-शान्ति नष्ट करना और किसी का अनिष्ट होता हुआ देख कर खुश होना, यह
अरतिमोहनीय के आस्रव हैं।

स्वयं अपने मन में भय को स्थान देना, दूसरों को भयभीत करना, त्रास देना और
निर्दय बनना—**भय-मोहनीय** कर्म का आस्रव है।

स्वयं शोक उत्पन्न कर के चिन्ता करना, दूसरों के हृदय में शोक एवं चिन्ता उत्पन्न
करना और रुदन करने में अति आसक्ति रखना, ये **शोक-मोहनीय** कर्म के आस्रव हैं।

चतुर्विध संघ के अवर्णवाद बोलना, तिरस्कार करना और सदाचार की निंदा करना, यह—**जुगुप्सा-मोहनीय** के आस्रव हैं।

ईर्षा, विषयों में लोलुपता, मृषावाद, अतिवक्रता और परस्त्री-गमन में आसक्ति—ये **स्त्रीवेद** बन्ध के आस्रव हैं।

स्वस्त्री में संतोष, ईर्षा रहित—भद्र स्वभाव, कषायों की मन्दता, प्रकृति की सरलता और सदाचार का पालन—ये **पुरुषवेद** के आस्रव है।

स्त्री और पुरुष, दोनों की चुम्बनादि अनंग-सेवन, उग्र कषाय, तीव्र कामेच्छा, पाखंडी-पन और स्त्री के व्रत का भंग करना—ये **नपुंसक वेद** बन्धन के आस्रव हैं।

साधुओं की निन्दा करना, धर्मिष्ठ लोगों के लिए बाधक बनना, जो मद्य-मांसादि के सेवन करने वाले हैं, उनके सामने मद्य-मांसादि भक्षण की प्रशंसा करना, देश-विरत श्रावक के लिए बार-बार अन्तराय उत्पन्न करना, अविरत हो कर स्त्री आदि के गुणों का व्याख्यान करना, चारित्र को दूषित करना और दूसरों के कषाय तथा नोकषाय की उदीरणा करना—ये **चारित्र-मोहनीय** कर्म बाँधने के मुख्य आस्रव हैं।

पंचेन्द्रिय जीवों का वध, महान् आरम्भ और महा परिग्रह, अनुकम्पा रहित होना, मांस-भक्षण, स्थायी वैर-भाव, रौद्रध्यान, अनन्तानुबन्धी कषाय, कृष्ण, नील और कापोत लेश्या, असत्य-भाषण, परद्रव्य हरण, बार-बार मैथुन सेवन और इन्द्रियों के वशीभूत हो जाना, ये **नरक-गति के आयुष्य** कर्म के आस्रव हैं।

उन्मार्ग का उपदेश, सन्मार्ग का नाश गुप्ततापूर्वक धन का रक्षण, आर्त्तध्यान, शल्ययुक्त हृदय, माया (कपट) आरम्भ-परिग्रह, शील एवं व्रत को दूषित करना, नील और कापोत लेश्या और अप्रत्याख्यानी कषाय—ये **तिर्यंच-गति का आयुष्य** बाँधने के आस्रव हैं।

अल्प परिग्रह तथा अल्प आरम्भ, स्वभाव की कोमलता और सरलता, कापोत और पीत लेश्या (तेजो लेश्या) धर्मध्यान में अनुराग, प्रत्याख्यानी कषाय, मध्यम परिणाम, दान देने की रुचि, देव और गुरु की सेवा, पूर्वालाप (आने वाले का 'पधारो' आदि से पहले से आदरयुक्त बोलना) प्रियालाप, प्रेमपूर्वक समझाना, लोक-समूह में मध्यस्थता—ये **मनुष्य-गति आयुष्य** बन्धन के आस्रव हैं।

सराग-संयम, देशसंयम, अकामनिर्जरा, कल्याणमित्र (सुगुरु) का परिचय, धर्म

श्रवण करने की रुचि, पात्र-दान, तप, श्रद्धा, ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप तीन रत्नों की आराधना, मृत्यु के समय तेजो और पद्म लेश्या का परिणाम, बालतप, अग्नि, जल आदि साधनों से मृत्यु पाना, फांसी खा कर मरना और अव्यक्त समभाव—ये **देवगति का आयुष्य** बांधने के आस्रव हैं।

मन, वचन और काया की वक्रता, दूसरों को ठगना, कपटाई करना, मिथ्यात्व, पशुन्य, मानसिक चञ्चलता, नकली सिक्का, चांदी, सोना आदि बना कर ठगना, झूठी साक्षी देना, वस्तु के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श को बदल कर धोखा देना, किसी जीव के अंग-उपांग काटना और कटवाना, यन्त्रादि की क्रिया, खोटे तोल-माप आदि का उपयोग कर के ठगाई करना, स्वात्म-प्रशंसा, पर-निन्दा, हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, महा आरम्भ, महा परिग्रह, कठोर-वचन, तुच्छ-भाषण, उज्ज्वल वेशादि का अभिमान करना, वाचालता, आक्रोश करना, किसी के सौभाग्य को मिटाने का प्रयत्न, कामण (किसी को हानि पहुँचाने, दुःखी करने या मारने के लिए मन्त्र-तन्त्रादि करना) त्यागीपन का दम्भ कर के उन्मार्ग गमन करना, साधु आदि हो कर दूसरों के मन में कौतुक उत्पन्न करना, वेश्यादि को अलंकारादि देना, दावानल सुलगाना, चोरी करना, तीव्र कषाय, अंगारादि १५ कर्मादान की क्रिया करना—ये सभी **अशुभ नामकर्म** के आस्रव हैं। इनसे विपरीत क्रियाएँ—संसार से भीरुता, प्रमाद का नाश, सद्भाव की अर्पणता, क्षान्ति आदि गुण, धार्मिक पुरुषों के दर्शन, सेवा और सत्कार, ये **शुभ नाम** यावत् **तीर्थंकर नामकर्म** बन्ध के आस्रव हैं।

१ अरिहंत २ सिद्ध ३ गुरु ४ स्थविर ५ बहुश्रुत ६ गच्छ ७ श्रुतज्ञान ८ तपस्वियों की भक्ति ९ आवश्यकादि क्रिया १० चारित्र ११ ब्रह्मचर्य पालन में अप्रमाद १२ विनय १३ ज्ञानाभ्यास १४ तप १५ त्याग (दान) १६ शुभध्यान १७ प्रवचन-प्रभावना १८ चतुर्विध संघ में समाधि उत्पन्न करना तथा साधुओं की वैयावृत्य करना १९ अपूर्वज्ञान का ग्रहण करना और २० सम्यग्दर्शन की शुद्धि, * इन बीस स्थानकों का प्रथम और चरम तीर्थंकर ने स्पर्श किया है और अन्य तीर्थंकरों ने इनमें से एक, दो अथवा तीन स्थानकों का स्पर्श किया है।

पर-निन्दा, अवज्ञा, उपहास, सद्गुणों का लोप, सत् अथवा असत् दोषों का आरोपण, स्वात्म-प्रशंसा, अपने सत्-असत् गुणों का प्रचार, अपने दोषों को दबाना और जाति आदि

* इन बीस स्थानकों के क्रम में भी अन्तर है और प्रकार भेद से नामों में भी अन्तर है।

—मन, वचन और काया का व्यापार, 'योग' कहलाता है। इन योगों के द्वारा प्राणियों में शुभाशुभ कर्मों का आगमन होता है। शुभाशुभ कर्म के आगमन को ही 'आस्रव' कहते हैं।

जब मन, मैत्री प्रमोदादि भावना से शुभ परिणाम युक्त होता है, तब शुभ कर्म की उत्पत्ति करता है और क्रोधादि कषाय युक्त और इन्द्रियों के विषयों से आक्रान्त होता है, तब अशुभ कर्म का सञ्चय करता है।

श्रुतज्ञान के आश्रय से बोला हुआ सत्य वचन, शुभ कर्म के आस्रव का कारण होता है। इसके विपरीत वचन प्रवृत्ति से, अशुभ कर्म के आस्रव का कारण होता है।

शरीर को बुरी प्रवृत्ति से भली प्रकार से रोक कर, धार्मिक प्रवृत्ति में लगाने से आत्मा शुभकर्म का आस्रव करता है और जीव-घातादि अशुभ कार्यों में निरन्तर लगाये

रहने से अशुभ कर्म का आगमन होता है।

क्रोधादि कषाय, इन्द्रियों के विषय, तीन योग, प्रमाद, अव्रत, मिथ्यात्व, आर्त्त और रौद्र ध्यान आदि अशुभ कर्मों के आस्रव के कारण हैं। इन अशुभ कर्मों से पीछे हटना, यह आस्रव भावना का हेतु है।

भगवान् के 'वराह' आदि ८८ गणधर हुए। २००००० साधु, १२०००० साध्वियें, ८४०० अवधिज्ञानी, १५०० चौदह पूर्वधर, ७५०० मनःपर्यवज्ञानी, ७५०० केवलज्ञानी, १३००० वैक्रिय-लब्धि वाले, ६००० वादलब्धि वाले, २२९००० श्रावक और ४७२००० श्राविकाएँ हुईं।

आयुष्य-काल निकट आने पर प्रभु सम्मेदशिखर पर्वत पर एक हजार मुनियों के साथ पधारे। एक मास का अनशन हुआ और कार्तिक-कृष्णा नौमी को मूल-नक्षत्र में, अट्ठाइस पूर्वांग और चार मास कम एक लाख पूर्व तक तीर्थंकर पद भोग कर मोक्ष पधारे। प्रभु का कुल आयु दो लाख पूर्व का था।

धर्म-विच्छेद और असंयती-पूजा

प्रभु के निर्वाण के बाद कुछ काल तक तो धर्मशासन चलता रहा, किन्तु बाद में हुंडावसर्पिणी काल के दोष से श्रमण-धर्म का विच्छेद हो गया। एक भी साधु नहीं रहा। लोग, वृद्ध श्रावकों से धर्म का स्वरूप जानने लगे। श्रावक ही धर्म सुनाते, तब श्रोतागण श्रावकों की अर्थ-पूजा करने लगे। वे श्रावक भी अर्थ-पूजा के लोभी बन गए। उन्होंने नये-नये शास्त्र रचे और दान के फल का महत्व बढ़ा-चढ़ा कर बताने लगे। फिर वे पृथ्वी-दान, लोहदान, तिलदान, स्वर्णदान, गृहदान, गोदान, अश्वदान, गजदान, शय्यादान और कन्यादान आदि का प्रचार कर के वैसा दान ग्रहण करने लगे। वे अपने को दान ग्रहण करने योग्य महापात्र बतला कर और दूसरों को कुपात्र कह कर निन्दा करने लगे। वे स्वयं लोगों के गुरु बन गए। इस प्रकार भ० सुविधिनाथजी का तीर्थ विच्छेद हो कर असंयत-अविरत की पूजा होने लगी।

नौवें तीर्थंकर
भगवान्
॥ सुविधिनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी को पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में घातीकर्मों का क्षय कर के केवलज्ञान-केवल-दर्शन प्राप्त किया। इन्द्रादि देवों ने केवल-महोत्सव किया।

धर्मदेशना

संवर भावना

केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद भगवान् ने प्रथम धर्मोपदेश में फरमाया—

"इस संसार में सभी पौद्गलिक पदार्थ, विविध प्रकार के दुःख के कारण हैं और क्षणिक हैं। पौद्गलिक-रुचि ही आस्रव की मूल और दुःख की सर्जक है और आस्रव का निरोध करना 'संवर' है। संवर अनन्त सुखों के भण्डार रूप मोक्ष को प्राप्त करने का साधन है।

संवर दो प्रकार का है—१ द्रव्य संवर और २ भाव संवर। जिससे कर्म-पुद्गलों का ग्रहण रुके, वह द्रव्य-संवर है और जिससे संसार की हेतु ऐसी परिणति और क्रिया का त्याग हो, वह भाव-संवर है। जिन-जिन उपायों से जिस-जिस आस्रव का निरोध हो, उस आस्रव की रोक के लिए बुद्धिमानों को वैसे ही उपाय करना चाहिये। संवर धर्म के वे उपाय इस प्रकार हैं—

क्षमा—सहनशीलता से क्रोध के आस्रव को रोकना चाहिए। कोमलता (नम्रता) से मान का, सरलता से माया का और निस्पृहता से लोभ का। इस प्रकार चार प्रकार की संवरमय साधना से, संसार के सब से बड़े आस्रव रुक जाते हैं।

बुद्धिशाली मनुष्य का कर्तव्य है कि असंयम से उन्मत्त बने हुए, विष के समान विषयों का, अखण्ड संयम के द्वारा निरोध करे। मन वचन और काया के योग जन्य आस्रव को, तीन गुप्तियों के अंकुश से वश में करना चाहिए।

मद्य एवं विषय-कषायादि प्रमाद आस्रव का अप्रमत्त भाव से संवरण करना और सभी प्रकार के सावद्य-योग के त्याग के द्वारा अविरति को रोक कर विरति रूपी संवर की आराधना करनी चाहिए।

संवर की साधना करने वाले को सर्व-प्रथम सम्यग्दर्शन के द्वारा मिथ्यात्व के महान् आस्रव को बन्द कर देना चाहिए।

य: कर्मपुद्गलादानच्छेदः स द्रव्य-संवरः ।
भवहेतु क्रियात्यागः स पुनर्भाव-संवरः ॥२॥
"येन-येनह्युपायेन रुध्यते यो य आश्रवः ।
तस्य-तस्य निरोधाय, स स योज्यो मनीषिभिः ॥३॥
क्षमया मृदुभावेन, ऋजुत्वेनाप्यनीहया ।
क्रोधं मानं तथा मायां, लोभं रुंध्याद्यथाक्रमम् ॥४॥
असंयमकृतोत्सेकान्, विषयान् विषसंनिभान् ।
निराकुर्यादखंडेन संयमेन महामतिः ॥५॥
त्रिसृभिर्गुप्तिभिर्योगान् प्रमादं चाप्रमादतः ।
सावद्ययोगहानेनाविरतिं चापि साधयेत् ॥६॥
सद्दर्शनेन मिथ्यात्वं, शुभस्थैर्येण चेतसः ।
विजयेतार्तरौद्रे च, संवरार्थं कृतोद्यमः ॥७॥

इन सात श्लोकों में इस देशना का सार आ गया है। संवर के द्वारा सभी प्रकार के अशुभ कर्मों के, आत्मा में प्रवेश करने के द्वार वन्द किये जाते हैं। संवर उस फौलादी कवच का नाम है, जिसके द्वारा आत्म-सम्राट की पूर्ण रूप से रक्षा होती है। संवर रूपी रक्षक के सद्भाव में विषय-कषायादि चोर, आत्मा के ज्ञानादि गुणों और सुख-शान्ति नहीं चुरा सकते।

संवर के व्यवहार दृष्टि से २० भेद इस प्रकार हैं—

१ मिथ्यात्व आस्रव को रोक कर 'सम्यक्त्व' गुण की रक्षा करना, इसी प्रकार २ विरति ३ अप्रमत्तता ४ कषाय त्याग ५ अशुभ योगों का त्याग ६ प्राणातिपात विरमण ७ मृषावाद विरमण ८ अदत्तादान विरमण ९ मैथुन त्याग १० परिग्रह त्याग ११ श्रोतेन्द्रिय संवर १२ चक्षुइन्द्रिय संवर १३ घ्राणेन्द्रिय संवर १४ रसनेन्द्रिय निरोध १५ स्पर्शनेन्द्रिय संवर १६ मन संवर १७ वचन संवर १८ काय संवर १९ भण्डोपकरण उठाते-रखते अयतना से होने वाले आस्रव का निरोध और २० सूचि-कुशाग्र मात्र लेने रखने में सावधानी रखना।

दूसरी अपेक्षा से संवर के ५७ भेद इस प्रकार हैं—

५ पाँच समिति ६–८ तीन गुप्ति ९–३० बाईस परीषह सहन करना ३१–४० क्षमादि दस प्रकार का यतिधर्म ४१–५२ अनित्यादि बारह भावना और ५३–५७ सामा-

भ० श्रेयांसनाथजी

—:※:—

पुष्करवर दीपार्द्ध के 'कच्छ' नाम के विजय में 'क्षेमा' नाम की एक नगरी थी। 'नलिनिगुल्म' नाम का राजा वहाँ का अधिपति था। उसके मन्त्री बड़े कुशल और योग्य थे। उसका धन-भण्डार भरपूर था। हाथी, घोड़े और सेना विशाल तथा शक्तिशाली थी। इस प्रकार धन, सम्पत्ति, बल और प्रताप में बढ़-चढ़ कर होने पर भी नरेश, धन, यौवन और लक्ष्मी को असार मान कर अति लुब्ध नहीं हुआ था। कामभोग के प्रति उसकी उदासीनता बढ़ रही थी। अंत में उन्होंने राजपाट छोड़ कर वज्रदत्त मुनि के समीप निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार कर ली और उग्र साधना तथा तप से आत्मा को पवित्र करते हुए तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध कर लिया। प्रशस्त ध्यान युक्त काल कर के महाशुक्र नाम के सातवें देवलोक में उत्पन्न हुए।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में सिंहपुर नाम का एक समृद्ध नगर था। 'विष्णुराज' नरेश वहाँ के अधिपति थे। उनकी रानी का नाम भी 'विष्णु' था। देवलोक से नलिनि-गुल्म मुनि का जीव अपना उत्कृष्ट आयु पूर्ण कर के विष्णुदेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। विष्णुदेवी ने चौदह महा स्वप्न देखे। भाद्रपद-कृष्णा द्वादशी को 'श्रवण' नक्षत्र में पुत्र का जन्म हुआ। श्रेयस्कारी प्रभाव के कारण माता-पिता ने 'श्रेयांस' नाम दिया। यौवनवय में राजकुमारियों के साथ लग्न किये। २१००००० वर्ष तक कुमार-पद पर रह कर, पिता द्वारा प्रदत्त राज्य के अधिकारी हुए। ४२००००० वर्षों तक राज किया। इसके बाद विरक्त हो कर वर्षीदान दिया और फाल्गुन-कृष्णा १३ के दिन श्रवण-नक्षत्र में, बेले के तप के साथ प्रव्रज्या स्वीकार की। प्रभु का प्रथम पारणा सिद्धार्थ नगर के नन्द राजा के यहाँ परमान्न से हुआ। पाँच दिव्य प्रकट हुए।

धर्मदेशना

निर्जरा भावना

भगवान् ने अपनी देशना में फरमाया कि—

"स्वयंभूरमण समुद्र' सब से बड़ा है, किन्तु संसार-समुद्र तो उससे भी अधिक बड़ा है। इसमें कर्म रूपी उर्मियों के कारण जीव कभी ऊँचा उठ जाता है, तो कभी नीचे गिर जाता है और कभी तिरछा चला जाता है। कभी देव बन जाता है, कभी नारक और कभी निगोद का क्षुद्रतम प्राणी। इस प्रकार कर्म से प्रेरित जीव, विविध अवस्थाओं में परिवर्तित होता रहता है। जिस प्रकार वायु से स्वेद-बिन्दु तथा औषधी से रस झर जाता है, उसी प्रकार निर्जरा के बल से, संसार-समुद्र में डुबने के कारणभूत आठों कर्म झर जाते हैं— आत्मा से विलग हो जाते हैं। जिनमें संसार रूपी महावृक्ष के बीज भरे हुए हैं, ऐसे कर्मों का जिस शक्ति के द्वारा पृथक्करण होता है, उसे 'निर्जरा' कहते हैं।

निर्जरा के 'सकाम' और 'अकाम' ऐसे दो भेद हैं। जो यम-नियम के धारक हैं, उन्हें सकाम-निर्जरा होती है और अन्य प्राणियों को अकाम-निर्जरा होती है। फल के समान कर्मों की परिपक्वता अपने-आप भी होती है और प्रयत्न विशेष से भी होती है। जिस प्रकार दूषित स्वर्ण, अग्नि के द्वारा शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार तप रूपी अग्नि से आत्मा के दोष दूर हो कर शुद्धि हो जाती है। यह तप दो प्रकार का है—१ बाह्य और २ आभ्यन्तर।

बाह्य तप—१ अनशन २ ऊनोदरी ३ वृत्ति-संक्षेप ४ रस-त्याग ५ काय-क्लेश और ६ संलीनता। बाह्य तप के ये छह प्रकार हैं।

आभ्यन्तर तप के छह भेद इस प्रकार हैं—१ प्रायश्चित्त २ विनय ३ वैयावृत्य ४ स्वाध्याय ५ शुभध्यान और ६ व्युत्सर्ग।

बाह्य और आभ्यन्तर तप रूपी अग्नि को प्रज्वलित कर के व्रतधारी पुरुष, अपने दुर्जर कर्मों को भी जला कर भस्म कर देता है।

जिस प्रकार किसी सरोवर के, पानी आने के सभी द्वार बन्द कर देने से उसमें बाहर से पानी नहीं आ सकता, उसी प्रकार संवर से युक्त आत्मा के आस्रव द्वार बन्द होने पर नये कर्म का योग नहीं हो सकता। जिस प्रकार सूर्य के प्रचण्ड ताप से सरोवर में रहा हुआ पानी सूख जाता है, उसी प्रकार आत्मा के पूर्व बँधे हुए कर्म, तपश्चर्या के ताप से तत्काल क्षय हो जाते हैं। बाह्य-तप से आभ्यन्तर तप श्रेष्ठ होता है। इससे निर्जरा विशेष होती है। मुनिजन कहते हैं कि आभ्यन्तर तप में भी ध्यान का राज्य तो एकछत्र रहा हुआ है। ध्यानस्थ रहे हुए योगियों के चिरकाल से उपार्जन किये हुए प्रबल कर्म, तत्काल निर्जरीभूत हो जाते हैं। जिस प्रकार शरीर में बढ़ा हुआ दोष, लंघन करने से नष्ट होता है, उसी प्रकार तप करने से, पूर्व के संचित किये हुए कर्म क्षय हो जाते हैं।

जिस प्रकार प्रचण्ड पवन के वेग से बादलों का समूह छिन्न-भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार तपश्चर्या से कर्म-समूह विनष्ट हो जाता है। जब संवर और निर्जरा, प्रतिक्षण शक्ति के साथ उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं, तब वे अवश्य ही मोक्ष की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं।

बाह्य और आभ्यन्तर ऐसे दोनों प्रकार की तपस्या से कर्मों को जलाने वाला प्रज्ञावंत पुरुष, सभी कर्मों से मुक्त हो कर मोक्ष के परम उत्कृष्ट एवं शाश्वत सुख को प्राप्त करता है।

"संसारबीजभूतानां, कर्मणां जरणादिह।
निर्जरा सा स्मृता द्वेधा, सकामा कामवर्जिता ॥१॥
ज्ञेया सकामा यमिनामकामा त्वन्यदेहिनां।
कर्मणां फलवत्पाको, यदुपायात्स्वतोऽपि च ॥२॥
सदोषमपि दीप्तेन, सुवर्णं वह्निना यथा।
तपोग्निना तप्यमानस्तथा जीवो विशुध्यति ॥३॥
अनशनमौनोदर्यं वृत्तेः संक्षेपणं तथा।
रसत्यागस्तनुक्लेशो, लीनतेति बहिस्तपः ॥४॥

प्रायश्चित्तं वैयावृत्यं, स्वाध्यायो विनयोऽपि च ।
व्युत्सर्गोऽथ शुभं ध्यानं, षोढेत्याभ्यंतरं तपः ॥५॥
दीप्यमाने तपोवह्नौ, बाह्ये चाभ्यंतरेऽपि च ।
यमी जरति कर्माणि, दुर्जराण्यपि तत्क्षणात् ॥६॥

साधारणतया जहां संवर है वहां अकाम-निर्जरा होती रहती है, किंतु तप द्वारा की हुई निर्जरा विशेष रूप से होती है । इससे आत्मा की शुद्धि शीघ्रतापूर्वक होती है ।

त्रिपृष्ट वासुदेव चरित्र
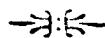
महाविदेह क्षेत्र में 'पुंडरिकिनी' नगरी थी । सुबल नाम का राजा वहां राज करता था । उसने वैराग्य प्राप्त कर 'मुनिवृषभ' नाम के आचार्य के पास दीक्षा ग्रहण की और संयम तथा तप का अप्रमत्तपने उत्कृष्ट रूप से पालन करते हुए काल कर के अनुत्तर विमान में देव रूप में उत्पन्न हुए ।

भरत-क्षेत्र के राजगृह नगर में 'विश्वनंदी' नाम का राजा था । उसकी 'प्रियंगु' नाम की पत्नी से 'विशाखनन्दी' नाम का पुत्र हुआ । विश्वनन्दी राजा के 'विशाखभूति' नाम का छोटा भाई था । वह 'युवराज' पद का धारक था । वह बड़ा बुद्धिमान्, बलवान्, नीतिवान् और न्यायी था, साथ ही विनीत भी । विशाखभूति की 'धारिनी' नाम की रानी की उदर से, मरीचि का जीव (जो प्रथम चक्रवर्ती महाराज भरतेश्वर का पुत्र था और भ० आदिनाथ के पास से निकल कर पृथक् पंथ चला रहा था) पुत्रपने उत्पन्न हुआ । उसका नाम 'विश्वभूति' रखा गया । वह सभी कलाओं में प्रवीण हुआ । यौवन-वय आने पर अनेक सुन्दर कुमारियों के साथ उसका लग्न किया गया । वहाँ 'पुष्प-करंडक' नाम का उद्यान बड़ा सुन्दर और रमणीय था । उस नगरी में सर्वोत्तम उद्यान यही

था। राजकुमार विश्वभूति अपनी स्त्रियों के साथ उसी उद्यान में रह कर विषय-सुख में लीन रहने लगा।

एक बार महाराज विश्वनन्दी के पुत्र राजकुमार विशाखनन्दी के मन में, इस पुष्प-करंडक उद्यान में अपनी रानियों के साथ रह कर क्रीड़ा करने की इच्छा हुई। किंतु उस उद्यान में तो पहले से ही विश्वभूति जमा हुआ था। इसलिए विशाखनन्दी वहाँ जा ही नहीं सकता था। वह मन मार कर रह गया। एक बार महारानी की दासियाँ उस उद्यान में फूल लेने गईं। उन्होंने विश्वभूति और उसकी रानियों को उन्मुक्त क्रीड़ा करते देखा। उनके मन में डाह उत्पन्न हुई। उन्होंने महारानी से कहा—

"महारानीजी ! इस समय वास्तविक राजकुमार तो मात्र विश्वभूति ही है। वही सर्वोत्तम ऐसे पुष्पकरण्डक उद्यान का उपभोग कर रहा है और अपने राजकुमार तो उससे वंचित रह कर मामूली जगह रहते हैं। यह हमें तो बहुत बुरा लगता है। महाराजाधिराज एवं राजमहिषी का पाटवी कुमार, साधारण ढंग से रहे और छोटा भाई का लड़का राजाधिराज के समान सुख-भोग करे, यह कितनी बुरी बात है ?"

महारानी को बात लग गई। उनके मन में भी द्वेष की चिनगारी पैठ गई और सुलगने लगी। महाराज अन्तःपुर में आये। रानी को उदास देख कर पूछा। राजा ने रानी को समझाया—"प्रिये ! यह ऐसी बात नहीं है जिससे मन मैला किया जाय। कुछ दिन विश्वभूति रह ले, फिर वह अपने आप वहाँ से हट कर भवन में आ जायगा और विशाख-नन्दी वहाँ चला जायगा। छोटी-सी बात में कलह उत्पन्न करना उचित नहीं है।" किन्तु रानी को संतोष नहीं हुआ। अन्त में महाराजा ने रानी की मनोकामना पूर्ण करने का आश्वासन दिया, तब संतोष हुआ।

राजा ने एक चाल चली। उसने युद्ध की तय्यारियाँ प्रारम्भ की। सर्वत्र हलचल मच गई। यह समाचार विश्वभूति तक पहुँचा, तो वह तुरन्त महाराज के पास आया और महाराज से युद्ध की तय्यारियों का कारण पूछा। महाराजा ने कहा,—

"वत्स ! अपना सामन्त पुरुषसिंह विद्रोही बन गया है। वह उपद्रव मचा कर राज्य को छिन्न-भिन्न करना चाहता है। उसे अनुशासन में रखने के लिए युद्ध आवश्यक हो गया है।"

"पूज्यवर ! इसके लिये स्वयं आपका पधारना आवश्यक नहीं है। मैं स्वयं जा कर उसके विद्रोह को दबा दूँगा और उसकी उद्दंडता का दण्ड दे कर सीधा कर दूंगा। आप

मुझे आज्ञा दीजिए।"

राजा यही चाहता था। विश्वभूति सेना ले कर चल दिया। उसकी पत्नियाँ उद्यान में से राज भवन में आ गईं। विश्वभूति की सेना उस सामंत की सीमा में पहुँची, तो वह स्वयं स्वागत के लिए आया और उसने कुमार का भव्य आदर-सत्कार किया। कुमार ने देखा कि यहाँ तो उपद्रव का चिन्ह भी नहीं है। सामन्त, पूर्ण रूप से आज्ञाकारी है। उसके विरुद्ध युद्ध करने का कोई कारण नहीं है। कदाचित् किसी ने असत्य समाचार दिये होंगे। वह सेना ले कर लौट आया और उसी पुष्पकरण्डक उद्यान में गया। उद्यान में प्रवेश करते उसे पहरेदार ने रोका और कहा—"यहाँ राजकुमार विशाखनन्दी अपनी रानियों के साथ रहते है। अतएव आपका उद्यान में पधारना उचित नहीं होगा।"

अब विश्वभूति समझा। उसने सोचा कि 'मुझे उद्यान में से हटाने के लिए ही युद्ध की चाल चली गई।' उसे क्रोध आया। अपने उस क्रोध के वश हो कर निकट ही रहे हुए एक फलों से लदे हुए सुदृढ़ वृक्ष पर मुक्का मारा। मुष्ठि-प्रहार से उसके सभी फल टूट कर गिर पड़े और पृथ्वी पर ढेर लग गया। फलों के उस ढेर की ओर संकेत करते हुए विश्वभूति ने द्वारपाल से कहा;—

"यदि पूज्यवर्ग की आशातना का विचार मेरे मन में नहीं होता, तो मैं अभी तुम सब के मस्तक इन फलों के समान क्षण-मात्र में नीचे गिरा देता।"

"धिक्कार है इस भोग-लालसा को। इसी के कारण कूड़-कपट और ठगाई होती है। इसी के कारण पिता-पुत्र, भाई-भाई और अपने आत्मीय से छल-प्रपञ्च किये जाते हैं। मुझे पापों की खान ऐसे कामभोग को ही लात मार कर निकल जाना चाहिए"—इस प्रकार निश्चय कर के विश्वभूति वहाँ से चला गया और संभूति नाम के मुनि के पास पहुँच कर साधु बन गया। जब ये समाचार महाराज विश्वनन्दी ने सुने, तो वे अपने समस्त परिवार और अन्तःपुर के साथ विश्वभूति के पास आये और कहने लगे;—

"वत्स! तेने यह क्या कर लिया? अरे, तू सदैव हमारी आज्ञा में चलने वाला रहा, फिर बिना हमको पूछे यह दुःसाहस क्यों किया?"

महाराज ने आगे कहा—"पुत्र! मुझे तुझ पर पूरा विश्वास था। मैं तुझे अपना कुलदीपक और भविष्य में राज्य की धुरा को धारण करने वाला पराक्रमी पुरुष के रूप में देख रहा था। किंतु तूने यह साहस कर के हमारी आशा को नष्ट कर दिया। अब भी समझ और साधुता को छोड़ कर हमारे साथ चल। हम सब तेरी इच्छा का आदर करेंगे।

पुष्पकरण्डक उद्यान सदा तेरे लिए ही रहेगा। छोड़ दे इस हठ को और शीघ्र ही हमारे साथ हो जा।"

राजा, अपने माता-पिता, पत्नियाँ और समस्त परिवार के आग्रह और स्नेह तथा करुणापूर्ण अनुरोध की उपेक्षा करते हुए मुनि विश्वभूतिजी ने कहा;--

"अब मैं संसार के बन्धनों को तोड़ चुका हूँ। काम-भोग की ओर मेरी बिल्कुल रुचि नहीं रही। जिस काम-भोग को मैं सुख का सागर मानता था और संसार के प्राणी भी यही मान रहे हैं, वास्तव में वे दुःख की खान रूप है। स्नेही-सम्बन्धी अपने मोह-पाश में बाँध कर संसार रूपी कारागृह का बन्दी बनाये रखते हैं और मोही जीव अपनी मोहजाल का विस्तार करता हुआ उसी में उलझ जाता है। मैं अनायास ही इस मोह-जाल को नष्ट कर के स्वतन्त्र हो चुका हूँ। यह मेरे लिए आनन्द का मार्ग है। अब आप लोग मुझे संसार में नहीं ले जा सकते। मैं तो अब विशुद्ध संयम और उत्कृष्ट तप की आराधना करूँगा। यही मेरे लिए परम श्रेयकारी है।"

मुनिराज श्री विश्वभूतिजी का ऐसा दृढ़ निश्चय जान कर परिवार के लोग हताश हो गए और लौट कर चले गये। मुनिराज अपने तप-संयम में मग्न हो कर अन्यत्र विचरने लगे।

मुनिराज ने ज्ञानाभ्यास के साथ बेला-तेला आदि तपस्या करते हुए बहुत वर्ष व्यतीत किये। इसके बाद गुरु की आज्ञा ले कर उन्होंने 'एकल-विहार प्रतिमा' धारण की और विविध प्रकार के अभिग्रह धारण करते हुए वे मथुरा नगरी के निकट आये। उस समय मथुरा नगरी के राजा की पुत्री के लग्न हो रहे थे। विशाखनन्दी बरात ले कर आया था और नगर के बाहर विशाल छावनी में बरात ठहरी थी। मुनिराजश्री विश्वभूतिजी, मासखमण के पारणे के लिए नगर की ओर चले। वे बरात की छावनी के निकट हो कर जा रहे थे कि बरात के लोगों ने मुनिश्री को पहिचान लिया और एक दूसरे से कहने लगे—"ये विश्वभूति कुमार हैं।" यह सुन कर विशाखनन्दी भी उनके पास आया। उनके मन में पूर्व का द्वेष शेष था। उसी समय मुनिश्री के पास हो कर एक गाय निकली। उसके धक्के से मुनिराज गिर पड़े। उनके गिरने पर विशाखनन्दी हँसा और व्यंगपूर्वक बोला—

"वृक्ष पर मुक्का मार कर फल गिराने और उसी प्रकार क्षणभर में योद्धाओं के मस्तक गिरा कर ढेर करने की अभिमानपूर्ण बातें करने वाले महाबली! कहाँ गया तेरा वह बल, जो गाय की मामूली-सी टक्कर भी सहन नहीं कर सका और पृथ्वी पर गिर पड़

धूल चाटने लगा ? वाह रे महाबली !"

तपस्वी मुनिजी उसके मर्मान्तक व्यंग को सहन नहीं कर सके । उनकी आत्मा में सुप्तरूप से रहा हुआ क्रोध भड़क उठा । उन्होंने उसी समय उस गाय के दोनों सींग पकड़ कर उसे उठा ली और घास के पूले के समान चारों ओर घुमा कर फेंक दी । इसके बाद वे मन में विचार करने लगे कि "यह विशाखनन्दी कितना दुष्ट है । मैं मुनि हो गया । अब इसके स्वार्थ में मेरी ओर से कोई बाधा नहीं रही, फिर भी यह मेरे प्रति द्वेष रखता है और शत्रु के समान व्यवहार करता है ।" इस प्रकार कषाय भाव में रमते हुए उन्होंने निदान किया कि—

"मेरे तप के प्रभाव से आगामी भव में मैं महान् पराक्रमी बनूं ।"

इस प्रकार निदान कर के और उसकी शुद्धि किये बिना ही काल कर के वे महाशुक्र नाम के सातवें स्वर्ग में महान् प्रभावशाली एवं उत्कृष्ट स्थिति वाले देव बने ।

दक्षिण-भरत में पोतनपुर नाम का एक नगर था । 'रिपुप्रतिशत्रु' नामक नरेश वहाँ के शासक थे । वे न्याय, नीति, बल, पराक्रम, रूप और ऐश्वर्य से सम्पन्न और शोभायमान थे । उनकी अग्रमहिषी का नाम भद्रा था । वह पतिभक्ता, शीलवती और सद्गुणों पात्र थी । वह सुखमय शय्या में सो रही थी । उस समय 'सुबल' मुनि का जीव अनुत्तर विमान से च्यव कर महारानी की कुक्षि में आया । महारानी ने हस्ति, वृषभ, चन्द्र और पूर्ण सरोवर ऐसे चार महास्वप्न देखे । गर्भकाल पूर्ण होने पर पुत्र का जन्म हुआ । जन्मोत्सवपूर्वक पुत्र का नाम 'अचल' रखा । कुछ काल के बाद भद्रा महारानी ने एक सुन्दर कन्या को जन्म दिया । वह कन्या मृग के बच्चे के समान आँखों वाली थी, इसलिए उसका 'मृगावती' नाम रखा गया । वह चन्द्रमुखी, यौवनावस्था में आई, तब सर्वांग सुन्दरी दिखाई देने लगी । उसका एक-एक अंग सुगठित और आकर्षक था । यह देख कर उसकी माता महारानी भद्रावती को उसके योग्य वर खोजने की चिन्ता हुई । उसने सोचा— "महाराज का ध्यान अभी पुत्री के लिए वर खोजने की ओर नहीं गया है । राजकुमारी यदि पिताश्री के सामने चली जाय, तो उन्हें भी वर के लिए चिन्ता होगी ।" इस प्रकार सोच कर उसने राजकुमारी को महाराज के पास भेजी । दूर से एक अपूर्व सुन्दरी को आते देख कर राजा मोहाभिभूत हो गया । उसने सोचा—"यह तो कोई स्वर्ग लोक की अप्सरा है । कामदेव के अमोघ शस्त्र रूप में यह अवतरी है । पृथ्वी और स्वर्ग का राज्य मिलना सुलभ है, किन्तु इन्द्रानी को भी पराजित करने वाली ऐसी अपूर्व सुन्दरी प्राप्त होना दुर्लभ है । मैं महान् भाग्यशाली हूँ जो मुझे ऐसा अलौकिक स्त्री-रत्न प्राप्त हुआ है ।"

राजा इस प्रकार सोच ही रहा था कि राजकुमारी ने पिता को प्रणाम किया। राजा ने उसे अपने निकट बिठाई और उसका आलिंगन और चुम्बन कर के साथ में रहे हुए वृद्ध कंचुकी के साथ पुनः अन्तःपुर में भेज दी। राजा उस पर मोहित हो चुका था। वह यह तो समझता ही था कि पुत्री पर पिता की कुबुद्धि होना महान् दुष्कृत्य है। यदि मैं अपनी दुर्वासना को पूरी करूँगा, तो संसार में मेरी महान् निन्दा होगी। वह न तो अपनी वासना के वेग को दबा सकता था और न लोकापवाद की ही उपेक्षा कर सकता था। उसने बहुत सोच-विचार कर एक मार्ग निकाला।

राजा ने एक दिन राजसभा बुलाई। मंत्री-मण्डल के अतिरिक्त प्रजा के प्रमुख व्यक्तियों को भी बुलाया। सभी के सामने उसने अपना यह प्रश्न उपस्थित किया;—

"मेरे इस राज में, नगर में, गाँव में, घर में या किसी भी स्थान पर कोई रत्न उत्पन्न हो, तो उस पर किसका अधिकार होना चाहिए?"

—"महाराज! आपके राज में जो रत्न उत्पन्न हो, उसके स्वामी तो आप ही हैं, दूसरा कोई भी नहीं"—मन्त्री-मण्डल और उपस्थित सभी सभाजनों ने एक मत से उत्तर दिया।

"आप पूरी तरह सोच लें और फिर अपना मत बतलावें यदि किसी का भिन्न मत हो, तो वह भी स्पष्ट बता सकता है"—स्पष्टता करते हुए राजा ने फिर पूछा। सभाजनों ने पुनः अपना मत दुहराया। राजा ने फिर तीसरी बार पूछा;—

—"तो आप सभी का एक ही मत है कि—"मेरे राज, नगर, गाँव या घर में उत्पन्न किसी भी रत्न का एकमात्र मैं ही स्वामी हूँ। दूसरा कोई भी उसका अधिकारी नहीं हो सकता।"

—"हां महाराज! हम सभी एक मत हैं। इस निश्चय में किसी का भी मतभेद नहीं है"—सभा का अन्तिम उत्तर था।

इस प्रकार सभा का मत प्राप्त कर राजा ने सभा के समक्ष कहा;—

"राजकुमारी मृगावती इस संसार में एक अद्वितीय 'स्त्री-रत्न' है। उसके समान सुन्दरी इस विश्व में दूसरी कोई भी नहीं है। आप सभी ने इस रत्न पर मेरा अधिकार माना है। इस सभा के निर्णय के अनुसार मृगावती के साथ मैं लग्न करूँगा।"

राजा के ऐसे उद्गार सुन कर सभाजन अवाक् रह गए। उन्हें लज्जा का अनुभव हुआ। वे सभी अपने-अपने घर चले गए। राजा ने मायाचारिता से अपनी इच्छा के

राजा ने अपनी पुत्री मृगावती के साथ लग्न कर के उसे पटरानी के पद पर प्रतिष्ठित कर दी और उसके साथ भोग भोगने लगा। कालान्तर में विश्वभूति मुनि का जीव, महाशुक्र देवलोक से च्यव कर मृगावती की कुक्षि में आया। पिछली रात को मृगावती देवी ने सात महास्वप्न देखे। यथा—१ केशरीसिंह २ लक्ष्मीदेवी ३ सूर्य ४ कुंभ ५ समुद्र ६ रत्नों का ढेर और ७ निर्धूम अग्नि। इन सातों स्वप्नों के फल का निर्णय करते हुए स्वप्न पाठकों ने कहा—'देवी के गर्भ में एक ऐसा जीव आया है, जो भविष्य में 'वासुदेव' पद को धारण कर के तीन खण्ड का स्वामी—अर्द्ध चक्री होगा ‡।" यथा समय पुत्र का जन्म हुआ। बालक की पीठ पर तीन बाँस का चिन्ह देख कर 'त्रिपृष्ठ' नाम दिया। बालक दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा। बड़े भाई 'अचल' के ऊपर उसका स्नेह अधिक था। वह विशेषकर अचल के साथ ही रहता और खेलता। योग्य वय पा कर कला-कौशल में शीघ्र ही निपुण हो गया। युवावस्था में पहुँच कर तो वह अचल के समान—मित्र के समान दिखाई देने लगा। दोनों भाई महान् योद्धा, प्रचण्ड पराक्रमी, निर्भीक और वीर शिरोमणि थे। वे दुष्ट एवं शत्रु को दमन करने तथा शरणागत का रक्षण करने में तत्पर रहते थे। दोनों बन्धुओं में इतना स्नेह था कि एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता था। इस प्रकार दोनों का सुखमय काल व्यतीत हो रहा था।

रत्नपुर नगर में मयुरग्रीव नाम का राजा था। नीलांगना उसकी रानी थी। 'अश्वग्रीव' नाम का उसके पुत्र था। वह भी महान् योद्धा और वीर था। उसकी शक्ति भी त्रिपृष्ठ कुमार के लगभग मानी जाती थी। उसके पास 'चक्र' जैसा अमोघ एवं सर्वोत्तम शस्त्र था। वह युद्धप्रिय और महान् साहसी था। उसने अपने पराक्रम से भरत-क्षेत्र के तीन खण्डों पर विजय प्राप्त कर ली और उन्हें अपने अधिकार में कर लिया। सोलह हजार

---

‡ वासुदेव जैसे श्लाघनीय पुरुष की उत्पत्ति, पिता-पुत्री के एकांत निन्दनीय संयोग से हो, यह अत्यन्त ही अशोभनीय है और मानने में हिचक होती है। किन्तु कर्म की गति भी विचित्र है।

बड़े-बड़े राजा, अश्वग्रीव महाराज की आज्ञा में रहने लगे। वह वासुदेव के समान (प्रति-वासुदेव) था। वह एक छत्र साम्राज्य का अधिपति हो गया था।

अश्वग्रीव का होने वाला शत्रु

एक बार अश्वग्रीव के मन में विकल्प उत्पन्न हुआ कि "मैं दक्षिण भरत-क्षेत्र का स्वामी हूँ। अब तक मेरी सत्ता को चुनौती देने वाला कोई दिखाई नहीं दिया, किन्तु भविष्य में मेरे साम्राज्य के लिए भय उत्पन्न करने वाला भी कोई वीर उत्पन्न हो सकता है क्या ?' इस विचार के उत्पन्न होते ही उसने अश्वविन्दु नाम के निष्णात भविष्यवेत्ता को बुलाया और अपना भविष्य बताने के लिए कहा। भविष्यवेत्ता ने विचार कर के कहा—"राजेन्द्र ! जो व्यक्ति आपके चण्डवेग नाम के दूत का पराभव करेगा और पश्चिमी सीमान्त के वन में रहने वाले सिंह को मार डालेगा, वही आपके लिए घातक बनेगा।" भविष्यवेत्ता का कथन सुन कर राजा के मन को आघात लगा। किन्तु अपना क्षोभ दबाते हुए पंडित को पुरस्कार दे कर विदा किया। उसी समय वनपालक की ओर से एक दूत आया और निवेदन करने लगा;—

"महाराजाधिराज की जय हो। मैं पश्चिम के सीमान्त से आया हूँ। यों तो आपके प्रताप से वहाँ सुख-शांति व्याप रही है, किन्तु वन में एक प्रचण्ड केसरीसिंह ने उत्पात मचा रखा है। उस ओर के दूर-दूर तक के क्षेत्र में उसका आतंक छाया हुआ है। पशुओं को ही नहीं, वह तो मनुष्यों को भी अपने जबड़े में दबा कर ले जाता है। अब तक उसने कई मनुष्यों को मार डाला। लोग भयभीत हैं। बड़े-बड़े साहसी शिकारी भी उससे डरते हैं। उसकी गर्जना से स्त्रियों के ही नहीं, पशुओं के भी गर्भ गिर जाते हैं। लोग घर-बार छोड़ कर नगर की ओर भाग रहे हैं। इस दुर्दान्त वनराज का अन्त करने के लिए शीघ्र ही कुछ व्यवस्था होनी चाहिए। मैं यही प्रार्थना करने के लिए सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।"

राजा ने दूत को आश्वासन दे कर विदा किया और स्वयं उपाय सोचने लगा। उसने विचार किया कि भविष्यवेत्ता के अनुसार, शत्रु को पहिचानने का यह प्रथम निमित्त उपस्थित हुआ है। उसने उस प्रदेश की सिंह से रक्षा करने के लिए अपने सामन्त राजाओं को आज्ञा दी। वे क्रमानुसार आज्ञा का पालन करने के लिए जाने लगे।

राजा के मन में खटका तो था ही। उसने एक दिन अपनी सभा से यह प्रश्न किया;—

"साम्राज्य के सामन्त, राजा, सेनापतियों और वीरों में कोई असाधारण शक्तिशाली, परम पराक्रमी, महाबाहु युवक कुमार आपके देखने में आया है ?"

राजा के प्रश्न के उत्तर में मन्त्रियों, सामन्तों और अन्य अधिकारियों ने कहा—

"नरेन्द्र ! आपकी तुलना में ऐसा एक भी मनुष्य नहीं है। आज तक ऐसा कोई देखने में नहीं आया और अब होने की सम्भावना भी नहीं है।"

राजा ने कहा;—

"आपका कथन मिष्टभाषीपन का है, वास्तविक नहीं। संसार में एक से बढ़ कर दूसरा बलवान् होता ही है यह बहुरत्ना वसुन्धरा है। कोई न कोई महाबाहु होगा ही।"

राजा की बात सुन कर एक मन्त्री गम्भीरतापूर्वक बोला;—

"राजेन्द्र ! पोतनपुर के नरेश 'रिपुप्रतिशत्रु' अपर नाम 'प्रजापति' के देवकुमार के समान दो पुत्र हैं। वे अपने सामने अन्य सभी मनुष्यों को घास के तिनके के समान गिनते हैं।"

मन्त्री की बात सुन कर राजा ने सभा विसर्जित की और अपने चण्डवेग नाम के दूत को योग्य सूचना कर के, प्रजापति राजा के पास पोतनपुर भेजा। दूत अपने साथ बहुत से घुड़सवार योद्धा और साज-सामग्री ले कर आडम्बरपूर्वक पोतनपुर पहुँचा। वहाँ प्रजापति की सभा जमी हुई थी। वह अपने सामंत राजाओं, मन्त्रियों, अचल और त्रिपृष्ठ-कुमार, राजपुरोहित एवं अन्य सभासदों के साथ बैठा था। संगीत नृत्य और वादिन्त्र से वातावरण मनोरञ्जक बना हुआ था। उसी समय बिना किसी सूचना के, द्वारपाल की अवगणना करता हुआ, चण्डवेग सभा में पहुँच गया। राजदूत को इस प्रकार अचानक आया हुआ देख कर राजा और सभाजन स्तंभित रह गए। राजदूत का सन्मान करने के लिए राजा स्वयं सिंहासन से उठा और सभाजन भी उठे। राजदूत को आदरपूर्वक आसन पर बिठाया गया और वहाँ के हालचाल पूछे। राजदूत के असमय में अचानक आने से वातावरण एक-दम शांत, उदासीन और गम्भीर बन गया। वादिन्त्र और नाच-गान बन्द हो गए। वादक गायिकाएँ और नृत्यांगनाएँ चली गईं। यह स्थिति राजकुमार त्रिपृष्ठ को अखरी। उसने अपने पास बैठे हुए पुरुष से पूछा;—

"कौन है यह असभ्य, मनुष्य के रूप में पशु, जो समय-असमय का विचार किये बिना ही और अपने आगमन की सूचना दिये बिना ही अचानक सभा में आ घुसा ? और इसका स्वागत करने के लिए पिताजी भी खड़े हो गए ? इसे द्वारपाल ने क्यों नहीं रोका ?"

—"यह महाराजाधिराज अश्वग्रीव का दूत है। दक्षिण भरत के जितने भी राजा

हैं, वे सब अश्वग्रीव के आधीन हैं। वह सब का अधिनायक है। इसीलिए महाराज ने उसे आदर दिया और द्वारपाल ने भी नहीं रोका। स्वामी के कुत्ते को भी दुत्कारा नहीं जाता। उसका भी आदर होता है, तो यह तो महाराजाधिराज अश्वग्रीव का प्रिय राजदूत है। इसको प्रसन्न रखने से महाराजाधिराज भी प्रसन्न रहते हैं। यदि राजदूत को अप्रसन्न कर दिया जाय, तो राज एवं राजा पर भयंकर संकट आ सकता है।"

राजकुमार त्रिपृष्ठ को यह बात नहीं रुचि। उसने कहा;—

"संसार में ऐसा कोई नियम नहीं है कि जिससे अमुक व्यक्ति स्वामी ही रहे और अमुक सेवक ही। यह सब अपनी-अपनी शक्ति के आधीन है। मैं अभी कुछ नहीं कहता, किंतु समय आने पर उस अश्वग्रीव को छिन्नग्रीव (गर्दन छेद) कर भूमि पर सुला दूंगा।" इसके बाद कुमार ने अपने सेवक से कहा;—

"जब यह राजदूत यहाँ से जाने लगे, तब मुझे कहना। मैं इससे बात करूँगा।"

राजदूत चंडवेग ने प्रजापति को राज सम्बन्धी कुछ आज्ञाएँ इस प्रकार दीं, जिस प्रकार एक सेवक को दी जाती है। प्रजापति ने उसकी सभी आज्ञाएँ शिरोधार्य की और योग्य भेंट दे कर सन्मानपूर्वक बिदा किया। राजदूत भी संतुष्ट हो कर अपने साथियों के साथ पोतनपुर से रवाना हो गया। जब राजकुमार त्रिपृष्ठ को राजदूत के जाने का समाचार मिला, तो वे अपने बड़े भाई के साथ तत्काल चल दिये और रास्ते में ही उसे रोक कर कहने लगे;—

"अरे, ओ धीठ पशु! तू स्वयं दूत होते हुए भी महाराजाधिराज के समान घमण्ड करता है। तुझमें इतनी भी सभ्यता नहीं कि सूचना करवाने के बाद सभा में प्रवेश करे। एक राजा भी अपनी प्रजा में किसी गृहस्थ के यहाँ जाता है, तो पहले सूचना करवाता है और उसके बाद वहाँ जाता है। यह एक नीति है। किन्तु तू न जाने किस घमंड में चूर हो रहा है कि बिना सूचना किये ही उन्मत्त की भाँति सभा में आ गया। मेरे पिताश्री ने तेरी इस तुच्छता को सहन कर के तेरा सत्कार किया, यह उनकी सरलता है। किंतु मैं तेरी दुष्टता सहन नहीं कर सकता। बता तू किस शक्ति के घमण्ड पर ऐसा उद्धत बना है? बोल! नहीं, तो मैं अभी तुझे तेरी दुष्टता का फल चखाता हूँ।" रोषपूर्वक इतना कह कर राजकुमार ने मुक्का ताना, किंतु पास ही खड़े हुए बड़े भाई राजकुमार अचल ने रोकते हुए कहा;—

"बस करो बन्धु! इस नर-कीट पर प्रहार मत करो। यह तो बिचारा दूत है। दूत अवध्य होता है। इसकी दुष्टता को सहन कर के इसे जाने दो। यह तुम्हारा आघात

क्या कर बैठो और उसका क्या परिणाम निकले ? अतएव तुम यहीं रहो और शांति से रहो। मैं स्वयं सिह से भिड़ने जाता हूँ।"

"पिताजी ! अश्वग्रीव मूर्ख है। वह बच्चों को भूत से डराने के समान हमें सिह से डराता है। आप प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा दीजिए। हम शीघ्र ही सिह को मार कर आपके चरणों में उपस्थित होंगे।"

बड़ी कठिनाई से पिता की आज्ञा प्राप्त कर के अचल और त्रिपृष्ठ कुमार थोड़े से सेवकों के साथ उपद्रव-ग्रस्त क्षेत्र में आये। उन्हें वहां सैनिकों की अस्थियों के ढेर के ढेर देख कर आश्चर्य हुआ। ये सब बिचारे सिह की विकरालता की भेंट चढ़ चुके थे।

सिह-घात

कुमारों ने इधर-उधर देखा, तो उन्हें कोई भी मनुष्य दिखाई नहीं दिया। जब उन्होंने वृक्षों पर देखा, तो उन्हें कहीं-कहीं कोई मनुष्य दिखाई दिया। उन्होंने उन्हें निकट बुला कर पूछा—

—"यहाँ रक्षा करने के लिए आये हुए राजा लोग, किस प्रकार सिह से इस क्षेत्र की रक्षा करते हैं ?"

—"वे अपने हाथी, घोड़े, रथ और सुभटों का व्यूह बनाते हैं और अपने को व्यूह में सुरक्षित कर लेते हैं। जब विकराल सिह आता है, तो वह व्यूह के सैनिक आदि को मार कर फाड़ डालता है और खा कर लौट जाता है। इस प्रकार उस विकराल सिह से राजाओं की और हमारी रक्षा तो हो जाती है, किन्तु सैनिक और घोड़े आदि मारे जाते हैं। हम कृषक हैं। वृक्षों पर चढ़ कर यह सब देखते रहते हैं"—उनमें से एक बोला।

दोनों कुमार यह सुन कर प्रसन्न हुए। उन्होंने अपनी सेना को तो वहीं रहने दिया और दोनों भाई रथ पर सवार हो कर सिह की गुफा की ओर चले। रथ के चलने से उत्पन्न ध्वनि से वन गुंज उठा। यह अश्रुतपूर्व ध्वनि सुन कर सिह चौंका। वह अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से इधर-उधर देखने लगा। उसकी गर्दन तन गई और केशावलि के बाल चँवर के समान इधर-उधर हो गए। उसने उबासी लेने के लिए मुँह खोला। वह मुँह मृत्यु के मुँह के समान भयंकर था। उसने इधर-उधर देखा और रथ की उपेक्षा करता हुआ पुनः लेट गया। सिह की उपेक्षा देख कर अचलकुमार ने कहा;—

"रक्षा के लिए आये हुए राजाओं ने अपने हाथी घोड़े और सैनिकों का भोग दे कर इस सिंह को घमण्डी बना दिया है।"

त्रिपृष्ठकुमार ने सिंह के निकट जा कर ललकारा। सिंह ने भी समझा कि यह कोई वीर है, निर्भीक है और साहस के साथ लड़ने आया है। वह उठा और रौद्र रूप धारण कर भयंकर गर्जना करने लगा। फिर सावधान हो कर सामने आया। उसके दोनों कान खड़े हो गए। उसकी आँखें दो दीपक के समान थीं। दाढ़ें और दाँत सुदृढ़ और तीक्ष्ण थे तथा यमराज के शस्त्रागार के समान लगते थे। उसकी जिव्हा तक्षक नाग के समान बाहर निकली हुई थी। प्राणियों के प्राणों को खिचने वाले चिंपिये के समान उसके नख थे और क्षुधातुर सर्पवत् उसकी पूंछ हिल रही थी। उसने आगे आ कर क्रोध से पृथ्वी पर पूंछ पछाड़ी, जिसे सुनते ही आस-पास रहे हुए प्राणी भयभीत हो कर भाग गए और पक्षी चिचियाटी करते हुए उड़ गये। वनराज को आक्रमण करने के लिए तत्पर देख कर अचलकुमार रथ से उतरने लगे, तब त्रिपृष्ठकुमार ने उन्हें रोकते हुए कहा—"हे आर्य ! यह अवसर मुझे लेने दीजिए। आप यहीं ठहरें और देखें। फिर वे रथ से नीचे उतरे। उन्होंने सोचा 'सिंह के पास तो कोई शस्त्र नहीं है, इस निःशस्त्र के साथ, शस्त्र से युद्ध करना उचित नहीं।' यह सोच कर उन्होंने भी अपने शस्त्र रख दिए और सिंह को ललकारते हुए बोले—"हे वनराज ! यहाँ आ। मैं तेरी युद्ध की प्यास बुझाता हूँ।" इस गम्भीर घोष को सुनते ही सिंह ने भी उत्तर में गर्जना की और रोषपूर्वक उछला। वह पहले तो आकाश में ऊँचा गया और फिर राजकुमार पर मुंह फाड़ कर उतरा। त्रिपृष्ठकुमार सावधान ही थे। वे उसका उछलना और अपने पर उतरना देख रहे थे। अपने पर आते देख कर उन्होंने अपने दोनों हाथ ऊपर उठाये और ऊपर आते हुए सिंह के ऊपर-नीचे के दोनों ओष्ठ दृढ़तापूर्वक पकड़ लिये और एक झटके में ही कपड़े की तरह चीर कर दो टुकड़े कर के फेंक दिया। सिंह का मरना जान कर लोगों ने हर्षनाद और कुमार का जयजयकार किया। विद्याधरों और व्यन्तर देवों ने पुष्प-वृष्टि की। उधर सिंह के दोनों टुकड़े तड़प रहे थे, अभी प्राण निकले नहीं थे। वह शोकपूर्वक सोच रहा था कि—

"शस्त्र एवं कवचधारी और सैकड़ों सुभटों से घिरे हुए अनेक राजा भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सके। वे मुझसे भयभीत रहते थे और इस छोकरे ने मुझे चीर डाला, यही मेरे लिए महान् खेद की बात है।" इस मानसिक दुःख से वह तड़प रहा था। उसका यह खेद समझ कर रथ के सारथी ने कहा;—

"वनराज ! तू चिंता मत कर। तू किसी कायर की तरह नहीं मरा। तुझे मारने

त्रिपृष्ठकुमार के लग्न

वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणि में 'रथनूपुर चक्रवाल' नाम की अनुपम नगरी थी। विद्याधरराज 'ज्वलनजटी' वहाँ का प्रबल पराक्रमी नरेश था। उसकी अग्रमहिषी का नाम 'वायुवेगा' था। इसकी कुक्षि से सूर्य के स्वप्न से पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम 'अर्ककीर्ति' था। कालान्तर में, अपनी प्रभा से सभी दिशाओं को उज्ज्वल करने वाली चन्द्रलेखा को स्वप्न में देखने के बाद पुत्री का जन्म हुआ। उसका नाम 'स्वयंप्रभा' दिया गया। अर्ककीर्ति, युवावस्था में बड़ा वीर योद्धा बन गया। राजा ने उसे युवराज पद पर स्थापित किया। स्वयंप्रभा भी युवावस्था पा कर अनुपम सुन्दरी हो गई। उसका प्रत्येक अंग सुगठित, आकर्षक एवं मनोहर था। वह अपने समय की अनुपम सुन्दरी थी। उसके समान दूसरी सुन्दरी युवती कहीं भी दिखाई नहीं देती थी। लोग कहते थे कि 'इतनी सुन्दर स्त्री तो देवांगना भी नहीं है।'

एक बार 'अभिनन्दन' और 'गजनन्दन' नाम के दो 'चारणमुनि'† उस नगर के बाहर उतरे। स्वयंप्रभा उन्हें वन्दन करने आई और उपदेशामृत का पान किया। धर्मोपदेश सुन कर स्वयंप्रभा बड़ी प्रभावित हुई। उसे दृढ़ सम्यक्त्व प्राप्त हुआ और धर्म के रंग में

† आकाश में विचरने वाले।

रंग गई। एक वार वह राजा को प्रणाम करने गई। पुत्री के विकसित अंगों को देख कर राजा को चिंता हुई। उसने अपने मन्त्रियों को पुत्री के योग्य वर के विषय में पूछा।

सुश्रुत नामक मन्त्री ने कहा—"महाराज ! इस समय तो महाराजाधिराज अश्वग्रीव ही सर्वोपरि हैं। वे अनुपम सुन्दर, अनुपम वीर और विद्याधरों के इन्द्र समान हैं। उनसे वढ़ कर कोई योग्य वर नहीं हो सकता।"

"नहीं महाराज ! अश्वग्रीव तो अब गत-यौवन हो गया है। ऐसा प्रौढ़ व्यक्ति राजकुमारी के योग्य नहीं हो सकता। उत्तर श्रेणि के विद्याधरों में ऐसे अनेक युवक नरेश या राजकुमार मिल सकते हैं, जो भुजवल, पराक्रम एवं सभी प्रकार की योग्यता से परिपूर्ण हैं। उन्हीं में से किसी को चुनना ठीक होगा"—वहुश्रुत मन्त्री ने कहा।

"महाराज ! इन महानुभावों का कहना भी ठीक है, किन्तु मेरा तो निवेदन है कि उत्तर श्रेणि की प्रभंकरा नगरी के पराक्रमी महाराजा मेघवाहन के सुपुत्र 'विद्युत्प्रभ' सभी दृष्टियों से योग्य एवं समर्थ है। उसकी वहिन 'ज्योतिर्माला' भी देवकन्या के समान सुन्दर है। मेरी दृष्टि में विद्युत्प्रभ और राजकुमारी स्वयंप्रभा, तथा युवराज अर्ककीर्ति और ज्योतिर्माला की जोड़ी अच्छी रहेगी। आप इस पर विचार करें"—सुमति नामक मन्त्री ने कहा।

"स्वामिन् ! वहुत सोच समझ कर काम करना है"—मन्त्री श्रुतसागर कहने लगा—"लक्ष्मी के समान परमोत्तम स्त्री-रत्न की इच्छा कौन नहीं करता ? यदि राजकुमारी किसी एक को दी गई, तो दूसरे क्रुद्ध हो कर कहीं उपद्रव खड़ा नहीं कर दें। इसलिए स्वयंवर करना सव से ठीक होगा। इसमें राजकुमारी की इच्छा पर ही वर चुनने की वात रहेगी और आप पर कोई क्रुद्ध नहीं हो सकेगा।"

इस प्रकार राजा ने मन्त्रियों का मत जान कर सभा विसर्जित की और संभिन्नश्रोत नाम के भविष्यवेत्ता को बुला कर पूछा। भविष्यवेत्ता ने सोच-विचार कर कहा;—

"महाराज ! तीर्थंकर भगवंतों के वचनानुसार यह समय प्रथम वासुदेव के अस्तित्व को वता रहा है। मेरे विचार से अश्वग्रीव की चढ़ती के दिन वीत चुके हैं। उसके जीवन को समाप्त कर, वासुदेव पद पाने वाले परम वीर पुरुष उत्पन्न हो चुके हैं। मैं समझता हूँ कि प्रजापति के कनिष्ठपुत्र त्रिपृष्ठ कुमार जिन्होंने महान् क्रुद्ध एवं वलिष्ठ केसरीसिंह को कपड़े के समान चीर कर फाड़ दिया, वही राजकुमारी के लिए सर्वथा योग्य हैं। उनके समान और कोई नहीं है।"

राजा ने भविष्यवेत्ता का कथन सहर्ष स्वीकार किया और एक विश्वस्त दूत को

प्रजापति के पास सन्देश ले कर भेजा। राजदूत ने प्रजापति से सम्बन्ध की बात कही और भविष्यवेत्ता द्वारा त्रिपृष्ठकुमार के वासुदेव होने की बात भी कही। राजा भी पत्नी को गर्भकाल में आये सात स्वप्नों के फल की स्मृति रखता था। उसने ज्वलनजटी विद्याधर का आग्रह स्वीकार कर लिया। जब दूत ने रथनूपुर पहुँच कर स्वीकृति का सन्देश सुनाया, तो ज्वलनजटी बहुत प्रसन्न हुआ। किन्तु वह प्रसन्नता थोड़ी देर ही रही। उसने सोचा कि—'इस सम्बन्ध की बात अश्वग्रीव जानेगा, तो उपद्रव खड़ा होगा।' अन्त में उसने यही निश्चित किया कि पुत्री को ले कर पोतनपुर जावे और वहीं लग्न कर दे। वह अपने चुने हुए सामन्तों, सरदारों और सैनिकों के साथ कन्या को ले कर चल दिया और पोतनपुर नगर के बाहर पड़ाव लगा कर ठहर गया। प्रजापति उसका आदर करने के लिए सामने गया और सम्मानपूर्वक नगर में लाया। राजा ने उनके निवास के लिए एक उत्तम स्थान दिया, जिसे विद्याधरों ने एक रमणीय एवं सुन्दर नगर बना दिया। इसके बाद विवाहोत्सव प्रारंभ हुआ और बड़े आडम्बर के साथ लग्नविधि पूर्ण हुई।

पत्नी की माँग

त्रिखण्ड की अनुपम सुन्दरी विद्याधरपुत्री स्वयंप्रभा को सामने ले जा कर त्रिपृष्ठ कुमार से व्याहने का समाचार सुन कर, अश्वग्रीव आगबबूला हो गया। भविष्यवेत्ता के कथन और सिंह-वध की घटना के निमित्त से उसके हृदय में द्वेष का प्रादुर्भाव तो हो ही गया था। उसने इस सम्बन्ध को अपना अपमान माना और सोचा—"मैं सार्वभौम सत्ताधीश हूँ। ज्वलनजटी मेरे अधीन आज्ञापालक है। मेरी उपेक्षा कर के अपनी पुत्री त्रिपृष्ठ को कैसे व्याह दी?" उसने अपने विश्वस्त दूत को बुलाया और समझा-बुझा कर ज्वलनवटी के पास पोतनपुर ही भेजा। भवितव्यता उसे विनाश की ओर धकेल रही थी और परिणति, पर-स्त्री की माँग करवा रही थी। विनाशकाल इसी प्रकार निकट आ रहा था। दूत पोतनपुर पहुँचा और ज्वलनजटी के समक्ष आ कर अश्वग्रीव का सन्देश सुनाया और कहा;—

"राजन्! आपने अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ा मारा है। आपको यह तो सोचना था कि रत्न तो रत्नाकर में ही सुशोभित होता है, डाबरे—खड्डे में उसके लिए स्थान नहीं हो सकता। महाराजाधिराज अश्वग्रीव जैसे महापराक्रमी स्वामी की उपेक्षा एवं अवज्ञा कर के आपने अपने विनाश को उपस्थित कर लिया है। अब भी यदि आप अपना हित

चाहते हैं, तो स्वयंप्रभा को शीघ्र ही महाराजाधिराज के चरणों में उपस्थित कीजिये। दक्षिण लोकार्द्ध के इन्द्र के समान, सम्राट अश्वग्रीव की आज्ञा से मैं आपको सूचना करता हूँ कि इसी समय अपनी पुत्री को ले कर चलें।"

दूत के कर्ण-कटु वचन सुन कर भी ज्वलनजटी ने शान्ति के साथ कहा;—

"कोई भी वस्तु किसी को दे-देने के बाद, देने वाले का अधिकार उस वस्तु पर नहीं रहता। फिर कन्या तो एक बार ही दी जाती है। मैंने अपनी पुत्री, त्रिपृष्ठकुमार को दे दी है। अब उसकी माँग करना, किसी प्रकार उचित एवं शोभास्पद हो नहीं सकता। मैं ऐसी माँग को स्वीकार भी कैसे कर सकता हूँ? यह अनहोनी बात है।"

ज्वलनजटी का उत्तर सुन कर, दूत वहाँ से चला गया। वह त्रिपृष्ठकुमार के पास आया और कहने लगा;—

"विश्वविजेता पृथ्वी पर साक्षात इन्द्र के समान महाराजाधिराज अश्वग्रीव ने आदेश दिया है कि "तुमने अनधिकारी होते हुए, चुपके से स्वयंप्रभा नामक अनुपम स्त्री-रत्न को ग्रहण कर लिया। यह तुम्हारी धृष्टता है। मैं तुम्हारा, तुम्हारे पिता का और तुम्हारे बन्धु-बान्धवादि का नियन्ता एवं स्वामी हूँ। मैंने तुम्हारा बहुत दिनों रक्षण किया है। इसलिए इस सुन्दरी को तुम मेरे सम्मुख उपस्थित करो।" आपको इस आज्ञा का पालन करना चाहिए।"

दूत के ऐसे अप्रत्याशित एवं क्रोध को भड़काने वाले वचन सुन कर, त्रिपृष्ठकुमार की भृकुटी चढ़ गई। आँखें लाल हो गई। वे व्यंगपूर्वक कहने लगे;—

"दूत! तेरा स्वामी ऐसा नीतिमान् है? वह इस प्रकार का न्याय करता है? लोकनायक कहलाने वाले की कुलीनता इस माँग में स्पष्ट हो रही है। इस पर से लगता है कि तेरे स्वामी ने अनेक स्त्रियों का शील लूट कर भ्रष्ट किया होगा। कुलहीन, न्याय-नीति से दूर, लम्पट मनुष्य तो उस बिल्ले के समान है जिसके सामने दूध के कुंडे भरे हुए हैं। उनकी रक्षा की आशा कोई भी समझदार नहीं कर सकता। उसका स्वामित्व हम पर तो क्या, परन्तु ऐसी दुष्ट नीति से अन्यत्र भी रहना कठिन है। कदाचित् वह अब इस जीवन से भी तृप्त हो गया हो। यदि उसके विनाश का समय आ गया हो, तो वह स्वयं, स्वयंप्रभा को लेने के लिए यहाँ आवे। बस, अब तू शीघ्र ही यहाँ से चला जा। अब तेरा यहाँ ठहरना मैं सहन नहीं कर सकता।"

प्रथम पराजय

दूत सरोप वहाँ से लौटा। वह शीघ्रता से अश्वग्रीव के पास आया और सारा वृत्तांत कह सुनाया। अश्वग्रीव के हृदय में ज्वाला के समान क्रोध भभक उठा। उसने विद्याधरों के अधिनायक से कहा;—

"देखा ! ज्वलनजटी को कैसी दुर्मति उत्पन्न हुई। वह एक कीड़े के समान होते हुए भी सूर्य से टक्कर लेने को तय्यार हुआ है। वह मूर्ख शिरोमणि है। उसने न तो अपना हित देखा, न अपनी पुत्री का। उसके विनाश का समय आ गया है और प्रजापति भी मूर्ख है। कुलीनता की वड़ी-वड़ी वातें करने वाला त्रिपृष्ठ नहीं जानता कि वह वाप-वेटी के भ्रष्टाचार से उत्पन्न हुआ है। यह त्रिपृष्ठ, अचल का भाई है, या भानजा (वहिन का पुत्र) ? और अचल, प्रजापति का पुत्र है, या साला ? ये कितने निर्लज्ज हैं ? इन्हें वढ़-चढ़ कर वातें करते लज्जा नहीं आती। कदाचित् इनके विनाश के दिन ही आ गये हों ? अतएव तुम सेना ले कर जाओ और उन्हें पद-दलित कर दो।"

विद्याधर लोग भी ज्वलनजटी पर क्रुद्ध थे वे स्वयं भी उससे युद्ध करना चाहते थे। इस उपयुक्त अवसर को पा कर वे प्रसन्न हुए और शस्त्र-सज्ज हो कर प्रस्थान कर दिया। ज्वलनजटी ने शत्रु-सेना को निकट आया जान कर स्वयं रणक्षेत्र में उपस्थित हुआ। उसने प्रजापति, राजकुमार अचल और त्रिपृष्ठ को रोक दिया था। घमासान युद्ध हुआ और अंत में विद्याधरों की सेना हार कर पीछे हट गई और ज्वलनजटी की विजय हुई।

मंत्री का सत्परामर्श

अश्वग्रीव इस पराजय को सहन नहीं कर सका। वह विकराल वन गया। उसने अपने सेनापति और सामन्तों को शीघ्र ही युद्ध का डंका वजाने की आज्ञा दी। तय्यारियाँ होने लगी। एकदम युद्ध की घोषणा सुन कर महामात्य ने अश्वग्रीव से निवेदन किया;—

"स्वामिन् ! आप तो सर्व-विजेता सिद्ध हो ही चुके हैं। तीन खंड के सभी राजाओं को जीत कर आपने अपने आधीन वना लिया है। इस प्रकार आपके प्रवल प्रभाव से सभी प्रभावित हैं। अव आप स्वयं एक छोटे-से राजा पर चढ़ाई कर के विशेष क्या प्राप्त कर लेंगे ? आपके प्रताप में विशेषता कौन-सी आ जायगी ? यदि उस छोटे राजा का भाग्य जोर दे गया, तो आपका प्रभाव तो समूल नष्ट हो जायगा और तीन खण्ड के राज्य पर आपका स्वामित्व नहीं रह सकेगा। रण-क्षेत्र की गति विचित्र होती है। इसके अतिरिक्त भविष्यवेत्ता

के कथन और सिंह के वध से मन में सन्देह भी उत्पन्न हो रहा है। इसलिए प्रभु! इस समय सहनशील बनना ही उत्तम है। बिना विचारे अन्धाधुन्द दौड़ने से महाबली गजराज भी दलदल में गढ़ जाता है और चतुराई से खरगोश भी सफल हो जाता है। अतएव मेरी तो यही प्रार्थना है कि आप इस बार संतोष धारण कर लें। यदि आप सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकें, तो सेना भेज दें, परन्तु आप स्वयं नहीं पधारें।

अपशकुन

महामात्य की बात अश्वग्रीव ने नहीं मानी। इतना ही नहीं, उसने वृद्ध मन्त्री का अपमान कर दिया। वह आवेश में पूर्णरूप से भरा हुआ था। उसने प्रस्थान कर दिया। चलते-चलते अचानक ही उसके छत्र का दण्ड टूट गया और छत्र नीचे गिर गया। छत्र गिरने के साथ ही उसके सवारी के प्रधान गजराज का मद सूख गया। वह पेशाब करने लगा और विरस एवं रूक्षतापूर्वक चिंघाड़ता हुआ नतमस्तक हो गया। चारों ओर रजोवृष्टि होने लगी। दिन में ही नक्षत्र दिखाई देने लगे। उल्कापात होने लगा और कई प्रकार के उत्पात होने लगे। कुत्ते ऊँचा मुँह कर के रोने लगे। खरगोश प्रकट होने लगे, आकाश में चिलें चक्कर काटने लगी। काकारव होने लगा, सिर पर ही गिद्ध एकत्रित हो कर मँडराने लगे और कपोत आ कर ध्वज पर बैठ गया। इस प्रकार अश्वग्रीव को अनेक प्रकार के अपशकुन होने लगे। किंतु उसने इन अनिष्टसूचक प्राकृतिक संकेतों की चाह कर उपेक्षा की और बढ़ता ही गया। कुशकुनों को देख कर उसके साथ आये हुए विद्याधरों, राजाओं और योद्धाओं के मन में भी सन्देह बैठ गया। वे भी उत्साह-रहित हो उदास मन से साथ चलने लगे और रथावर्त्त पर्वत के निकट पड़ाव कर दिया।

पोतनपुर में भी हलचल मच गई। युद्ध की तय्यारियाँ होने लगी। विद्याधरों के राजा ज्वलनजटी ने अचलकुमार और त्रिपृष्ठकुमार से कहा;—

"आप दोनों महावीर हैं। आप से युद्ध कर के अश्वग्रीव अवश्य ही पराजित होगा। वह बल में आप में से किसी एक को भी पराजित नहीं कर सकता। किन्तु उसके पास विद्या है। वह विद्या के बल से कई प्रकार के संकट उपस्थित कर सकता है। इसलिए मैं आपसे आग्रह करता हूँ कि आप भी विद्या सिद्ध कर लें। इससे अश्वग्रीव की सभी चालें व्यर्थ की जा सकेगी।"

ज्वलनजटी की बात दोनों वीरों ने स्वीकार की और दोनों भाई विद्या सिद्ध करने के लिए तत्पर हो गए। ज्वलनजटी स्वयं विद्या सिखाने लगा। सात रात्रि तक मन्त्र साधना चलती रही। परिणामस्वरूप ये विद्याएँ सिद्ध हो गई—

गारुड़ी, रोहिणी, भुवनक्षोभिनी, कृपाणस्तंभिनी, स्थामशुंभनी, व्योमचारिणी, तमिस्त्र-कारिणी, सिंह त्रासिनी, वेगाभिगामिनी, वैरीमोहिनी, दिव्यकामिनी, रंध्रवासिनी, कृशानु-वर्सिणी, नागवासिनी, वारिशोषणी, धरित्रवारिणी, बन्धनमोचनी, विमुक्तकुंतला, नानारूपिणी, लोहश्रृंखला, कालराक्षसी, छत्रदशदिका, क्षणशूलिनी, चन्द्रमौली, रुक्षमालिनी, सिद्धताड़निका, पिंगनेत्रा, वनपेशला, ध्वनिता, अहिफणा, घोषिणी और भीरु-भीषणा। इन नामों वाली सभी विद्याएँ सिद्ध हो गईं। इन सब ने उपस्थित हो कर कहा— 'हम आपके वश में हैं।'

विद्या सिद्ध होने पर दोनों भाई ध्यान-मुक्त हुए। इसके बाद सेना ले कर दोनों भाई प्रजापति और ज्वलनजटी के साथ शुभ मुहूर्त में प्रयाण किया और चलते-चलते अपने सीमान्त पर रहे हुए रथावर्त पर्वत के निकट आ कर पड़ाव डाला। युद्ध के शौर्यपूर्ण बाजे बजने लगे। भाट-चारणादि सुभटों का उत्साह बढ़ाने लगे। दोनों ओर की सेना आमने-सामने डट गई। युद्ध आरम्भ हो गया। बाण-वर्षा इतनी अधिक और तीव्र होने लगी कि जिससे आकाश ही ढँक गया, जैसे पक्षियों का समूह सारे आकाश-मंडल पर छा गया हो। शस्त्रों की परस्पर की टक्कर से आग की चिनगारियाँ उड़ने लगी। सुभटों के शरीर कट-कट कर पृथ्वी पर गिरने लगे। थोड़े ही काल के युद्ध में महाबाहु त्रिपृष्ठकुमार की सेना ने अश्वग्रीव की सेना के छक्के छुड़ा दिये। उसका अग्रभाग छिन्न-भिन्न हो गया। अपनी सेना की दुर्दशा देख कर अश्वग्रीव के पक्ष के विद्याधर कुपित हुए। उन्होंने प्रचण्ड रूप धारण किये। कई विकराल राक्षस जैसे दिखाई देने लगे, तो कई केसरी-सिंह जैसे, कई मदमस्त गजराज, कई पशुराज अष्टापद, बहुत-से चिते, सिंह, वृषभ आदि रूप में त्रिपृष्ठ की सेना पर भयंकर आक्रमण करने लगे। इस अचिन्त्य एवं आकस्मिक पाशविक आक्रमण को देख कर त्रिपृष्ठ की सेना स्तंभित रह गई। सैनिक सोचने लगे कि—'यह क्या है? हमारे सामने राक्षसों और विकराल सिंहों की सेना कहाँ से आ गई? ये तो मनुष्य को फाड़ ही डालेंगे। पर्वत के समान हाथी, अपनी सूँडों में पकड़-पकड़ कर मनुष्यों को चीर डालेंगे। उनके पैरों के नीचे सैकड़ों-हजारों मनुष्यों का कच्चर घाण निकल जायगा, अहा! एक स्त्री के लिए इतना नरसंहार।"

सेना के मनोभाव जान कर ज्वलनजटी आगे आया और उसने त्रिपृष्ठकुमार से

कहा—'यह सब विद्याधरों का माया-जाल है। इसमें वास्तविकता कुछ भी नहीं है। जब इनकी सेना हारने लगी, और हमारी सेना पर इनका जोर नहीं चला, तो ये विद्या के बल से भयभीत करने को तत्पर हुए हैं। यह इनकी कमजोरी है। ये बच्चों को डराने जैसी कायरता पूर्ण चाल चल रहे हैं। इससे भयभीत होने की जरूरत नहीं है। अतएव हे महावीर! उठो और रथारूढ़ हो कर आगे आओ, तथा अपने शत्रुओं को मानरूपी हाथी पर से उतार कर नीचे पटको।"

ज्वलनजटी के वचन सुन कर त्रिपृष्ठकुमार उठे और अपने रथ पर आरूढ़ हुए। उन्हें सन्नद्ध देख कर सेना भी उत्साहित हुई। सेना में उत्साह भरते हुए वे आगे आये। अचल बलदेव भी शस्त्रसज्ज रथारूढ़ हो कर युद्ध-क्षेत्र में आ गये। इधर ज्वलनजटी आदि विद्याधर भी अपने-अपने वाहन पर चढ़ कर मैदान में आ गए। उस समय वासुदेव के पुण्य से आकर्षित हो कर देवगण वहाँ आए और त्रिपृष्ठकुमार को वासुदेव के योग्य 'शार्ंग' नामक दिव्य धनुष, 'कौमुदी' नाम की गदा, 'पांचजन्य' नामक शंख, 'कौस्तुभ' नामक मणि, 'नन्द' नामक खड्ग और 'वनमाला' नाम की एक जयमाला अर्पण की। इसी प्रकार अचल-कुमार को बलदेव के योग्य—'संवर्तक' नामक हल, 'सौनन्द' नामक मुसल और 'चन्द्रिका' नाम की गदा भेंट की। वासुदेव और बलदेव को दिव्य अस्त्र प्राप्त होते देख कर सैनिकों के उत्साह में भरपूर वृद्धि हुई। वे बढ़-चढ़ कर युद्ध करने लगे। उस समय त्रिपृष्ठ वासुदेव ने पांचजन्य शंख का नाद कर के दिशाओं को गुंजायमान कर दिया। प्रलयंकारी मेघ-गर्जना के समान शंखनाद सुन कर अश्वग्रीव की सेना क्षुब्ध हो गई। कितने ही सुभटों के हाथों में से शस्त्र छूट कर गिर गए। कितने ही स्वयं पृथ्वी पर गिर गए। कई भाग गए। कई आँखें बन्द किए संकुचित हो कर बैठ गए, कई गुफाओं और खड्डों में छुप गए और कई थरथर धूजने लगे।

अश्वग्रीव का भयंकर युद्ध और मृत्यु

अपनी सेना को हताश एवं छिन्न-भिन्न हुई देख कर अश्वग्रीव ने सैनिकों से कहा—

"ओ, विद्याधरो! वीर सैनिको! एक शंख-ध्वनि सुन कर ही तुम इतने भयभीत हो गए? कहाँ गई तुम्हारी वह अजेयता? कहाँ गई प्रतिष्ठा? तुम अपनी आज तक प्राप्त की हुई प्रतिष्ठा का विचार कर के, शीघ्र ही निर्भय बन कर मैदान में आओ। आकाशचारी

विद्याधरगण ! तुम भी भूचर मनुष्यों से भयभीत हो गए ? यदि युद्ध करने का साहस नहीं हो, तो युद्ध-मण्डल के सदस्य के समान तो डटे रहो। मैं स्वयं युद्ध करता हूँ। मुझे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है।"

अश्वग्रीव के उपालम्भ पूर्ण शब्दों ने विद्याधरों के हृदय में पुनः साहस का संचार किया। वे पुनः युद्ध-क्षेत्र में आ गये। अश्वग्रीव स्वयं रथ में बैठ कर, क्रूर ग्रह के समान शत्रुओं का ग्रास करने के लिए आकाश-मार्ग में चला और बाणों से, शस्त्रों से और अस्त्रों से त्रिपृष्ठ की सेना पर मेघ के समान वर्षा करने लगा। इस प्रकार अस्त्र-वर्षा से त्रिपृष्ठ की सेना घबड़ाने लगी। यदि भूमि-स्थित मनुष्य धीर, साहसी एवं निडर हो, तो भी आकाश से होते हुए प्रहार के आगे वह क्या कर सकता है ?

सेना पर अश्वग्रीव के होते हुए प्रहार को देख कर अचल, त्रिपृष्ठ और ज्वलनजटी, रथारूढ़ हो कर अपने-अपने विद्याधरों के साथ आकाश में उड़े। अब दोनों ओर के विद्याधर आकाश में ही विद्याशक्ति युक्त युद्ध करने लगे। इधर पृथ्वी पर भी दोनों ओर के सैनिक युद्ध करने लगे। थोड़ी ही देर में आकाश में लड़ते हुए विद्याधरों के रक्त से उत्पातकारी अपूर्व रक्त-वर्षा होने लगी। वीरों की हुँकार, शस्त्रों की झंकार और घायलों की चित्कार से आकाश-मंडल भयंकर हो गया। युद्ध-स्थल में रक्त का प्रवाह बहने लगा। रक्त और मांस, मिट्टी में मिल कर कीचड़ हो गया। घायल सैनिकों के तड़पते हुए शरीरों और गत-प्राण हुए शरीरों को रौंदते हुए सैनिकगण युद्ध करने लगे।

इस प्रकार कल्पांत काल के समान चलते हुए युद्ध में त्रिपृष्ठकुमार ने अपना रथ अश्वग्रीव की ओर बढ़ाया। उन्हें अश्वग्रीव की ओर जाते देख कर अचलकुमार ने भी अपना रथ उधर ही बढ़ाया। अपने सामने दोनों शत्रुओं को देख कर अश्वग्रीव अत्यंत क्रोधित हो कर बोला;—

"तुम दोनों में से वह कौन है जिसने मेरे 'चण्डसिंह' दूत पर हमला किया था ? पश्चिम दिशा के वन में रहे हुए केसरीसिंह को मारने वाला वह घमंडी कौन है ? किसने ज्वलनजटी की कन्या स्वयंप्रभा को पत्नी बना कर अपने लिये विषकन्या के समान अपनाई ? वह कौन मूर्ख है जो मुझे स्वामी नहीं मानता और मेरे योग्य कन्या-रत्न को दबाये बैठा है ? किस साहस एवं शक्ति के बल पर तुम मेरे सामने आये हो ? मैं उसे देखना चाहता हूँ। फिर तुम चाहो, तो किसी एक के साथ अथवा दोनों के साथ युद्ध करूँगा। बोलो, मेरी बात का उत्तर दो।"

अश्वग्रीव की बात सुन कर त्रिपृष्ठकुमार हँसते हुए बोले;—

"रे दुष्ट ! तेरे दूत को सभ्यता का पाठ पढ़ाने वाला, सिंह का मारक, स्वयंप्रभा का पति और तुझे स्वामी नहीं मानने वाला तथा अब तक तेरी उपेक्षा करने वाला मैं ही हूँ। और अपने वल से विशाल सेना को नष्ट करने वाले ये हैं—मेरे ज्येष्ठ बन्धु अचलदेव। इनके सामने ठहर सके, ऐसा मनुष्य संसार भर में नहीं है। फिर तू है ही किस गिनती में ? हे महाबाहु ! यदि तेरी इच्छा हो, तो सेना का विनाश रोक कर अपन दोनों ही युद्ध कर लें। तू इस युद्ध-क्षेत्र में मेरा अतिथि है। अपन दोनों का द्वंद युद्ध हो और दोनों ओर की सेना मात्र दर्शक के रूप में देखा करे।"

त्रिपृष्ठकुमार का प्रस्ताव अश्वग्रीव ने स्वीकार कर लिया और दोनों ओर की सेनाओं में सन्देश प्रसारित कर के सैनिकों का युद्ध रोक दिया गया। अब दोनों महावीरों का परस्पर युद्ध होने लगा। अश्वग्रीव ने धनुष पर बाण चढ़ाया और उसे झंकृत किया। त्रिपृष्ठकुमार ने भी अपना शार्ंग धनुष उठाया और उसकी पणच बजा कर वज्र के समान लगने वाला और शत्रुपक्ष के हृदय को दहलाने वाला गम्भीर घोष किया। बाण-वर्षा होने लगी। अश्वग्रीव ने बाण-वर्षा करते हुए एक तीव्र प्रभाव वाला बाण त्रिपृष्ठ पर छोड़ा। त्रिपृष्ठ सावधान ही थे। उन्होंने तत्काल ही बाणछेदक अस्त्र छोड़ कर उसके बाण को बीच में ही काट दिया और तत्काल चतुराई से ऐसा बाण मारा कि जिससे अश्वग्रीव का धनुष ही टूट गया। इसके बाद अश्वग्रीव ने नया धनुष ग्रहण किया। त्रिपृष्ठ ने उसे भी काट दिया। एक बाण के प्रहार से अश्वग्रीव के रथ की ध्वजा गिरा दी और उसके बाद उसका रथ नष्ट कर दिया।

जब अश्वग्रीव का रथ टूट गया, तो वह दूसरे रथ में बैठा और मेघ-वृष्टि के समान बाण-वर्षा करता हुआ आगे बढ़ा। उसने इतने जोर से बाण-वर्षा की कि जिससे त्रिपृष्ठ और उनका रथ, सभी ढक गये। कुछ भी दिखाई नहीं देता था। किंतु जिस प्रकार सूर्य बादलों का भेदन कर के आगे आ जाता है, उसी प्रकार त्रिपृष्ठ ने अपनी बाण-वर्षा से समस्त आवरण हटा कर छिन्न-भिन्न कर दिये। अपनी प्रबल बाण-वर्षा को व्यर्थ जाती देख कर अश्वग्रीव के क्रोध में भयंकर वृद्धि हुई। उसने मृत्यु की जननी के समान एक प्रचण्ड शक्ति ग्रहण की और मस्तक पर घुमाते हुए अपना सम्पूर्ण बल लगा कर त्रिपृष्ठ पर फेंकी। शक्ति को अपनी ओर आती हुई देख कर त्रिपृष्ठ ने रथ में से यमराज के दण्ड समान कौमुदी गदा उठाई और निकट आई हुई शक्ति पर इतने जोर से प्रहार किया कि जिससे अग्नि की चिनगारियों के सैकड़ों उल्कापात छोड़ती हुई चूर-चूर हो कर दूर जा गिरी। शक्ति

नागास्त्र की दुर्दशा देख कर अश्वग्रीव ने अग्न्यस्त्र का स्मरण किया और प्राप्त कर छोड़ा, तो उसने चारों ओर उल्कापात होने लगा और त्रिपृष्ठ की सेना चारों ओर से दावानल में घिरी हो— ऐसा दिखाई देने लगा। सेना अपने को पूर्ण रूप से अग्नि से व्याप्त मान कर घबड़ा गई। सैनिक इधर-उधर दुबकने लगे। यह देख कर अश्वग्रीव की सेना के सैनिक उत्साहित हो कर हँसने लगे, उछलने और खिल्ली उड़ाने लगे तथा तालियाँ पीट-पीट कर जिव्हा से व्यंग बाण छोड़ने लगे। यह देख कर त्रिपृष्ठ ने हृष्ट हो कर वरुणास्त्र उठा कर छोड़ा। तत्काल आकाश मेघ से आच्छादित हो गया और वर्षा होने लगी। अश्वग्रीव की फैलाई हुई अग्नि शांत हो गई। जब अश्वग्रीव के सभी प्रयत्न व्यर्थ गये, तब उसने अपने अंतिम अस्त्र, अमोघ चक्र का स्मरण किया। सैकड़ों आरों से निकलती हुई सैकड़ों ज्वालाओं से प्रकाशित, सूर्य-मण्डल के समान दिखाई देने वाला वह चक्र, स्मरण करते ही अश्वग्रीव के सम्मुख उपस्थित हुआ। चक्र को ग्रहण कर के अश्वग्रीव ने त्रिपृष्ठ से कहा;—

"अरे, ओ त्रिपृष्ठ ! तू अभी बालक है। तेरा वध करने से मुझे बाल-हत्या का पाप लगेगा। इसलिए मैं कहता हूँ कि तू अब भी मेरे सामने से हट जा और युद्ध-क्षेत्र से बाहर चला जा। मेरे हृदय में रही हुई दया, तेरा वध करना नहीं चाहती। देख, मेरा

यह चक्र, इन्द्र के वज्र के समान अमोघ है। यह न तो पीछे हटता है और न व्यर्थ ही जाता है। मेरे हाथ से यह चक्र छुटा कि तेरे शरीर से प्राण छुटे। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। इसलिए क्षत्रियत्व एवं वीरत्व के अभिमान को छोड़ कर, मेरे अनुशासन को स्वीकार कर ले। मैं तेरे पिछले सभी अपराध क्षमा कर दूँगा। मेरे मन में अनुकम्पा उत्पन्न हुई है। यह तेरे सद्भाग्य का सूचक है। इसलिए दुराग्रह छोड़ कर सीधे मार्ग पर आजा।"

अश्वग्रीव की वात सुन कर त्रिपृष्ठ हँसते हुए वोले;—

"अश्वग्रीव! वास्तव में तू वृद्ध एवं शिथिल हो गया है। इसीसे उन्मत्त के समान दुर्वचन वोल रहा है। तुझे विचार करना चाहिए कि वाल केसरीसिंह, वड़े गजराज को देख कर डरता नहीं, गरुड़ का छोटा बच्चा भी वड़े भुजंग को देख कर विचलित नहीं होता और वाल सूर्य भी संध्याकाल रूप राक्षस से भयभीत नहीं होता। मैं बालक हूँ, फिर भी तेरे सामने युद्ध करने आया हूँ। मैंने तेरे अव तक के सारे अस्त्र व्यर्थ कर दिये, अब फिर एक अस्त्र और छोड़ कर, उसका भी उपयोग कर ले। पहले से इतना घमण्ड क्यों करता है?"

त्रिपृष्ठ के वचन से अश्वग्रीव भड़का। उसके हृदय में क्रोध की ज्वाला सुलग उठी। उसने चक्र को ऊँचा उठा कर अपने सिर पर खूब घुमाया और सम्पूर्ण वल से उसे त्रिपृष्ठ पर फेंका। चक्र ने त्रिपृष्ठ के वज्रमय एवं शिला के समान वक्षस्थल पर आघात किया और टकरा कर वापिस लौटा। चक्र के अग्रभाग के दृढ़तम आघात से त्रिपृष्ठ मूच्छित हो कर नीचे गिर गये और चक्र भी स्थिर हो गया। त्रिपृष्ठ की यह दशा देख कर उसकी सेना में हाहाकार मच गया। अपने लघुवन्धु को मूच्छित देख कर अचलकुमार को मानसिक आघात लगा और वे भी मूच्छित हो गए। दोनों को मूच्छित देख कर अश्वग्रीव ने सिंहनाद किया और उसके सैनिक जयजयकार करते हुए हर्षोन्मत्त हो कर किलकारी करने लगे।

कुछ समय वीतने पर अचलकुमार की मूर्च्छा दूर हुई। वे सावधान हुए। जव उनका ध्यान हर्षनाद की ओर गया, तो उन्होंने इसका कारण पूछा। सेनाधिकारियों ने कहा—"त्रिपृष्ठकुमार के मूच्छित हो जाने पर शत्रु-सेना प्रसन्नता से उन्मत्त हो उठी है। यह उसी की ध्वनि है।" अचलकुमार को यह सुन कर क्रोध चढ़ा। उन्होंने गर्जना करते हुए अश्वग्रीव से कहा—

"रे दुष्ट! ठहर, मैं तेरे हर्षोन्माद की दवा करता हूँ।" उन्होंने गदा उठाई और अश्वग्रीव पर झपटने ही वाले थे कि त्रिपृष्ठ सावधान हो गए। उन्होंने ज्येष्ठ वन्धु को

रोकते हुए कहा;—

"आर्य ! ठहरिये, ठहरिये, मुझे ही अश्वग्रीव की करणी का फल चखाने दीजिए। वह मुख्यतः मेरा अपराधी है। आप उसके घमण्ड का अंतिम परिणाम देखिये।"

राजकुमार अचल, छोटे बन्धु को सावधान देख कर प्रसन्न हुए और उसको अपनी भुजाओं में बाँध कर आलिंगन करने लगे। सेना में भी विषाद के स्थान पर प्रसन्नता व्याप गई। हर्षनाद होने लगा। त्रिपृष्ठ ने देखा कि अश्वग्रीव का फेंका हुआ चक्र पास ही निस्तब्ध पड़ा है। उन्होंने चक्र को उठाया और गर्जनापूर्वक अश्वग्रीव से कहने लगे;—

"ऐ अभिमानी वृद्ध ! अपने परम अस्त्र का परिणाम देख लिया ? यदि जीवन प्रिय है, तो हट जा यहाँ से। मैं भी एक वृद्ध की हत्या करना नहीं चाहता। यदि अब भी तू नहीं, मानेगा और अभिमान से अड़ा ही रहेगा, तो तू समझले कि तेरा जीवन अब कुछ क्षणों का ही है।"

अश्वग्रीव इन वचनों को सहन नहीं कर सका। वह भ्रकुटी चढ़ा कर बोला—

"छोकरे ! वाचालता क्यों करता है। जीवन प्यारा हो, तो चला जा यहाँ से। नहीं, तो अब तू नहीं बच सकेगा। तेरा कोई भी अस्त्र और यह चक्र मेरे सामने कुछ भी नहीं है। मेरे पास आते ही मैं इसे चूर-चूर कर दूंगा।"

अश्वग्रीव की बात सुनते ही त्रिपृष्ठ ने क्रोधपूर्वक उसी चक्र को ग्रहण किया और बलपूर्वक घुमा कर अश्वग्रीव पर फेंका। चक्र सीधा अश्वग्रीव की गर्दन काटता हुआ आगे निकल गया। त्रिपृष्ठ की जीत हो गई। खेचरों ने त्रिपृष्ठ वासुदेव की जयकार से आकाश गुंजा दिया और पुष्प-वर्षा की। अश्वग्रीव की सेना में रुदन मच गया। अश्वग्रीव के संबंधी और पुत्र एकत्रित हुए और अश्रुपात करने लगे। अश्वग्रीव के शरीर का वहीं अग्नि-संस्कार किया। वह मृत्यु पा कर सातवीं नरक में, ३३ सागरोपम की स्थिति वाला नारक हुआ।

उस समय देवों ने आकाश में रह कर उच्च स्वर से उद्घोषणा करते हुए कहा;—

"राजाओं ! अब तुम मान छोड़ कर भक्तिपूर्वक त्रिपृष्ठ वासुदेव की शरण में आओ। इस भरत-क्षेत्र में इस अवसर्पिणी काल के ये प्रथम वासुदेव हैं। ये महाभुज त्रिखंड भरत-क्षेत्र की पृथ्वी के स्वामी होंगे।"

यह देववाणी सुन कर अश्वग्रीव के पक्ष के सभी राजाओं ने श्री त्रिपृष्ठ वासुदेव के समीप आ कर प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर विनति करते हुए इस प्रकार बोले;—

"हे नाथ ! हमने अज्ञानवश एवं परतन्त्रता से अब तक आपका जो अपराध किया, उसे क्षमा करें। अब आज से हम आपके अनुचर के समान रहेंगे और आपकी सभी आज्ञाओं का पालन करेंगे।"

वासुदेव ने कहा—"नहीं, नहीं, तुम्हारा कोई अपराध नहीं है। स्वामी की आज्ञा से युद्ध करना, यह क्षत्रियों का कर्त्तव्य है। तुम भय छोड़ कर मेरी आज्ञा से अपने-अपने राज्य में निर्भय हो कर राज करते रहो।"

इस प्रकार सभी राजाओं को आश्वस्त कर के त्रिपृष्ठ वासुदेव, इन्द्र के समान अपने अधिकारियों और सेना के साथ पोतनपुर आये। उसके बाद वासुदेव, अपने ज्येष्ठ-बन्धु अचल बलदेव के साथ सातों रत्नों+ को ले कर दिग्विजय करने चल निकले।

उन्होंने पूर्व में मागधपति, दक्षिण में वरदाम देव और पश्चिम में प्रभास देव को आज्ञाधीन कर के वैताढ्य पर्वत पर की विद्याधरों की दोनों श्रेणियों को विजय किया और दोनों श्रेणियों का राज, ज्वलनजटी को दे दिया। इस प्रकार दक्षिण भरतार्द्ध को साध कर वासुदेव, अपने नगर की ओर चलने लगे। चलते-चलते वे मगधदेश में आये। वहाँ उन्होंने एक महाशिला, जो कोटि पुरुषों से उठ सकती थी और जिसे 'कोटिशिला' कहते थे, देखी। उन्होंने उस कोटिशिला को बायें हाथ से उठा कर मस्तक से भी ऊपर छत्रवत् रखी। उनके ऐसे महान् बल को देख कर साथ के राजाओं और अन्य लोगों ने उनकी प्रशंसा की। कोटिशिला को योग्य स्थान पर रख कर आगे बढ़े और चलते-चलते पोतनपुर के निकट आये। उनका नगर-प्रवेश बड़ी धूमधाम से हुआ। शुभ मुहूर्त में प्रजापति, ज्वलनजटी, अचल-बलदेव आदि ने त्रिपृष्ठ का 'वासुदेव' पद का अभिषेक किया। बड़े भारी महोत्सव से यह अभिषेक सम्पन्न हुआ।

भगवान् श्रेयांसनाथजी ग्रामानुग्राम विचरते हुए पोतनपुर नगर के उद्यान में पधारे। समवसरण की रचना हुई। वनपाल ने वासुदेव को प्रभु के पधारने की बधाई दी। वासुदेव, सिंहासन त्याग कर उस दिशा में कुछ चरण गये और जा कर प्रभु को वन्दन-नमस्कार किया। फिर सिंहासन पर बैठ कर बधाई देने वाले को साढ़े बारह कोटि स्वर्ण-मुद्रा का पारितोषिक दिया। इसके बाद वे आडम्बरपूर्वक भगवान् को वन्दने के लिए निकले। विधिपूर्वक भगवान् की वन्दना की और भगवान् की धर्मदेशना सुनने में तन्मय

+ १ चक्र २ धनुष ३ गदा ४ शंख ५ कौस्तुभमणि ६ खड्ग और ७ वनमाला। ये वासुदेव के सात रत्न हैं।

हो गए। देशना सुन कर कितने ही लोगों ने सर्वविरति प्रव्रज्या स्वीकार की, कितनों ही ने देशविरति ग्रहण की और वासुदेव-बलदेव आदि बहुत-से लोगों ने सम्यग्दर्शन रूपी महा-रत्न ग्रहण किया।

भगवान् केवलज्ञान होने के दो मास कम इक्कीस लाख वर्ष तक इस अवनीतल पर विचरते रहे। आपके गोशुभ आदि ७६ गणधर ८४००० साधु, १०३००० साध्वियें, १३०० चौदह पूर्वधर, ६००० अवधिज्ञानी, ६००० मनःपर्यवज्ञानी, ६५०० केवलज्ञानी, ११००० वैक्रिय लब्धि वाले, ५००० वाद-लब्धि वाले, २७९००० श्रावक और ४४८००० श्राविकाएँ हुईं। मोक्ष समय निकट जान कर भगवान् समेदशिखर पर्वत पर चढ़े और एक हजार मुनियों के साथ अनशन किया। एक मास के अनशन से श्रावण-कृष्णा तृतीया के दिन धनिष्ठा नक्षत्र में चन्द्रमा के आने पर प्रभु का निर्वाण कल्याणक हुआ। प्रभु, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त आनन्दमय स्वरूप वाले परमपद को प्राप्त हुए।

भगवान् कुमार अवस्था में २१००००० वर्ष, राज्याधिपति रूप में ४२००००० वर्ष और संयम-पर्याय में २१००००० वर्ष, यों कुल ८४००००० वर्ष की कुल आयु भोग कर मोक्ष पधारे। इन्द्रों ने प्रभु का निर्वाण महोत्सव किया।

त्रिपृष्ठ की क्रूरता और मृत्यु

त्रिपृष्ठ वासुदेव ३२००० रानियों के साथ भोग भोगते हुए काल व्यतीत करने लगे। महारानी स्वयंप्रभा से 'श्रीविजय और विजय' नाम के दो पुत्र हुए। एक बार रति सागर में लीन वासुदेव के पास कुछ गायक आये। वे संगीत में निपुण थे। विविध प्रकार के श्रुति-मधुर संगीत से उन्होंने वासुदेव को मुग्ध कर लिया। वासुदेव ने उन्हें अपनी संगीत मण्डली में रख लिया। एक बार वासुदेव उन कलाकारों के सुरीले संगीत में गृद्ध हो कर शय्या में सो रहे थे। वे उनके संगीत पर अत्यंत मुग्ध थे। उन्होंने शय्यापालक को आज्ञा दी कि "मुझे नींद आते ही संगीत बन्द करवा देना।" नरेन्द्र को नींद आ गई, किन्तु शय्यापालक ने संगीत बन्द नहीं करवाया। वह स्वयं राग में अत्यंत गृद्ध हो गया था। रातभर संगीत होता रहा। पिछली रात को जब वासुदेव की आँख खुली, तो उन्होंने शय्या-पालक से पूछा;—

"मुझे नींद आने के बाद संगीत-मण्डली को बिदा क्यों नहीं किया ?"

—"महाराज ! मैं स्वयं इनके रसीले राग और सुरीली तान में मुग्ध हो गया था--इतना कि रात बीत जाने का भी भान नहीं रहा"—शय्यापालक ने निवेदन किया।

यह सुनते ही वासुदेव के हृदय में क्रोध उत्पन्न हो गया। उस सयम तो उन्होंने कुछ भी नहीं कहा, किंतु दूसरे ही दिन सभा में शय्यापालक को बुलवाया और अनुचरों को आज्ञा दी कि "इस संगीत-प्रिय शय्यापालक के कानों में उबलता हुआ राँगा भर दो। यह कर्त्तव्य भ्रष्ट है। इसने राग-लुब्ध हो कर राजाज्ञा का उल्लंघन किया और संगीतज्ञों को रातभर नहीं छोड़ा।"

नरेश की आज्ञा का उसी समय पालन हुआ। बिचारे शय्यापालक को एकान्त में ले जा कर, उबलता हुआ राँगा कानों में भर दिया। वह उसी समय तीव्रतम वेदना भोगता हुआ मर गया। इस निमित्त से वासुदेव ने भी क्रूर परिणामों के चलते अशुभतम कर्मों का बन्ध कर लिया।

नित्य विषयासक्त, राज्यमूर्च्छा में लीनतम, बाहुबल के गर्व से जगत् को तृणवत् तुच्छ गिनने वाले, हिंसा में निःशंक, महान् आरम्भ और महापरिग्रह तथा क्रूर अध्यवसाय से सम्यक्त्व रूप रत्न का नाश करने वाले वासुदेव, नारकी का आयु बाँध कर और ८४००००० वर्ष का आयु पूर्ण कर के सातवीं नरक में गया। वहाँ वे तेतीस सागरोपम काल तक महान् दुःखों को भोगते रहेंगे। प्रथम वासुदेव ने कुमारवय में २५००० वर्ष, मांडलिक राजा के रूप में २५००० वर्ष, दिग्विजय में एक हजार वर्ष और वासुदेव (सार्वभौम नरेन्द्र) के रूप में ८३४९००० वर्ष, इस प्रकार कुल आयु चौरासी लाख वर्ष का भोगा।

अपने छोटे भाई की मृत्यु होने से अचल बलदेव को भारी शोक हुआ। वे विक्षिप्त के समान हो गए। उच्च स्वर से रोते हुए वे अपने भाई को—नींद से जगाते हों, उस प्रकार झँझोड़ कर सावधान करने का व्यर्थ प्रयत्न करने लगे। इस प्रकार करते-करते वे मूर्च्छित हो गए। मूर्च्छा हटने पर वृद्धों के उपदेश से उनका मोह कम हुआ। वासुदेव की मृत-देह का अग्नि-संस्कार किया गया। किन्तु बलदेव को भाई के बिना नहीं सुहाता। वे घर-बाहर इधर-उधर भटकने लगे। अंत में धर्मघोष आचार्य के उपदेश से विरक्त हो कर दीक्षित हुए और विशुद्ध रीति से संयम का पालन करते हुए, केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया और आयु पूर्ण होने पर मोक्ष प्राप्त कर लिया। उनकी कुल आयु ८५००००० वर्ष की थी।

॥ भगवान् श्रेयांसनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

भ० वासुपूज्यजी
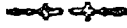
पुष्करवर द्वीपार्द्ध के पूर्व विदेह क्षेत्र में, 'मंगलावती' नाम के विजय में 'रत्नसंचया' नाम की एक विशाल एवं समृद्ध नगरी थी। 'पद्मोत्तर' नरेश वहाँ का शासन करते थे। वे जिनेश्वर भगवान् की उपासना करने वाले थे। उनका राज्य, समुद्र पर्यन्त फैला हुआ था।

एक वार अनित्य भावना में लीन वने हुए महाराजा पद्मोत्तर के हृदय में वैराग्य वस गया। उन्होंने वज्रनाभ मुनिवर के समीप प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। साधना में उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए आपने तीर्थंकर नाम-कर्म का बंध कर लिया और वहुत वर्षों तक संयम का पालन करते हुए, आयु पूर्ण कर के प्राणत नाम के दसवें देवलोक में महर्द्धिक देव हुए।

जंबूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध में 'चंपा' नाम की एक नगरी थी। उस विशाल मनोहर एवं समृद्ध नगरी के स्वामी महाराजा 'वसुपूज्य' थे। वे दानेश्वरियों में अग्रगण्य थे। उनका शासन न्याय-नीति एवं सदाचारपूर्वक चल रहा था। नरेश जिनेश्वर भगवान् के सेवक थे। उनकी पटरानी का नाम 'जयादेवी' था। वह सुलक्षणी, सद्गुणों की पात्र और लक्ष्मी के समान सौभाग्यशालिनी थी। पद्मोत्तर राजा का जीव, देवलोक का सुखमय जीवन व्यतीत कर के, आयुष्य पूर्ण होने पर ज्येष्ठ-शुक्ला नौमी के दिन शतभिषा नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर, जयादेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। जयादेवी ने तीर्थंकर के योग्य चौदह महास्वप्न देखे। फाल्गुन मास के कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी को शतभिषा नक्षत्र में पुत्र का जन्म हुआ। देव-देवियों और इन्द्रों ने जन्मोत्सव किया। पिता के नाम पर ही पुत्र का 'वासुपूज्य' नाम दिया। कुमार क्रमशः वृद्धि पाने लगे।

विवाह नहीं करूँगा

यौवन वय प्राप्त होने पर अनेक देश के राजाओं ने राजकुमार वासुपूज्य के साथ अपनी राजकुमारियों का वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ने के सन्देश भेजे। माता-पिता ने युवराज वासुपूज्य को विवाह करने और राज्य का भार वहन करने की प्रेरणा की। किन्तु संसार से विरक्त प्रभु ने अपनी हार्दिक इच्छा व्यक्त करते हुए कहा;—

"पिताश्री ! आपका पुत्र-स्नेह मैं जानता हूँ। किन्तु मैं चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करते हुए ऐसे सम्बन्ध अनन्त बार कर चुका हूँ। संसार-सागर में भटकते हुए मैंने जन्म-मरणादि के अनन्त दुःख भोगे। अब मैं संसार से उद्विग्न हो गया हूँ। इसलिए अब मेरी इच्छा एकमात्र मोक्ष साधने की है। आप लग्न की बात छोड़ कर प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति दीजिए।"

पुत्र की बात सुन कर पिता ने गद्गद् स्वर से कहा;—

"पुत्र ! मैं जानता हूँ कि तुम भोगार्थी नहीं हो। तुम्हारे मोक्षार्थी एवं जगदुद्धारक होने की बात मैं तभी जान गया था, जब तुम गर्भ में आये थे। देवों ने तुम्हारा जन्मोत्सव किया था। किन्तु विवाह करने से और राज्य का संचालन करने से तुम्हारी मुक्ति नहीं रुकेगी। कुछ काल तक अर्थ और काम पुरुषार्थ का सेवन करने के बाद धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ में प्रवृत्ति हो सकेगी। तुम्हारे पूर्व हुए आदि तीर्थंकर भ० ऋषभदेवजी और अन्य तीर्थंकरों ने भी विवाह किया था और राज्य-भार भी उठाया था। उसके बाद वे मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हुए थे। इसी प्रकार तुम भी विवाह करो और राज्य का भार सम्हाल कर हमें मोक्ष-साधना में लगने दो।"

—"पिताश्री ! आपने कहा वह ठीक है। मैं गत महापुरुषों के चरित्र जानता हूँ। सभी मनुष्यों और महापुरुषों का जीवन, समग्र दृष्टि से समान नहीं होता। जिनके भोग-फल-दायक कर्मों का उदय हो, उन्हें विवाह भी करना पड़ता है और राज्य संचालन भी करना पड़ता है। जिनके ऐसे कर्मों का उदय नहीं होता, वे अविवाहित एवं कुमार अवस्था में ही त्याग-मार्ग पर चल देते हैं। भावी तीर्थंकर श्री मल्लिनाथजी और श्री अरिष्टनेमिजी भी अविवाहित रह कर ही प्रव्रजित हो जावेंगे। चरम तीर्थंकर भ० महावीर के भोग-कर्म स्वल्प होने से विवाह तो करेंगे, किन्तु थोड़े काल के बाद, कुमार अवस्था में ही प्रव्रजित हो जावेंगे। वे राज्य का संचालन नहीं करेंगे। विवाह करने और भोग-भोगने तथा राज्याधिपति बनने में वैसे भोग योग्य कर्मों का उदय कारणभूत होता है। जिनके वैसे कर्म उदय में आते हैं, वे वैसी प्रवृत्ति करते हैं। मेरी इनमें रुचि नहीं है। आप अपने मोह को त्याग कर मुझे निर्ग्रंथ दीक्षा लेने की अनुमति प्रदान करें।"

इस प्रकार माता-पिता को समझा कर, जन्म से अठारह लाख वर्ष व्यतीत हुए बाद, श्री वासुपूज्य कुमार दीक्षा लेने की भावना करने लगे। उस समय लोकान्तिक देव का आसन कम्पायमान होने से, स्वर्ग से चल कर प्रभु के समीप आये और तीर्थ-प्रवर्तन करने की विनती की। भगवान् ने तीर्थंकरों के कल्प के अनुसार वर्षीदान दिया और फाल्गुन की अमावस्या को उपवास के तप से छह सौ राजाओं के साथ प्रभु ने प्रव्रज्या ग्रहण की। तत्काल प्रभु को मन:पर्यव ज्ञान उत्पन्न हो गया।

द्विपृष्ट वासुदेव चरित्र

पृथ्वीपुर नगर में 'पवनवेग' नाम का राजा राज करता था। वहुत वर्षों तक राज करने के बाद उन्होंने यथावसर श्रवणसिंह मुनि के समीप प्रव्रजित हो कर संयम और तप की विशुद्ध आराधना की और अप्रमत्त अवस्था में काल कर के अनुत्तर विमान में देवता हुए।

इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध में 'विंध्यपुर' नाम का प्रसिद्ध एवं प्रमुख नगर था। वह धन-धान्य एवं ऋद्धि से परिपूर्ण था। महान् पराक्रमी और सिंह के समान शक्ति-शाली 'विंध्यशक्ति' नाम का प्रतापी नरेश वहाँ का शासक था। उसके प्रभाव से अन्य राजागण दबे हुए थे। वे महाराजा विंध्यशक्ति की कृपा एवं रक्षण के लिए प्रयत्नशील रहते थे। एक वार वह अपनी राज-सभा में बैठा हुआ था कि एक चर पुरुष आया और कहने लगा; —

"महाराज ! साकेतपुर के अधिपति 'पर्वत' नरेश के पास 'गुणमंजरी' नामकी एक अनुपम सुन्दरी वेश्या है। उसका अंग-प्रत्यंग सुन्दरता से परिपूर्ण है। उसकी समानता करने वाला दूसरा कोई स्त्री-रत्न इस पृथ्वी पर नहीं है। वह मात्र रूप-सुन्दरी ही नहीं है, उसका नृत्य, संगीत और वादन, सभी उत्तमोत्तम है। वह आपके योग्य है। उसके विना आपका राज्य फीका है।"

चर पुरुष की वात सुन कर राजा ने गुणमंजरी वेश्या की याचना करने के लिए दूत भेजा। पर्वत राजा ने इस याचना को अपमानपूर्वक ठुकरा दिया। विंध्यशक्ति ने विशाल सेना ले कर साकेतपुर पर चढ़ाई कर दी। दोनों में भीषण युद्ध हुआ। अंत में पर्वत हार कर भाग गया और विंध्यशक्ति नरेश ने नगर में प्रवेश कर के गुणमंजरी वेश्या

और अन्य सभी सार पदार्थ ले कर अपने स्थान पर चला गया। पराजित पर्वत नरेश ने श्री संभवाचार्य के समीप श्रमण दीक्षा स्वीकार की और कठोर साधना तथा उग्र तप करते हुए निदान किया कि—"आगामी भव में मैं विंध्यशक्ति का काल बनूं।" अंत में अनशन कर के मृत्यु पा कर प्राणत देवलोक में देव हुआ। राजा विन्ध्यशक्ति भी भवभ्रमण करता हुआ एक भव में मुनिव्रत लिया और मृत्यु पा कर देव हुआ। वहाँ वे च्यव कर विन्ध्यशक्ति का जीव, विजयपुर में श्रीधर राजा की श्रीमती रानी की उदर से 'तारक' नाम का पुत्र हुआ। वह शूर-वीर एवं पराक्रमी था। उसने अर्धभरत क्षेत्र को जीत कर अपने अधिकार मे कर लिया।

सौराष्ट्र देश की प्रसिद्ध 'द्वारिका' नगरी में 'ब्रह्म' राज्याधिपति था। उसके 'सुभद्रा' और 'उमा' ये दो पटरानियाँ थीं। 'पवनवेग' का जीव, अनुत्तर विमान से च्यव कर महारानी सुभद्रादेवी की कुक्षि में आया। महारानी ने चार महास्वप्न देखे। पुत्र का नाम 'विजय' रखा। वह गौरवर्ण वाला अनेक प्रकार के सुलक्षणों से युक्त था। राजकुमार का लालन-पालन उत्तमोत्तम रीति से होने लगा। योग्य वय में सभी कलाओं में पारंगत हो कर महान् वीर हो गया। कालान्तर से महारानी उमादेवी की कुक्षि में, पर्वत का जीव, प्राणत देवलोक से च्यव कर आया। महारानी ने सात स्वप्न देखे। पुत्र का नाम 'द्विपृष्ट' रखा। द्विपृष्ट, श्याम वर्ण वाला, सुन्दर और अनेक शुभलक्षणों से युक्त बालक था। वह क्रमशः बढ़ने लगा। राजकुमार विजय की, अपने छोटे भाई पर अत्यधिक प्रीति थी। वह द्विपृष्ट के प्यार में, उसे खेलाने, खिलाने और प्रसन्न रखने में ही अपना विशेष समय लगा देता था। वय प्राप्त होने पर द्विपृष्ट भी सभी कलाओं में पारंगत हो कर वीर-शिरोमणि एवं अनुपम योद्धा हो गया। दोनों राजकुमार महाबली थे।

द्वारिकाधिपति ब्रह्म नरेश, अर्धभरत क्षेत्र के स्वामी तारक के आधीन थे। वे उसकी आज्ञा में रह कर राज करते थे। किंतु उनके पुत्र विजय और द्विपृष्ट कुमार को तारक का शासन असह्य हो रहा था। वे तारक की आज्ञा में रहना नहीं चाहते थे। वे वचन से और कार्य से तारक नरेश का विरोध तथा अवज्ञा करते रहते थे। गुप्तचरों ने तारक नरेश के सामने कुमारों की प्रतिकूलता का वर्णन करते हुए कहा;—

"स्वामी ! द्वारिका के राजा ब्रह्म के दोनों पुत्र बड़े ही धृष्ट एवं दुर्मद हो गए हैं। वे आपका अनुशासन नहीं मानते और निधड़क निन्दा करते हैं। वे योद्धा हैं और सभी शास्त्रों के ज्ञाता हैं। उनकी बढ़ी हुई शक्ति आपके लिए हितकारी नहीं होगी। आपको

इस पर योग्य विचार करना चाहिए।"

तारक को गुप्तचरों की बात लग गई। वह उत्तेजित हो गया। उसने अपने सेनापति को बुला कर आज्ञा दी;—

"सेनापति ! तुम अपने सामंत राजाओं के साथ, सेना ले कर द्वारिका जाओ और ब्रह्म राजा को उसके पुत्रों सहित मार डालो। उनको उठते ही कुचल देना ठीक होगा। उपेक्षा करने से व्याधि के समान शत्रु भी असाध्य हो जाता है।

राजा की आज्ञा सुन कर वृद्ध मन्त्री ने निवेदन किया—

"महाराज ! जरा शांति से विचार करो। ब्रह्म राजा के विषय में यह पहली ही शिकायत है। वह आज तक आपका आज्ञाकारी सामन्त रहा है। किसी खास कारण के बिना चढ़ाई कर देना अन्याय होगा। इससे दूसरे सामन्तों के मन में सन्देह उत्पन्न होगा और सन्देह होने पर वे भी विश्वास के योग्य नहीं रह सकेंगे। जिनमें विश्वास नहीं होगा, वे आज्ञा का पालन कैसे कर सकेंगे और आज्ञा का पालन नहीं हुआ, तो स्वामित्व कैसे रहेगा ? इसलिए पहले उस पर किसी अपराध का आरोप लगा कर, उसके पास अपना दूत भेजना चाहिए और दण्ड स्वरूप श्रेष्ठ हाथी, घोड़े और रत्नों की मांग करनी चाहिए। यदि वह मांग अस्वीकार कर दे, तो फिर उसी अपराध में उन्हें मार देना ठीक होगा। नियमपूर्वक काम करने में अनीति का आरोप नहीं लगता और दूसरों के मन में सन्देह उत्पन्न नहीं होता।"

तारक नरेश ने मन्त्री की सलाह मानी और अपना विश्वस्त दूत द्वारिका, ब्रह्म राजा के पास भेजा। राजा ने दूत को संमानपूर्वक अपने पास बिठाया और प्रेमालाप करने के बाद आने का कारण पूछा। दूत ने कहा;—

"हे द्वारकेश ! स्वामी की आज्ञा है कि आपके पास जो भी सर्वश्रेष्ठ हाथी, घोड़ा और रत्नादि उत्तम सामग्री हो, वह हमारी सेवा में प्रस्तुत करो। इस अर्ध भरत-क्षेत्र में जो भी सर्वश्रेष्ठ वस्तु हो, उसका भोग भरताधिपति ही कर सकते हैं। मैं यही सन्देश ले कर आया हूँ।"

राजकुमार भी यह बात सुन रहे थे। राजा के बोलने के पूर्व ही द्विपृष्ट कुमार क्रुद्ध हो कर गर्जना करते हुए बोले;—

"तुम्हारा स्वामी तारक राजा, न तो हमारे वंश का ज्येष्ठ पुरुष है और न हमारा स्वामी ही है। यह राज, तारक ने हमें या हमारे वंश को दान में नहीं दिया और न वह

इस राज्य का रक्षक ही है। फिर वह हमारा स्वामी कैसे वन गया ? जिस प्रकार वह अपने भुज-वल से, हम से हाथी-घोड़े और रत्न माँगता है, उसी प्रकार हम भी अपने भुज-वल से, तुम्हारे राजा से ये ही वस्तुएँ माँगते हैं। इसलिए हे दूत ! तुम यहाँ से चले जाओ। हम स्वयं तुम्हारे राजा से, उसके मस्तक के साथ ये वस्तुएँ हस्तगत करने के लिए वहाँ आवेंगे।"

दूत ने जा कर सारी बात तारक नरेश से कही। तारक की क्रोधाग्नि भड़की। उसने उसी समय युद्ध की घोषणा कर दी। अधिनस्थ राजागण, सामन्तगण, सेनापति और विशाल सेना सज्ज हो कर युद्ध के लिए तत्पर हो गई। प्रयाण के प्रारम्भ में ही भूकम्प, विद्युत्पात, कौओं की कर्राहट आदि अशुभ परिणाम सूचक लक्षण प्रकट हुए। किंतु तारक नरेश ने क्रोधावेश में इन सभी अशुभ सूचक प्राकृतिक लक्षणों की उपेक्षा कर के प्रयाण कर ही दिया और शीघ्रता से आगे बढ़ने लगे।

इधर ब्रह्म राजा और दोनों कुमार भी अपनी सेना ले कर आ गये। महान् संहारक युद्ध होने लगा। लाखों मनुष्य मारे गये। चारों ओर रक्त का समुद्र जैसा बन गया। उसमें कटे हुए हाथ, पाँव, मस्तक आदि तैरने लगे। मनुष्यों, घोड़ों और हाथियों के शव के ढेर हो गये। द्विपृष्ट कुमार ने विजय-रथ पर आरूढ़ हो कर पाँचजन्य शंख का नाद किया। इस शंखनाद से तारक की सेना त्रस्त हो उठी। अपनी सेना को भयभीत देख कर तारक भी रथारूढ़ हो कर द्विपृष्ट कुमार के सामने आया। तारक की ओर से भयंकर शस्त्र प्रहार होने लगे। द्विपृष्ट ने तारक के सभी अस्त्रों को अपने पास आते ही नष्ट कर दिये। अन्त में तारक ने चक्र उठाया और अपने सम्पूर्ण वल के साथ द्विपृष्ट कुमार पर फेंका। चक्र के आघात से द्विपृष्ट कुमार मूच्छित हो गये। किन्तु थोड़ी ही देर में सावधान हो कर उसी चक्र को ग्रहण किया और तारक को अंतिम चेतावनी देते हुए कहा;—

"ऐ मृत्यु के ग्रास वृद्ध तारक ! जीवन प्रिय हो, तो अब भी हट जा मेरे सामने से। अन्यथा यह तेरा सर्वश्रेष्ठ अस्त्र ही तुझे चिर निद्रा में सुला देगा।"

तारक की मृत्यु आ गई थी। वह नहीं माना और द्विपृष्ट द्वारा फेंके हुए चक्र से ही वह मृत्यु पा कर नरक में गया। तारक-पक्ष के सभी राजा और सामंत, द्विपृष्ट के आधीन हो गए। द्विपृष्ट ने उसी स्थान से दिग्विजय प्रारम्भ कर दिया और दक्षिण भरत-क्षेत्र को जीत कर उसका अधिपति हो गया। द्विपृष्ट का अर्द्धचक्री—वासुदेवपन का अभि-

षेक भी बड़े आडम्बर के साथ हो गया।

× × × ×

एक मास पर्यंत छद्मस्थ अवस्था में विचरने के बाद महाश्रमण श्री वासुपूज्य स्वामी, विहारगृह नामक उद्यान में (जहाँ दीक्षित हुए थे) पधारे और माघ मास की शुक्ल द्वितीया के दिन, शतभिषा नक्षत्र में, उपवास के तप से, पाटल वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ रहे हुए प्रभु ने शुक्लध्यान के दूसरे चरण में प्रवेश कर के घातिकर्मों का क्षय कर दिया और केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त कर लिया। देवों ने समवसरण की रचना की। प्रभु ने धर्मोपदेश दिया।

धर्मदेशना

धर्म-दुर्लभ भावना

इस अपार संसार रूपी समुद्र में मनुष्य-भव की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। जिस प्रकार स्वयंभूरमण समुद्र के एक किनारे पर, पानी में डाला हुआ जूआ और दूसरे किनारे पर डाली हुई शमिला का संयोग मिलना बहुत ही कठिन है, उसी प्रकार मनुष्य-भव की प्राप्ति भी महान् दुर्लभ है। इस प्रकार बड़ी कठिनाई से प्राप्त हुआ मनुष्य-भव व्यर्थ अथवा पाप सञ्चय में नहीं गँवाना चाहिए। किन्तु धर्म की आराधना कर के सार्थक करना चाहिए।

यों तो संसार में अनेक धर्म हैं, किन्तु जिनेश्वर भगवंत का बताया हुआ धर्म ही सर्व-श्रेष्ठ है। इस धर्म का अवलम्बन करने वाला, कभी संसार-सागर में नहीं डूबता, नरक-निगोद में जा कर दुखी नहीं होता। यह धर्म, संयम (सभी प्रकार की अहिंसा) सत्य-वचन शौच (अचौर्य रूपी पवित्रता) ब्रह्मचर्य, निष्परिग्रहता, तप और क्षमा, मृदुता, सरलता निर्लोभता आदि दस प्रकार का कहलाता है।

धर्म के प्रभाव से कल्पवृक्षादि ऐसी वस्तुएँ प्राप्त होती है, कि जो अधर्मियों की दृष्टि में भी नहीं आती। यह धर्म, सदैव साथ रहने वाला और अत्यन्त वात्सल्यता को धारण करने वाला है। दुःख-सागर में डूबते हुए प्राणी को धर्म ही बचाता है।

धर्म के प्रभाव से समुद्र, पृथ्वी में प्रलय नहीं मचाता और वर्षा, पृथ्वी के प्राणियों के हृदय में आश्वासन एवं शान्ति उत्पन्न करती है। धर्म की शक्ति से अग्नि की लपटें

तिरछी नहीं जाती और वायु की गति ऊर्ध्व नहीं होती। यदि धर्म सहायक नहीं होता और अग्नि की लपटें तिरछी जाती, तो पृथ्वी पर के सभी प्राणी जल कर भस्म हो जाते। वायु की गति ऊर्ध्व होती, तो पृथ्वी पर के जीव और अन्य वस्तुएँ उड़ कर आकाश में चली जाती। बिना किसी आधार और अवलम्बन के यह पृथ्वी ठहरी हुई है और अनन्त जीव-अजीव को धारण कर रही है। यह भी धर्म के ही प्रभाव से है। धर्म के शासन से ही विश्व के उपकार के लिए सूर्य और चन्द्रमा का उदय होता है।

जिसके कोई बन्धु नहीं है, उसका यह विश्व-वत्सल धर्म ही बन्धु है। जिसके कोई मित्र नहीं, उसका मित्र धर्म है। यह अनाथों का नाथ और रक्षक-विहीन जीवों का रक्षक है। यह नरक में पड़ते हुए प्राणियों की रक्षा करने वाला है। इसकी कृपा से जीव, उन्नत होता हुआ सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होता है और परम सुख को प्राप्त कर लेता है।

मिथ्यादृष्टि लोगों ने दस प्रकार के धर्म को तात्विक दृष्टि से कभी नहीं देखा, नहीं जाना। यदि किसी ने कहीं इनका उल्लेख किया हो, तो वह केवल वाणी का नृत्य ही है। वाणी में तो तत्व, प्रायः सभी के रह सकता है और किसी-किसी के मन में भी तत्त्वार्थ रह सकता है, (अविरत सम्यग्दृष्टियों के ?) किन्तु जिन-धर्म को स्पर्श करने वाले पुरुषों के तो वाणी, मन और क्रिया में—सभी में तत्वार्थ होता है। जिनकी बुद्धि कुशास्त्रों के आधीन हो गई है, वे धर्म-रत्न को बिलकुल नहीं जानते। गोमेघ, नरमेघ और अश्वमेघादि करने वाले प्राणी-घातक जीवों को धर्म की प्राप्ति कैसे हो सकती है? असत्यत, परस्पर विरोधी, अस्तित्व-हीन और जिनमें सुज्ञ पुरुषों को श्रद्धा नहीं हो सके, ऐसी कल्पित बातों को बताने वाले शास्त्र-रचयिताओं में धर्म मिले ही कैसे? धर्म को नहीं जानने वाले पुरुषों से अधार्मिक व्यवस्था होती है। जैसे—परद्रव्य को हरण करने के नियम और मिट्टी तथा पानी से आत्मा की शुद्धि होने का विधान।

"स्त्री सेवन नहीं कर के ऋतुकाल का उल्लंघन करने वाले को गर्भहत्या का पाप लगे"—इस प्रकार कह कर, ब्रह्मचर्य का नाश करने वालों में धर्म की सम्भावना भी कैसे हो सकती है? यजमान का सर्वस्व लेने की इच्छा करने वाले और द्रव्य के लिए प्राण-त्याग करने वालों में 'निष्परिग्रहता' नहीं हो सकती। स्वल्प अपराध होने पर क्षणमात्र में शाप देने वाले लौकिक ऋषियों में क्षमा का लेश भी दिखाई नहीं देता। जाति आदि के मद से और दुराचरण से जिनके हृदय सराबोर रहते हैं, ऐसे चतुर्थ आश्रम वाले सन्यासियों में कोमलता-सरलता नहीं हो सकती। हृदय में दंभ रखने वाले और ऊपर से बुगला-भक्त बनने

वाले ऐसे पाखंड व्रत वालों में सरलता नहीं होती। गृह और पुत्रादि के परिग्रह वाले और लोभ के कुलग्रह रूप जीवों में निर्लोभिता नहीं हो सकती। इस प्रकार के अनेक दोषों से युक्त लोगों का बताया हुआ मार्ग, कदापि धर्म नहीं हो सकता। वास्तविक और सर्वथा निर्दोष धर्म तो राग-द्वेष और मोह से रहित तथा केवलज्ञान से सुशोभित ऐसे अरिहंत भगवंतों का ही है। इस प्रकार के विशुद्ध धर्म से जिनेश्वर भगवंतों की महानता और निर्दोषता सिद्ध होती है।

मनुष्य राग-द्वेष के कारण असत्यवादी बनता है, किन्तु जिनेश्वर भगवंत में राग-द्वेष का लेश भी नहीं है, फिर उनमें असत्यवादिता कैसे आ सकती है? जिनके चित्त रागादि दोषों से कलुषित होते हैं, उनके मुँह से सत्य वाणी नहीं निकलती। जो याग-हवन आदि कर्म करते हैं, वापी, कूप, तालाब, नदी आदि में स्नान करने से पुण्य होना मानते हैं, पशु का घात कर के स्वर्ग सुख की आशा करते हैं, ब्राह्मण-भोजन से पितरों को तृप्त होना मानते हैं, 'घृतयोनि'* आदि कर के प्रायश्चित्त करते हैं। पाँच प्रकार की आपत्तियाँ आने पर स्त्रियों का पुनर्विवाह करवाते हैं। यदि स्त्री में पुत्र को जन्म देने की शक्ति हो, तो उसमें 'क्षेत्रज पुत्र'‡ की उत्पत्ति करवाने का निरूपण करते हैं। दूषित स्त्रियाँ रजस्राव से शुद्ध होती है—ऐसा मानते हैं। कल्याण की बुद्धि से यज्ञ में बकरों को मार कर उनके लिंग से आजीविका करते हैं, सौत्रामणि और सप्ततंतु यज्ञ में मदिरा का पान करते हैं। विष्टा खाने वाली गायों का स्पर्श कर के पवित्र होना मानते हैं। जल आदि के स्नान मात्र से पापों की शुद्धि होना कहते हैं। बड़, पीपल, आँवली आदि वृक्षों की पूजन करते हैं। अग्नि में किये हुए हव्य से देवों की तृप्ति होना मानते हैं। पृथ्वी पर गाय दूहने से अरिष्ट (दुःख) की शान्ति होना कहते हैं। ऐसे व्रत और धर्म का उपदेश करते हैं कि जिससे स्त्रियों को मात्र विडम्बना ही होती है। लम्बी जटा, भस्म, अंगराग और कोपिन धारण करते हैं। आक, धतूरे और मालूर के फूलों से देव की पूजा करते हैं। गीत नृत्य करते हुए बार-बार अप-शब्द बोलते हैं। मुख बिगाड़ कर गीत नाद करते हैं। असभ्य भाषा पूर्वक देव, मुनि और लोगों को सम्बोधन करते हैं। व्रत का भंग कर के दासी-दासपना करना चाहते हैं। कन्दादि अनन्तकाय और फल-मूल तथा पत्र का भक्षण करते हैं। स्त्री

* यदि कोई पुरुष पर-स्त्री संग करे, तो घृत की योनि बना कर दान देने से प्रायश्चित्त हो कर शुद्धि होना माना जाता है।

‡ पति के अभाव में अन्य पुरुष के संग से जो स्त्री, पुत्र उत्पन्न करती है, वह पुत्र 'क्षेत्रज' कहलाता है।

और पुत्र के साथ वन में जा कर बसते हैं। भक्षाभक्ष, पेयापेय और गम्यागम्य का विवेक छोड़ कर समान रूप से आचरण करते हैं, तथा 'योगी' के नाम से प्रसिद्ध होते हैं। कई कौलाचार्य के शिष्य होते हैं। इनके तथा अन्य कई मतावलम्बियों के मन में जैन धर्म का स्पर्श भी नहीं हुआ है। उन्हें यह भी मालूम नहीं है कि धर्म क्या है? धर्म का फल क्या है? और उनके धर्म में प्रामाणिकता कितनी है?

श्री जिनेश्वर भगवंत के बताये हुए धर्म की आराधना से इस लोक तथा परलोक में जो सुखदायक फल होता है, वह तो आनुसांगिक (गोण रूप) है। मुख्य फल तो मोक्ष ही है। जिस प्रकार खेती करने का मुख्य फल धान्य की प्राप्ति है। इसके साथ जो पलाल—भूसा आदि की प्राप्ति होती है, वह गोण रूप है। उसी प्रकार धर्म-करणी का मुख्य फल मोक्ष ही है। सांसारिक सुख होता है, वह गोण रूप है।

जैन-धर्म अलौकिक धर्म है। इसका उद्देश्य आत्मा की दबी हुई अनन्त शक्तियों का विकास कर के परमात्म-पद प्राप्त कराना है। इस धर्म की आराधना से आत्मा, अपने भीतर रहे हुए अनन्त सहज सुखों को प्रकट कर के आत्मानन्द में लीन रहती है।

स्वाख्यातः खलु धर्मोऽयं, भगवद्भिर्जिनोत्तमैः।
यं समालंबमानो हि, न मज्जेद् भवसागरे ॥१॥
संयमः सुनृतं शौचं, ब्रह्मांकिचनता तपः।
क्षंतिर्मार्दवमृजुता, मुक्तिश्च दशधा स तु ॥२॥

केवलज्ञान-केवलदर्शन के धारक जिनेश्वर भगवंत ने, आत्म-कल्याणकारी धर्म का स्वरूप बहुत ही स्पष्टता से बतलाया है। जो भव्यात्माएँ इस शक्तिशाली धर्म का अवलम्बन करती है, वे संसार भ्रमण रूपी भव-सागर में नहीं डूबती, किन्तु शाश्वत सुखों की भोक्ता बन जाती है। जिनेश्वरोपदेशित धर्म, संयम (अहिंसा) सत्य, शौच (अदत्त त्याग) ब्रह्मचर्य, अकिंचनता, तप, क्षमा, नम्रता, सरलता और निर्लोभता रूप दस प्रकार का है।

आगे धर्म का महात्म्य बतलाते हुए कहा है कि—

धर्म-प्रभावतः कल्पद्रुमाद्या ददतिप्सितम्।
गोचरेपि न ते यत्स्युर धर्माधिष्टितात्मनाम् ॥३॥
अपारे व्यसनांभोधौ पततं पाति देहिनम्।
सदा सविधवर्त्येको बंधुर्धर्मोऽतिवत्सलः ॥४॥

अप्लावयति नांभोधिराश्वासयति चांबुदः ।
यन्महीं स प्रभावोयं ध्रुवं धर्मस्य केवलः ॥५॥
न ज्वलत्यनलस्तिर्यग् यदूर्ध्वं वाति नानिलः ।
अचिंत्य महिमा तत्र, धर्म एव निबंधनम् ॥६॥
निरालंबा निराधारा, विश्वाधारा वसुन्धरा ।
यच्चावतिष्ठते तत्र, धर्मादन्यन्न कारणम् ॥७॥
सूर्याचन्द्रमसावेतौ विश्वोपकृतिहेतवे ।
उदयेते जगत्यस्मिन्, नूनं धर्मस्य शासनात् ॥८॥

—कल्पवृक्ष जो इच्छित फल देता है, कामधेनु जो मनोकामना पूर्ण करती है और चिन्तामणि रत्न जो सभी प्रकार की चिन्ताओं को दूर कर के वैभवशाली वनाता है, वह धर्म के फल स्वरूप ही मिलता है। अधर्मी—पापी मनुष्यों को तो इन उत्तम वस्तुओं का दर्शन भी नहीं होता।

कल्पवृक्ष का योग उन भाग्यशाली मनुष्यों को मिलता है, जिनके शुभ-कर्मों का उदय हो, जिनकी मनोवृत्ति प्रशस्त हो, जिनमें बुरी भावनाएँ नहीं उभड़ती हो, ऐसे युगलिक जीवों को कल्पवृक्ष का योग मिलता है। इन वृक्षों से उनकी सभी प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है।

कामधेनु गाय जो देवाधिष्ठित कही जाती है और चिन्तामणि रत्न भी उन्हीं भाग्यशाली को मिलता है जो धर्मसाधना कर के शुभ-कर्मों का संग्रह करते हैं।

महान् दुःखों से भरपूर ऐसे अपार संसार रूपी सागर में पड़ते हुए जीवों का, परम वत्सल एवं बान्धव के समान रक्षा करने वाला एकमात्र धर्म ही है।

जिसमें सारा संसार डूब कर नष्ट हो सकता है, ऐसा महासागर भी पृथ्वी को नहीं डुबाता, और जो मेघ, सूर्य के प्रखर ताप से तप्त बनी हुई पृथ्वी को जल-सिंचन से शीतल कर के फलद्रुप बनाता है, यह भी धर्म का ही प्रभाव है।

अग्नि का स्वभाव ऊर्ध्वगामी है, यह भी धर्म का प्रताप मानना चाहिए, अन्यथा वह तिरछी चाल चलने लगे, तो सभी को जला कर भस्म कर दे। जिनके पाप-कर्मों का उदय होता है, वहाँ जलती हुई आग, हवा के जोर से तिरछी गति कर के गाँव के गाँव भस्म कर देती है।

वायु की गति ऊर्ध्व नहीं हो कर तिरछी गति है, यह भी धर्म के ही प्रताप से है। यदि वायु की गति ऊर्ध्व होती, तो सभी वस्तुएँ उड़ कर आकाश में चली जाती और हम पृथ्वी पर सुखपूर्वक नहीं रह सकते। वायु-प्रकोप से कभी मकान आदि उड़ जाते हैं, यह स्थिति पापोदय वालों के लिए कारणभूत होती है। यदि वायु का स्वभाव ही उस प्रकार वेगपूर्वक ऊर्ध्व गमन का होता, तो जीवों की क्या दशा होती ? वास्तव में यह धर्म का ही प्रभाव है कि जिससे महावायु और प्रतिकूल वायु पर अंकुश रहता है।

विश्वभर के लिए आधारभूत यह पृथ्वी, किसके आधार पर है ? यह घनोदधि आदि तथा आकाश पर आधारित पृथ्वी, नीचे चली जा कर सभी को नष्ट क्यों नहीं कर देती ? क्या इसे कोई ईश्वर जैसी महाशक्ति उठाये हुए है ? नहीं, यह स्वभाव से है और धर्म के प्रताप से इसमें विभाव पैदा नहीं होता। जहाँ पापोदय विशेष हो, वहाँ भूकम्प आदि विभाव उत्पन्न हो कर विनाश होता है। अतएव पृथ्वी की स्वाभाविक स्थिति भी धर्म के प्रभाव से प्रभावित है।

जीवों को सूर्य का प्रकाश और चन्द्र की ज्योति मिलती है और उससे विश्व का उपकार होता है, वह भी धर्माज्ञा से प्रभावित है। जहाँ व जब सूर्य का प्रकाश न्यूनाधिक होता है, तब लोगों के कष्ट बढ़ते हैं।

अबन्धूनामसौ बन्धु--रसखीनामसौ सखा।
अनाथानामसौ नाथो, धर्मो विश्वैकवत्सलः ॥९॥
रक्षोयक्षोरगव्याघ्र---व्यालानलगरादयः।
नापकर्त्तुमलं तेषां, यैर्धर्मः शरणं श्रितः ॥१०॥
धर्मो नरक पाताल---पातादवति देहिनः।
धर्मो निरुपमं यच्छत्यपि सर्वज्ञवैभवम् ॥११॥

जिसके कोई भाई नहीं, उसका सच्चे अर्थ में धर्म ही भाई है। धर्म अमित्र का मित्र और अनाथ का नाथ है। यह सभी का हित करने वाला है। जिसने धर्म का शरण लिया है, उसे यक्ष-राक्षस आदि नहीं सता सकते, साँप नहीं काटता, सिंह वार नहीं करता, और अग्नि तथा विष आदि कष्ट उत्पन्न नहीं कर सकते। धर्म प्राणी को नरक एवं अधोलोक में नहीं गिरने देता। यह धर्म की ही महिमा है कि जिससे जीव, सर्वज्ञता रूपी अनुपम आत्म-लक्ष्मी को प्राप्त कर परम ऐश्वर्यशाली परमात्मा बन जाता है।

जिन्हें सद्भाग्य से ऐसे विश्वोत्तम धर्म की प्राप्ति हुई है, उन्हें इससे अधिकाधिक लाभ प्राप्त कर जीवन सफल बनाना चाहिए ।"

भगवान् ने तीर्थ स्थापना की । 'सूक्ष्म' आदि ६६ गणधर हुए । ग्रामानुग्राम विचरते हुए प्रभु, द्वारिका नगरी के उद्यान में पधारे । द्विपृष्ट वासुदेव, भगवान् को वन्दना करने आये । भगवान् की अमोघ देशना सुन कर कई भव्यात्माओं ने संसार का त्याग कर, निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार की । कई ने देशविरति ग्रहण की और वासुदेव-बलदेव आदि बहुतजनों ने सम्यक्त्व स्वीकार कर मिथ्यात्व का त्याग किया ।

भगवान् वासुपूज्य स्वामी के ७२००० साधु, एक लाख साध्वियें, १२०० चौदह पूर्वधर, ५४०० अवधिज्ञानी, ६१०० मनःपर्यवज्ञानी, ६००० केवलज्ञानी, १०००० वैक्रेय-लब्धिधारी, ४७०० वादी, २१५००० श्रावक और ४३६००० श्राविकाएँ हुईं । भगवान् एक मास कम ५४००००० वर्ष तक केवल-पर्याय युक्त तीर्थंकर रहे । आयुष्य समाप्ति का समय निकट आने पर भगवान् चम्पा नगरी पधारे । ६०० मुनियों के साथ अनशन स्वीकार किया और एक मास के बाद मोक्ष प्राप्त किया ।

प्रभु १८००००० वर्ष कुमार अवस्था में और ५४००००० वर्ष श्रमण-पर्याय में, यों कुल ७२००००० वर्ष का आयु भोगा । देवों ने प्रभु का निर्वाण महोत्सव किया ।

दूसरे वासुदेव, महा आरम्भ और महा परिग्रह युक्त और देव जैसे भोग भोग कर, आयु पूर्ण होने पर, छठी नरकभूमि में उत्पन्न हुए । कुमारपन में ७५००० वर्ष, ७५००० मंडलिक राजापने, १०० वर्ष दिग्विजय में और ७२४९९०० वर्ष वासुदेवपने रहे । कुल आयु ७४००००० वर्ष का भोगा । वासुदेव की मृत्यु के बाद, संसार से विरक्त हो कर विजय बलदेव, श्री विजयसिंह आचार्य के समीप दीक्षित हुए और कर्म क्षय कर के मोक्ष प्राप्त किया ।

बारहवें तीर्थंकर भगवान्

॥ वासुपूज्यजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

भ० विमलनाथजी
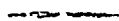
धातकी-खंड द्वीप के पूर्व-विदेह क्षेत्र की भरत नामक विजय में महापुरी नाम की नगरी थी। पद्मसेन महाराज उस नगरी के शासक थे। वे गुणों के भंडार और बलवानों में सर्वोपरि थे। जैनधर्म पर उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा थी। वे राज्य का संचालन अनासक्ति पूर्वक कर रहे थे। उनके हृदय में वैराग्य बसा हुआ था। श्री सर्वगुप्त आचार्य का योग पा कर वे दीक्षित हो गए और चारित्र तथा तप की उत्कट आराधना करते हुए तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध कर लिया। बहुत वर्षों तक विशुद्ध चारित्र पालते एवं उग्र तप करते हुए आयु पूर्ण कर के वे सहस्रार देवलोक में महान् ऋद्धिशाली देव हुए।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में 'कम्पिलपुर' नामक नगर था। वह नगर धन, जन, वैभव और सुख-समृद्धि से भरपूर था। 'कृतवर्मा' नाम के नरेश वहाँ के अधिपति थे। वे धीर, वीर, नीतिवान् और सद्‌गुणी थे। महारानी श्यामादेवी उनकी अग्रमहिषी थी। महारानी भी कुल, शील, लक्षण एवं वर्णादि में सुशोभित तथा श्री-सम्पन्न थी।

पद्मसेन मुनिराज का जीव, वैशाख-शुक्ला द्वादशी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में सहस्रार देवलोक से च्यव कर महारानी श्यामादेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर माघ-शुक्ला तृतीया की मध्यरात्रि को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में महारानी ने एक परम तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। उस समय सभी ग्रह अपने-अपने उच्च स्थान पर थे। जन्म होते ही छप्पन कुमारिका देवियें, सूतिका कर्म करने

के लिए आ गई और अन्य देव तथा इन्द्र भी जन्मोत्सव करने आये। मेरु-पर्वत पर देवों ने जन्मोत्सव किया। प्रातःकाल होने पर महाराज कृतवर्मा नरेश ने भी जन्मोत्सव प्रारंभ किया। गर्भकाल में माता, विशेष विमल (निर्मल) हो गई थी, इसलिए पुत्र का नाम 'विमलकुमार' रखा गया। यौवन-वय प्राप्त होने पर राजकुमारियों के साथ विमलकुमार का विवाह हुआ। पन्द्रह लाख वर्ष पर्यन्त कुमार अवस्था में रहने के बाद पिता ने कुमार का राज्याभिषेक कर दिया। तीस लाख वर्ष तक आप राज्य का संचालन करते रहे। इसके बाद आपने वर्षीदान दे कर संसार का त्याग कर दिया और माघ-शुक्ला चतुर्थी के दिन जन्म-नक्षत्र में ही, बेले के तप से, एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा ग्रहण की। फिर आप ग्रामानुग्राम विचरने लगे।

स्वयंभू वासुदेव चरित्र

इस जम्बूद्वीप के पश्चिम महाविदेह क्षेत्र की आनन्दकरी नगरी में 'नन्दीसुमित्र' नाम का राजा राज करता था। वह महाबलवान् और विवेकवान् था। संसार की असारता पर उसके मन में उद्वेग था। राज का संचालन करते हुए भी वह अलिप्त रहता था और सर्वत्यागी बनने का मनोरथ कर रहा था। श्री सुव्रताचार्य मुनिराज का योग मिलते ही वह प्रव्रजित हो गया और संयम तथा विविध अभिग्रह युक्त तप करता हुआ आयु पूर्ण कर के अनुत्तर विमान में देव हुआ।

भरत-क्षेत्र की श्रावस्ति नगरी में धनमित्र नाम का राजा राज करता था। धनमित्र की मित्रता के वश हो कर 'बलि' नाम का एक दूसरा राजा भी श्रावस्ति में ही आ कर धनमित्र के साथ रहने लगा। वे दोनों द्युतक्रीड़ा में आसक्त हो कर पासा फेंक कर खेलने लगे। वे दोनों इस खेल में इतने लुब्ध रहते कि हिताहित का भी विचार नहीं करते। वे युद्ध के समान एक दूसरे को हरा कर विजय प्राप्त करने के लिए सम्पत्ति को दाँव पर लगाने लगे। होते-होते धनमित्र ने अपना सारा राज्य दाँव पर लगा दिया और हार गया। वह कंगाल के समान राज्य छोड़ कर चला गया और विक्षिप्त के समान भटकने लगा। भटकते हुए उसे निर्ग्रंथ अनगार श्री सुदर्शन मुनि के दर्शन हुए। धर्मदेशना सुन कर वह दीक्षित हो गया और संयम तथा तप की आराधना करता हुआ विचरने लगा। वह चारित्र की आराधना तो करता था, किन्तु 'बलि' राजा के द्वारा हुए अपने अपमान को

अपने हृदय से निकाल नहीं सका । उसे रह-रह कर मित्र द्वारा हुआ विश्वासघात और अपमान खटकने लगा । अंत में उसने निदान (दृढ़ संकल्प) कर ही लिया कि—'यदि मेरे तप का फल हो, तो मैं भवान्तर में उस मित्र-द्रोही 'वलिराजा' का वध कर के उसके पाप का वदला लूं," इस प्रकार तप से प्राप्त आत्मवल को दाँव पर लगा दिया और अनशन कर के मृत्यु पा कर वह वारहवें स्वर्ग में उत्पन्न हुआ ।

वलि राजा भी कालान्तर में राज का त्याग कर के साधु हो गया और संयम पाल कर देवलोक में गया । वहाँ से आयु पूर्ण कर के भरत-क्षेत्र के नन्दनपुर नगर के 'समर-केसरी' राजा की सुन्दरी रानी की कुक्षि से पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ । वह वड़ा प्रतापी, योद्धा और महत्वाकांक्षी हुआ । उसने वैताढ्य पर्वत तक के आधे भरत-क्षेत्र को जीत लिया और अर्ध चक्रवर्ती 'मेरक' नामक 'प्रतिवासुदेव' हुआ । उसकी समानता करने वाला उस समय दूसरा कोई भी राजा नहीं था । उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने की शक्ति किसी में नहीं थी ।

द्वारिका नगरी में रुद्र नाम का राजा था । उसके 'सुप्रभा' और 'पृथिवी' नाम की दो रानियाँ थीं । 'नन्दीसुमित्र' का जीव, अनुत्तर विमान से च्यव कर सुप्रभादेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ । माता ने वलदेवपद को सूचित करने वाले चार महास्वप्न देखे । जन्म होने पर पुत्र का 'भद्र' नाम रखा गया । वह अनुक्रम से वढ़ता हुआ एक महा वलवान् योद्धा हुआ ।

धनमित्र का जीव, अच्युत स्वर्ग से च्यव कर पृथिवीदेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ और सात महास्वप्न से, वासुदेव पद के धारक विशिष्ट शक्तिशाली महापुरुष के आगमन का सन्देश मिला । जन्म होने पर पुत्र का 'स्वयंभू' नाम दिया गया । कुमार दिन-प्रति-दिन वढ़ने लगा । वड़े भाई भद्र का स्वयंभू पर अत्यंत स्नेह था । स्वयंभू भी अद्वितीय वलवान् और सभी कलाओं में प्रवीण हो गया ।

एक वार दोनों राजकुमार, मन्त्री-पुत्र और अन्य साथियों के साथ नगर के समीप के उपवन में क्रीड़ा करने गये । उन्होंने देखा कि वहुत-से हाथी-घोड़े और धन से भरपूर तथा वहुत-से सैनिकों से युक्त एक पड़ाव जमा हुआ है । उन्होंने मन्त्री से पूछा । पता लगाने पर मालूम हुआ कि—

'शशिसौम्य राजा पर, महाराजाधिराज 'मेरक' क्रुद्ध हो गया और दण्ड-स्वरूप उसकी सम्पत्ति की माँग की । शशिसौम्य, अपने जीवन की रक्षा के लिए यह सब सम्पत्ति

दण्ड-स्वरूप भेज रहा है।'

यह बात सुनते ही स्वयंभू कुमार का कोप जाग्रत हुआ। उसने गर्वपूर्वक कहा—

"तो यह रत्न-भंडार और हाथी-घोड़े, शशिसौम्य से दण्ड में लिये जा रहे हैं? अब इनका स्वामी शशिसौम्य नहीं रहा? हम चाहते हैं कि यह सम्पत्ति मेरक की भी नहीं बने। यह सब हमारा है। हमारे सामने से—हमारे देखते, यह मेरक के पास नहीं जा सकती। यदि बलवान् ही सब सम्पत्ति का स्वामी हो सकता है, तो हम भी इसे प्राप्त कर सकते हैं।"

उन्होंने अपने सैनिकों को आज्ञा दी;—"तुम जाओ और उपवन के समीप लगे हुए पड़ाव में से सभी हाथी-घोड़े, रत्न-भण्डार और शस्त्रादि लूट लाओ।"

सैनिक गये और धावा कर दिया। रक्षक-दल स्तब्ध रह गया। वह इस अचानक आक्रमण के लिए तय्यार नहीं था। सभी भाग गये और सारी सम्पत्ति सरलता से प्राप्त हो गई। उन भागे हुए सैनिकों ने नन्दनपुर जा कर मेरक नरेश के सामने अपनी दुर्दशा और लूट का वर्णन किया। मेरक नरेश का कोप भड़का। उन्होंने चढ़ाई करने की आज्ञा दी, किंतु मन्त्री ने रोकते हुए कहा;—

"महाराज! यह दुर्घटना बालकों की उद्दंडता से हुई है। इसका दण्ड रुद्र को नहीं मिलना चाहिए। रुद्र राजा आपका आज्ञाकारी रहा है। वह सारी सम्पत्ति लौटा देगा और विशेष में कुछ भेंट भेज कर क्षमा याचना करेगा। हमें उसके पास दूत भेज कर उपालंभ देना चाहिए। इस प्रकार शांति से काम हो जाय, तो अच्छा है। अन्यथा बाद में भी आप शक्ति का प्रयोग कर के उसे दण्ड दे सकेंगे।"

मन्त्री का परामर्श मान्य हुआ और उसी को दूत बना कर द्वारिका भेजा गया। मन्त्री ने रुद्र राजा को समझाया;—

"नरेश! तुम्हारे पुत्रों ने यह अनर्थ क्यों कर डाला? आप तो इसके परिणाम को जानते ही हैं। स्वामी का मान रखने के लिए उसके कुत्ते का भी अनादर नहीं होता, तब इन कुमारों ने कैसा भयंकर दुःसाहस कर डाला। अब सारी सामग्री और अपनी ओर से विशेष भेंट भेज कर इस कलुष को धो डालिये। इससे शांति हो जायगी और कुमारों के अविनय को अज्ञानता का आवरण ढँक देगा।"

मन्त्री की बात सुन कर राजा विचार में पड़ गया। इतने में राजकुमार स्वयंभू कहने लगे;—

—"आपकी स्वामी-भक्ति और पिताश्री के प्रति पूज्य-भाव से आपने जो परामर्श

दिया, वह सत्य एवं उचित है। किन्तु आप भी सोचिये कि हमने जो सम्पत्ति प्राप्त की, वह मेरक की तो नहीं थी? यदि आपका स्वामी, अपने बल के अधिकार से दूसरों की सम्पत्ति का स्वामी हो सकता है, तो हम क्यों नहीं हो सकते? हम भी अपने भुज-बल से उसका सारा राज्य छीन सकते हैं। 'वीर-भोग्या वसुन्धरा'—जब पृथ्वी का राज्य, वीर पुरुष ही कर सकते हैं, तो अकेला मेरक ही वीर नहीं है। मेरे ज्येष्ठ-बन्धु महाबाहु भद्रजी और मैं अपनी शक्ति से यह समस्त भूमि, आपके राजा से छीन लेंगे और दक्षिण-भरत में निष्कंटक राज्य करेंगे। मेरक ने भी दूसरे राजाओं को जीत कर राज्य प्राप्त किया है, तो हम उस अकेले को जीत कर पूरा राज्य अपने अधिकार में कर लेंगे।"

स्वयंभू कुमार की बातें सुन कर मन्त्री को आश्चर्य हुआ और उनकी सामर्थ्य का अनुमान कर के भय भी लगा। वे वहाँ से लौट गये और मेरक नरेश से सभी बातें स्पष्ट रूप से कह दीं। मेरक की कषायाग्नि प्रज्वलित हो गई। वह विशाल सेना ले कर द्वारिका की ओर चल दिया। इधर राजकुमार स्वयंभू भी अपने पिता, ज्येष्ठ-भ्राता और सेना ले कर राज्य की सीमा की ओर चल दिए। दोनों सेनाओं का सामना होते ही युद्ध प्रारम्भ हो गया। भयंकर नरसंहार मच गया। फिर दोनों ओर से विविध प्रकार के भयंकर अस्त्रों का प्रहार होने लगा। अंत में मेरक द्वारा छोड़े हुए चक्र के आघात से स्वयंभू कुमार मूच्छित हो कर रथ में गिर गए। थोड़ी देर में सावधान हो कर उसी चक्र के प्रहार से राजकुमार स्वयंभू ने मेरक का वध कर के युद्ध का अंत कर दिया। मेरक के अंत के साथ ही स्वयंभू, मेरक के राज्य के स्वामी बन गये। वे दक्षिण-भरत को पूर्ण रूप से विजय कर के तीसरे वासुदेव पद पर प्रतिष्ठित हुए। बड़े आडम्बर पूर्ण उत्सव के साथ उनका राज्याभिषेक हुआ।

× × × ×

दो वर्ष पर्यन्त छद्मस्थ अवस्था में रह कर भ० श्री विमलनाथ स्वामी को पौष-शुक्ला छठ के दिन बेले के तप से उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हो गया। देवों और इन्द्रों ने केवल-महोत्सव किया। भगवान् ने प्रथम धर्मदेशना देते हुए फरमाया;—

धर्मदेशना

बोधि-दुर्लभ भावना

अकाम-निर्जरा रूपी पुण्य से बढ़ते-बढ़ते जीव, स्थावरकाय से छूट कर त्रसकाय में

आता है। फिर बेइन्द्रिय से तेइन्द्रिय, यों बढ़ते-बढ़ते पंचेन्द्रिय अवस्था, बड़ी कठिनाई से और बहुत लम्बे काल के बाद मिलती है। पंचेन्द्रिय अवस्था प्राप्त करने के बाद भी जब कर्म बहुत हल्के हो जाते हैं, तभी मनुष्य-जन्म की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार आर्यदेश, उत्तमकुल, सभी इन्द्रियों की पटुता और दीर्घ आयु की कथंचित् प्राप्ति होती है। इससे भी अधिक पुण्य का उदय होता है, तभी सद्धर्मकथक सद्गुरु का सुयोग मिलता है और शास्त्र-श्रवण करने की अनुकूलता प्राप्त होती है। पुण्य का अत्यधिक उदय होता है, तब धर्म में श्रद्धा होती है। इस प्रकार सभी प्रकार की अनुकूलता हो, तो भी तत्त्वनिर्णय रूप 'बोधि-रत्न' की प्राप्ति होना तो महान् दुर्लभ है। श्रद्धा के बाद प्रतीति और उसके बाद रुचि हो जाना महानतम पुण्य उदय एवं कर्म-निर्जरा हो तभी होता है।

बोधि-रत्न की प्राप्ति जितनी दुर्लभ है, उतनी राज-सत्ता और चक्रवर्तीपन की प्राप्ति दुर्लभ नहीं है। सभी जीवों ने, ऐसे सभी भाव, पहले अनन्तबार प्राप्त किये होंगे, किन्तु जब इस संसार में जीवों का परिभ्रमण देखने में आवे, तो विचार होता है कि जीवोंने बोधि-रत्न की प्राप्ति पहले कभी नहीं की। इस संसार में परिभ्रमण करते हुए सभी प्राणियों को पुद्गल-परावर्तन अनन्त हो गए। जब अन्त का अर्धपुद्गल परावर्तन शेष रहता है, तब सभी कर्मों की स्थिति एक कोटाकोटी सागरोपम से कम होती है और तभी 'यथाप्रवृत्तिकरण' से आगे बढ़ कर कोई प्राणी ग्रंथी-भेद कर के उत्तम 'बोधि-रत्न' को प्राप्त करता है।

कुछ जीव ऐसे भी होते हैं कि यथाप्रवृत्तिकरण कर के ग्रंथी-भेद की सीमा तक तो आते हैं, किन्तु यहाँ आ कर रुक जाते हैं और आगे नहीं बढ़ कर उलटे पीछे लौट आते हैं और फिर संसार में भटकते रहते हैं।

सम्यक्त्व-रत्न प्राप्त होने में अनेक प्रकार की बाधाएँ रही हुई है। उत्थान के इस मार्ग में कुशास्त्रों का श्रवण, मिथ्यादृष्टि का समागम, बुरी वासनाएँ और प्रमाद ऐसे शत्रु हैं, जो आगे नहीं बढ़ने दे कर पीछे धकेलते हैं। यद्यपि चारित्र-रत्न की प्राप्ति भी दुर्लभ है, किन्तु बोधि-रत्न की प्राप्ति के बाद चारित्र-रत्न की प्राप्ति की दुर्लभता बहुत कम हो जाती है, और चारित्र की सफलता भी बोधि के अस्तित्व में ही होती है। अन्यथा प्राप्त चारित्र भी निष्फल हो जाता है। अभव्य प्राणी भी चारित्र ग्रहण कर के नौवें ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो सकता है, किन्तु बोधि-रत्न के अभाव में वे मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते।

चक्रवर्ती महाराजाधिराज के पास अपार सम्पत्ति होती है, किन्तु बोधि-रत्न नहीं हो, तो वे एक प्रकार से रंक (दरिद्र) हैं और बोधि-रत्न को जिसने प्राप्त कर लिया—

ऐसा रंक भी उस चक्रवर्ती सम्राट से अधिक सम्पत्तिशाली है।

जिसे बोधि-रत्न प्राप्त हो गया, वह इस संसार के प्रति कभी राग नहीं करता और ममत्व रहित हो कर मुक्ति-मार्ग की आराधना करता है।

अकामनिर्जरारूपात्पुण्याज्जंतोः प्रजायते ।
स्थावरत्वात्त्रसत्वं वा तिर्यक्त्वं वा कथंचन ॥१॥
मनुष्यमार्यदेशश्च, जातिः सर्वाक्षपाटवम् ।
आयुश्च प्राप्यते तत्र, कथंचित् कर्मलाघवात् ॥२॥
प्राप्तेषु पुण्यतः श्रद्धा, कथक श्रवणेष्वपि ।
तत्त्वनिश्चयरूपं तद् बोधिरत्नं सुदुर्लभम् ॥३॥

वास्तव में बोधि-रत्न=तत्त्व की विशुद्ध समझ, उस पर श्रद्धा, रुचि और प्रतीति होना महान् दुर्लभ है—"**सद्धा परमदुल्लहा**" इस आगम-वाणी को ध्यान में रख कर मिथ्यात्व रूपी आकर्षक डाकू से इस महारत्न की रक्षा करनी चाहिये।

भगवान् का उपदेश सुन कर अनेक भव्यात्माएँ, मोक्षमार्ग की पथिक बनी। 'मंदर' आदि ५६ गणधर हुए*। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान् द्वारिका पधारे। समवसरण की रचना हुई। वासुदेव और वलदेव, भगवान् को वन्दना करने आये। भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर स्वयंभू वासुदेव ने सम्यक्त्व लाभ किया और भद्र वलदेव ने श्रावकपन स्वीकार किया।

भगवान् विमलनाथ प्रभु के ६८००० साधु, १००८०० साध्वियें, ११०० चौदह पूर्वधर, ४८०० अवधिज्ञानी, ५५०० मनःपर्यवज्ञानी, ५५०० केवलज्ञानी, ९००० वैक्रिय-लब्धिधारी, २०८००० श्रावक और ४२४००० श्राविकाएँ हुईं।

केवलज्ञान होने के बाद दो वर्ष कम पन्द्रह लाख वर्ष तक भगवान् पृथ्वी पर विहार करते हुए विचरते रहे। फिर निर्वाण-काल निकट आने पर समेदशिखर पर पधारे और छःहजार साधुओं के साथ अनशन किया। एक मास का अनशन पूर्ण कर आषाढ़-कृष्णा सप्तमी को पुष्य-नक्षत्र में मोक्ष पधारे।

भगवान् पन्द्रह लाख वर्ष कुमार अवस्था में, तीस लाख वर्ष तक राज्याधिपति और पन्द्रह लाख वर्ष का त्यागी जीवन व्यतीत कर, कुल साठ लाख वर्ष का पूर्ण आयु भोग

* ग्रंथकार ५७ गणधर बतलाते हैं।

कर सिद्ध पद को प्राप्त हुए।

स्वयंभू वासुदेव महा आरम्भ, महा परिग्रह तथा भोग में लुब्ध हो कर और क्रूर कर्म करते हुए अपनी साठ लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर के छठी नरक में गये। इनकी मृत्यु के बाद भद्र बलदेव विरक्त हो कर मुनिचन्द्र अनगार के पास प्रव्रजित हो गए। सयम और तप का उत्कृष्ट रूप में पालन कर के और अपनी पैंसठ लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर के मोक्ष पधारे।

तेरहवें तीर्थंकर
भगवान्
॥ विमलनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

भ० अनंतनाथजी

धातकीखंड द्वीप के पूर्व-विदेह क्षेत्र के ऐरावत विजय में अरिष्टा नामकी एक महानगरी थी। पद्मरथ नाम के महाराजा वहाँ के अधिपति थे। उन्होंने अपने सभी शत्रुओं को जीत कर विजय तथा राज्य-लक्ष्मी प्राप्त कर ली थी और अब मोक्ष-लक्ष्मी साधने में उत्सुक हो गये थे। अब वे राज्य-लक्ष्मी को तृणवत् तुच्छ मानने लगे थे। उनके भवनों, उपवनों और नगर में अनेक प्रकार के उत्सव, नाटक, नृत्य और खेल-तमाशे हो कर मनोरंजन हो रहा था, किंतु पद्मरथ महाराज की उनमें रुचि नहीं रही। वे निर्लिप्त रह कर लोक-रीति का निर्वाह करते थे। कुछ समय के बाद वे 'चित्तरक्ष' नाम के मुनिराज के पास प्रव्रजित हो गए और रत्नत्रय का विशुद्ध रीति से पालन करते हुए, तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध कर लिया तथा मृत्यु पा कर प्राणत देवलोक के पुष्पोत्तर विमान में देव रूप से उत्पन्न हुए।

जम्बूद्वीप के दक्षिण-भरत में अयोध्या नाम की नगरी थी। सिंहसेन नरेश अयोध्या के स्वामी थे। वे बलवान्, प्रतापी एवं सद्गुणी थे। राज्य की सीमा के समीप रहे हुए बहुत-से राज्यों के राजा उनकी प्रसन्नता एवं कृपा पाने के लिए उत्तम वस्तुओं की भेंट करते रहते थे। महाराजा सिंहसेन के 'सुयशादेवी' नाम की महारानी थी। वह रूप, लावण्य, कला, कुल और शील से सम्पन्न थी। उसमें उत्तम गुणों का निवास था।

प्राणत देवलोक में रहे हुए पद्मरथ देव ने अपना उत्कृष्ट आयु पूर्ण कर के श्रावण-कृष्णा सप्तमी को रेवती-नक्षत्र में च्यव कर सुयशा महारानी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ।

महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। वैशाख-कृष्णा त्रयोदशी की रात्रि में पुष्प-नक्षत्र में पुत्र का जन्म हुआ। नियमानुसार देव-देवियों और इन्द्रों ने तीर्थंकर का जन्मोत्सव किया। जब पुत्र गर्भ में थे, तब महाराजा सिंहसेन ने शत्रुओं के अनन्त वलयुक्त मानी जाने वाली सेना को भी जीत लिया था। इसे गर्भ का प्रताप मान कर पुत्र का नाम 'अनन्तजित' दिया। यौवनवय में विवाह हुआ और साढ़े सात लाख वर्ष बीतने पर पिता ने राज्य का भार दे दिया। पन्द्रह लाख वर्ष तक राज्य का संचालन किया। इसके बाद आपके मन में संसार का त्याग कर मोक्ष के महामार्ग पर चलने की इच्छा हुई। लोकान्तिक देवों ने आ कर, संसार का त्याग कर धर्म-तीर्थ प्रवर्त्तन करने की प्रार्थना की। वर्षीदान दिया। वैशाख-कृष्णा चतुर्दशी को रेवती-नक्षत्र में बेले के तप से एक हजार राजाओं के साथ, महाराजा अनंतनाथ ने सामायिक चारित्र ग्रहण किया।

वासुदेव चरित्र

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में नन्दपुरी नाम की एक नगरी थी। 'महाबल' नाम का महाबली राजा था। कालान्तर में वह संसार के प्रपंच से विरक्त हो गया और 'ऋषभ' नाम के मुनिवर के चरणों में दीक्षित हो गया। शुद्धता एवं भावपूर्वक संयम की आराधना करते हुए महाबल मुनि, आयु पूर्ण कर 'सहस्रार' देवलोक में देव हुए।

जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में 'कौसम्बी' नाम की नगरी थी। 'समुद्रदत्त' वहाँ का प्रतापशाली नरेश था। 'नन्दा' नाम की अनुपम रूप सुन्दरी उसकी रानी थी। एक समय समुद्रदत्त का मित्र, मलयभूमि का राजा चण्डशासन वहाँ आया। समुद्रदत्त ने उसका सगे भाई के समान बड़े हर्ष और उत्साहपूर्वक स्वागत किया। वहाँ रूपसुन्दरी नन्दा रानी, चण्डशासन की दृष्टि में आ गई। वह उसे देखते ही चकित रह गया। उसके मन में विकार जाग्रत हो गया—इतना अधिक कि उसकी दशा ही बदल गई। वह चिंतित, स्तब्ध एवं विक्षुब्ध हो गया। उसके शरीर में पसीना आ गया और घबड़ाहट उत्पन्न हो गई। वह नन्दा रानी को अंकशायिनी बनाने के लिए व्यग्र हो गया। वह रात को सोया, परन्तु उसे नींद नहीं आई। वह तड़पता ही रहा। अब वह वहीं रह कर नन्दारानी को प्राप्त करने के उपाय सोचने लगा। वह मित्र के रूप में शत्रु बन कर समुद्रदत्त के विरुद्ध योजना बनाने लगा और एक दिन समुद्रदत्त की अनुपस्थिति में छल कर के वह दुष्ट, नन्दा का हरण कर के

ले गया। समुद्रदत्त को इस मित्र-घातक कृत्य से बड़ा दुःख हुआ। उसने नन्दा की बहुत खोज कराई, किन्तु पता नहीं लगा। वह संसार से विरक्त हो कर श्री श्रेयांस मुनिराज के समीप दीक्षित हो गया और चारित्र तथा तप की उग्र आराधना करने लगा। संयमी साधु बन जाने पर भी उसके मन में से मित्र द्वारा हुए विश्वासघात और अपमान का शूल नहीं निकल सका। उसने भविष्य में चण्डशासन का वध करने का निदान कर लिया। इस प्रकार अपरिमित फलदायक तप का दुरुपयोग कर, परिमित कुफल वाला बना दिया और मृत्यु पा कर सहस्रार देवलोक में देव हुआ।

चंडशासन भी मृत्यु पा कर भव-भ्रमण करता हुआ और भीषण दुःख भोगता हुआ मनुष्य-भव पाया और भरत-क्षेत्र में पृथ्वीपुर नगर के विलास राजा की गुणवती रानी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। उसका नाम 'मधु' रहा। वह उस समय का अद्वितीय महाबली योद्धा हुआ। उसने अपने बाहुबल से दक्षिण भरत के सभी राज्यों को जीत कर अपने अधिकार में कर लिया। वह चौथा प्रतिवासुदेव हुआ। उसके 'कैटभ' नाम का भाई भी था। वह भी योद्धा और प्रचण्ड शक्तिशाली था।

द्वारिका नगरी में 'सोम' नाम का गुणवान् राजा था। उसके 'सुदर्शना' और 'सीता' नाम की दो रानियाँ थीं। महाबल मुनिराज का जीव, सहस्रार देवलोक से च्यव कर सुदर्शना रानी की कुक्षि में आया। रानी ने चार महास्वप्न देखे। जन्म होने पर पुत्र का 'सुप्रभ' नाम दिया। कालान्तर में समुद्रदत्त मुनि का जीव भी सहस्रार देव का आयु पूर्ण कर सीतादेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। रानी ने वासुदेव के आगमन को सूचित करने वाले सात महास्वप्न देखे। जन्म होने के बाद विधिपूर्वक पुत्र का 'पुरुषोत्तम' नाम दिया। दोनों भाइयों में अपार स्नेह था। वे समवयस्क मित्र के समान साथ ही खेलते और साथ ही रहते। उन्होंने सभी प्रकार की कला सीख ली। दोनों भाई युद्ध-कला में प्रवीण हो गए और महान् बलशाली हुए। देवों ने बड़े भाई सुप्रभ को हल और पुरुषोत्तम को सारंग धनुष आदि प्रभावशाली आयुध भेंट किये।

कलह एवं कौतुक करने में कुशल ऐसे नारदजी, इन युगल-बन्धुओं का बल और पराक्रम देख कर चकित हुए। वे भ्रमण करते हुए प्रति वासुदेव मधु के पास आये। महाराजा मधु ने नारदजी का आदर सहित स्वागत किया और कहने लगा; —

"मैं इस दक्षिण भरत-क्षेत्र का एकमात्र स्वामी हूँ। मैंने यहाँ के सभी राजाओं को जीत कर अपने आधीन कर लिया। मागध, वरदाम और प्रभास, ये तीर्थ भी मेरे शासन

में है। मैं देवोपम उत्कृष्ट सुखों को भोग रहा हूँ। आपको जिस दुर्लभ वस्तु की आवश्यकता हो, वह निःसंकोच मुझ से लीजिए। मैं आपको वह वस्तु दूंगा।"

नारदजी बोले—"राजन् ! मुझे किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है, न मैं कुछ लेने के लिए यहाँ आया हूँ। मैं तो वैसे ही क्रीड़ा करता हुआ यहाँ चला आया। किंतु तुम्हें अपने प्रभुत्व का अभिमान नहीं करना चाहिए। कुछ चाटुकारों की प्रशंसा सुन कर और निर्बल राजाओं को वश में कर लेने मात्र से तुम सर्वजीत नहीं हो जाते। इस पृथ्वी पर एक से एक बढ़ कर रत्न होते हैं।"

—"नारदजी ! तुम क्या कहते हो"—जरा उत्तेजित हो कर मधु नरेश बोला—"इस दक्षिण-भरत में क्या, गंगा से बढ़ कर भी कोई नदी है और वैताढ्य से बढ़ कर भी कोई पर्वत है ? आप बताइए कि मुझ से बढ़ कर कौन योद्धा आपके देखने में आया ?"

—"द्वारिका नगरी के सोम राजा के सुप्रभ और पुरुषोत्तम नाम के दो पुत्र ऐसे युद्धवीर, पराक्रमी और रिपुदमी हैं कि जिनके सामने दूसरा कोई योद्धा टिक नहीं सकता। वे युगल भ्राता ऐसे लगते हैं कि जैसे स्वर्ग से शक्र और ईशान इन्द्र उतर आये हों। वे अपने भुजबल से सागर सहित पृथ्वी पर अधिकार करने योग्य हैं। जब तक वे विद्यमान हैं, तब तक तुम्हारा यह दावा निरर्थक है कि—"मैं दक्षिण-भरत का अधिपति हूँ"—नारद ने कहा।

—"यदि आपका कहना सही है, तो मैं आज ही सोम, सुप्रभ और पुरुषोत्तम को युद्ध के लिए आमन्त्रण देता हूँ और इनसे द्वारिका का राज्य अपने अधिकार में कर लेता हूँ। आप यहीं रह कर तटस्थतापूर्वक अवलोकन करें।"

इस प्रकार कह कर मधु नरेश ने अपने एक विश्वस्त दूत को समझा कर सोम राजा के पास द्वारिका भेजा। दूत ने राज-सभा में पहुँच कर और चेहरे पर विशेष रूप से दर्प धारण कर गर्वोक्तिपूर्वक बोला;—

—"राजन् ! अहंकारियों के गर्व को गलाने वाले, विनीत पर वात्सल्य भाव रखने वाले और प्रचण्ड भुजबल से सभी पर विजय प्राप्त करने वाले, त्रिखण्डाधिपति महाराजाधिराज मधुकरजी का आदेश है कि पहले तो तुम भक्तिपूर्वक हमारी आज्ञा में रहते थे, किन्तु सुना है कि तुम्हारे दोनों पुत्र बड़े दुर्धर्ष हो गए और तुम भी पुत्र के पराक्रम से प्रभावित हो कर बदल गए हो। इसलिए यदि तुम्हारी भक्ति पूर्ववत् हो, तो तुम्हारे पास जो कुछ सार एवं मूल्यवान् वस्तु हो, वह दण्ड स्वरूप अर्पण करो। ऐसा करने पर तुम्हें

पारितोषिक रूप में उससे भी अधिक प्राप्त होगा। यदि तुमने ऐसा नहीं किया, तो सर्वस्व हरण कर लिया जायगा।"

राजदूत के ऐसे असह्य वचन सुन कर राजकुमार पुरुषोत्तम ने तत्काल कहा—

"दूत ! तुम तो सन्देश-वाहक हो, इसलिए तुम्हें मुक्त ही रखा जाता है, किन्तु इस प्रकार निर्लज्जतापूर्वक कटुतम शब्द कहलाने वाला तेरा स्वामी उन्मत्त तो नहीं हो गया है ? उसे कोई भूत-प्रेत तो नहीं लग गया है ? कौन मानता है उस घमण्डी दुर्मद को अपना स्वामी ? हमने कभी उसे अपना अधिकारी नहीं माना, न अब मानते हैं। इसलिए हे दूत ! तू चला जा यहाँ से, और अपने स्वामी को भेज। हम उसके घमण्ड का उपाय करेंगे। कदाचित् उसके जीवन के दिन पूरे होने आये हों ? उसकी राज्य-लक्ष्मी उससे रूठने ही वाली है और वह हमारी होगी। हम मधु का विनाश कर के उसके समस्त ऐश्वर्य के स्वामी बनेंगे।"

दोनों के बीच युद्ध हुआ। मधु प्रतिवासुदेव मारा गया और पुरुषोत्तम वासुदेव विजयी हुए। उनका सार्वभौम अर्ध भरताधिपति के रूप में राज्याभिषेक हुआ।

× × × ×

तीन वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रहने के बाद भगवान् श्री अनंतनाथ स्वामी को सहस्राम्रवन उद्यान में अशोकवृक्ष के नीचे बेले के तप से रहे हुए, वैशाख-कृष्णा चतुर्दशी को रेवती-नक्षत्र में केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हुआ। भगवान् का समवसरण हुआ। भगवान् ने धर्मदेशना दी। यथा—

धर्मदेशना

तत्त्व निरूपण

भगवान् ने अपनी प्रथम धर्मदेशना में फरमाया कि—

"हे भव्य जीवो ! तत्त्व को नहीं समझने वाले जीव, द्रव्य से सूझते हुए भी भाव से अन्धे हैं। जिस प्रकार मार्ग के नहीं जानने वाले, अटवी में भटकते रहते हैं, उसी प्रकार तात्त्विक ज्ञान के अभाव में जीव, संसार रूपी महा भयंकर अटवी में भटकते रहते हैं।

जिनेश्वरों ने जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, ऐसे नौ तत्त्व कहे हैं।

सब से प्रथम तत्त्व जीव है। इसके सिद्ध और संसारी ऐसे दो भेद हैं। ये सभी अनादि-निधन और ज्ञान-दर्शन लक्षण वाले हैं। इनमें जो मुक्त जीव हैं, वे सभी एक ही स्वभाव वाले, जन्म-मरणादि क्लेशों से रहित और अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आत्म-शक्ति और अनन्त आनन्द से व्याप्त हैं। संसारी जीव, स्थावर और त्रस ऐसे दो भेदों से युक्त हैं। ये दोनों पर्याप्त और अपर्याप्त हैं। पर्याप्त दशा की कारणभूत छह पर्याप्तियें हैं। यथा—

१ आहार पर्याप्ति २ शरीर पर्याप्ति ३ इन्द्रिय पर्याप्ति ४ श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति ५ भाषा पर्याप्ति और ६ मनः पर्याप्ति।

इन छह में से एकेन्द्रियों को चार पर्याप्ति, विकलेन्द्रिय जीवों (असंज्ञी पंचेंद्रिय सहित) को पाँच और संज्ञी पंचेंद्रिय को छः पर्याप्ति अनुक्रम से होती है।

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय, ये एकेन्द्रिय जीव, स्थावर होते हैं। इनमें से पृथ्वीकाय से लगा कर वायुकाय तक के चार, सूक्ष्म और बादर ऐसे दो भेद वाले हैं और वनस्पतिकाय, प्रत्येक और साधारण ऐसे दो भेद वाली है। इसमें प्रत्येक तो बादर ही है और जो साधारण है, वह सूक्ष्म भी है और बादर भी।

त्रस जीव चार प्रकार के हैं—१ बेइन्द्रिय २ तेइन्द्रिय ३ चौरीन्द्रिय और ४ पंचेंद्रिय। इनमें से बेइन्द्रिय से चौरीन्द्रिय तक के जीव तो असंज्ञी हैं और पंचेंद्रिय जीव असंज्ञी भी हैं और संज्ञी भी हैं। संज्ञी वही है—जो शिक्षा, उपदेश और आलाप को जानता है और मानसिक प्रवृत्ति से युक्त है। इसके विपरीत बिना मन के जीव असंज्ञी हैं।

इन्द्रियाँ पाँच हैं—१ स्पर्श २ रसना ३ नासिका ४ नेत्र और ५ श्रवण। इनके विषय अनुक्रम से १ स्पर्श २ रस ३ गंध ४ रूप और ५ शब्द हैं।

बेइन्द्रिय जीव—कृमि, शंख, गंडीपद, जोंक और शीप आदि।

तेइन्द्रिय जीव—युका, खटमल, मकोड़े और लीख आदि।

चौरीन्द्रिय—पतंग, मक्षिका, भ्रमर और डाँस आदि।

पंचेंद्रिय—जल, स्थल और आकाशचारी, ये तीन प्रकार के तिर्यञ्च जीव है और नारकी, मनुष्य और देवता भी पञ्चेन्द्रिय हैं।

प्राण—१-५ श्रोतेन्द्रियादि पांच इन्द्रिय ६ श्वासोच्छ्वास ७ आयुष्य ८ मनोबल ९ वचनबल और १० कायबल। ये दस प्राण हैं। १ कायबल २ आयुष्य ३ उच्छ्वास और

४ स्पर्शनेन्द्रिय, ये चार प्राण तो सभी संसारी जीवों के होते हैं। (एकेन्द्रिय जीवों में ये चार प्राण ही हैं) वेइन्द्रिय में १ रसेन्द्रिय और २ वचन मिल कर ६ प्राण होते हैं। तेइन्द्रिय में घ्राण विशेष होने से ७, चौरीन्द्रिय में रसनाइन्द्रिय सहित ८, असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च में श्रोतेन्द्रिय सहित ९ प्राण होते हैं। ये सभी असंज्ञी जीव हैं। संज्ञी जीवों के विशेष में 'मन' भी होता है। इस प्रकार उनके पूर्ण रूप से १० प्राण होते हैं।

नारकों का कुंभी से और देवों का शय्या में से उपपात के रूप में उत्पत्ति होती है। मनुष्यों की उत्पत्ति माता के गर्भ से होती है। तिर्यंच, जरायु और अंडे से उत्पन्न होते हैं और शेष असंज्ञी पंचेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और एकेन्द्रिय जीव, समूच्छिम रूप से उत्पन्न होते हैं। सभी समूच्छिम जीव और नारक जीव, नपुंसक ही होते हैं। देव, पुरुष तथा स्त्री-वेदी होते हैं और मनुष्य तथा तिर्यंच, पुरुष स्त्री और नपुंसकवेदी होते हैं।

सभी जीव व्यवहारी और अव्यवहारी—ऐसे दो प्रकार के हैं। अनादि सूक्ष्म-निगोद के जीव अव्यवहारी (अव्यवहार राशि वाले, जो अनादि काल से उसी रूप में जन्म-मरण करते रहते हैं। वे उस दशा को छोड़ कर किसी दूसरे स्थान गये ही नहीं) हैं। शेष सभी व्यवहारी (व्यवहार राशि वाले—विभिन्न गतियों में जाने वाले) हैं।

जीवों की उत्पत्ति नौ प्रकार की योनियों से होती हैं। १ सचित्त (जीव वाली) २ अचित्त ३ मिश्र ४ संवृत्त (ढँकी हुई) ५ असंवृत्त ६ संवृत्तासंवृत्त ७ शीत ८ उष्ण और ९ शीतोष्ण।

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वायुकाय, इन चार स्थावर में प्रत्येक की सात लाख योनि हैं। प्रत्येक वनस्पतिकाय की दस लाख और अनन्तकाय की चौदह लाख हैं। विकलेन्द्रिय की छह लाख (प्रत्येक की दो-दो लाख) मनुष्य की चौदह लाख तथा नारक, देव और तिर्यंच पंचेन्द्रिय की चार-चार लाख योनि हैं। इस प्रकार सभी जीवों को मिल कर कुल चोरासी लाख योनियाँ हैं। इन्हें केवलज्ञानियों ने ज्ञान में देखा है।

जीवों के भेद—१ एकेन्द्रिय सूक्ष्म और २ बादर ३ बेइन्द्रिय ४ तेइन्द्रिय ५ चौरीन्द्रिय ६ पंचेन्द्रिय असंज्ञी और ७ संज्ञी। इन सात के प्रर्याप्त और अपर्याप्त—ऐसे मूल चौदह भेद हैं। इनकी मार्गणा भी चौदह हैं। जैसे—१ गति २ इन्द्रिय ३ काय ४ योग ५ वेद ६ ज्ञान ७ कषाय ८ संयम ९ आहार १० दृष्टि ११ लेश्या १२ भव्य १३ सम्यक्त्व और १४ संज्ञी। इसी प्रकार सभी जीवों के गुणस्थान भी चौदह ही हैं। यथा—

१ मिथ्यात्व गुणस्थान २ सास्वादन गुणस्थान ३ मिश्र ४ अविरत सम्यग्दृष्टि ५ देश-

विरत ६ प्रमत्त-संयत ७ अप्रमत्त-संयत ८ निवृत्ति-बादर ९ अनिवृत्ति-बादर १० सूक्ष्म-संपराय ११ उपशांतमोह १२ क्षीणमोह १३ सयोगी केवली और १४ अयोगी केवली गुणस्थान। ये गुणस्थानों के नाम हैं। अब इनका संक्षेप में स्वरूप बताया जाता है।

गुणस्थान स्वरूप

(१) मिथ्यात्व के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है। मिथ्यात्व कोई गुण नहीं, किन्तु मिथ्यात्व होते हुए भी भद्रिकपन आदि (संतोष, सरलता और यथाप्रवृत्तिकरण से ग्रंथीभेद तक पहुँचना और इससे आगे बढ़ कर अपूर्वकरण अवस्था को प्राप्त करने रूप) गुणों की अपेक्षा से गुणस्थान कहा जाता है। तात्पर्य यह कि इस स्थान को मिथ्यात्व के कारण गुणस्थान नहीं कहा, किन्तु इस स्थान में रहे हुए अन्य गुणों के कारण गुणस्थान कहा है।

(२) अनन्तानुबन्धी कषाय—चौक का उदय होते हुए भी मिथ्यात्व का उदय नहीं होने के कारण दूसरे गुणस्थान को 'सास्वादन सम्यग्दृष्टि' गुणस्थान कहते हैं। इसकी स्थिति अधिक से अधिक छह आवलिका की है। इस स्थिति में नष्ट होते हुए सम्यक्त्व का तनिक आस्वाद रहता है। इसी के कारण यह गुणस्थान है।

(३) सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के मिश्रण से यह मिश्र गुणस्थान कहलाता है। इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र की है।

(४) अनन्तानुबन्धी कषाय-चौक और मिथ्यात्व-मोहनीय, मिश्र-मोहनीय के क्षयोपशमादि से आत्मा यथार्थदृष्टि प्राप्त करती है। इस गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषाय-चौक का उदय रहता है, जिसके कारण त्याग-प्रत्याख्यान नहीं होते। अनन्तानुबन्धी कषाय के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से यह 'अविरत सम्यग्दृष्टि' गुणस्थान होता है।

(५) अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशमादि से और प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से विरताविरत (देश-विरत) गुणस्थान होता है। (इस गुणस्थान का स्वामी सद्गृहस्थ, संसार में रहते हुए और उदयानुसार सांसारिक कृत्य तथा भोगादि का आस्वाद करते हुए भी संसार-भीरु होता है और निवृत्ति=सर्वविरति को ही उपादेय मानता है।)

(६) इस गुणस्थान का स्वामी सर्वविरत संयत होते हुए भी प्रमाद से सर्वथा वञ्चित नहीं रह सकता। पूर्व के गुणस्थानों जितना तो नहीं, किन्तु कुछ प्रमाद का असर अवश्य रहता है। इस गुणस्थान का ऐसा ही स्वभाव है।

(७) प्रमाद का सर्वथा त्याग करने वाले सर्वविरत संयत महापुरुष, सातवें गुण-

स्थान के स्वामी होते हैं। इस स्थान पर सूक्ष्मतम प्रमाद भी नहीं होता।

छठे और सातवें गुणस्थान की परस्पर परावृत्ति से अन्तर्मुहूर्त की स्थिति है +।

(८) अपूर्वकरण गुणस्थान—इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाली ऊर्ध्वमुखी आत्मा के कर्मों का स्थितिघात आदि अपूर्व होता है। इस प्रकार की अवस्था आत्मा ने पहले कभी प्राप्त नहीं की थी। इस स्थिति को प्राप्त होने वाली आत्मा, अपने कर्म-शत्रुओं का संहार करती हुई आगे बढ़ने की तय्यारी करती है●।

इस गुणस्थान में आत्मा, श्रेणी का आरोहण करने की तय्यारी करती है। कोई 'उपशम श्रेणी' के लिए तत्पर होती है, तो कोई 'क्षपक श्रेणी' के लिए *। इस स्थिति पर पहुँचने वालों की बादर-कषाय निवृत्त हो जाती है। इसलिए इस गुणस्थान का नाम "निवृत्ति-बादर" भी है।

(९) जिस परिणाम पर एक साथ पहुँचे हुए मुनिवरों के बादर-कषाय के निवृत्त परिणाम में अन्तर या परिवर्तन नहीं होता, सभी के परिणाम समान ही होते हैं, उसे "निवृत्ति-बादर" गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान पर पहुँचे हुए महात्मा या तो उपशमक होते हैं या क्षपक। इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म की एक संज्वलन के लोभ की सूक्ष्म प्रकृति के अतिरिक्त कोई भी प्रकृति उदय में नहीं रहती।

+ यों तो छठे गुणस्थान की उत्कृष्ट स्थिति देशोन पूर्वकोटि तक की है, किन्तु अप्रमत्त महर्षि सातवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त तक ही रह सकते हैं, क्योंकि इसकी स्थिति ही इतनी है। इसके बाद वे प्रमत्त गुणस्थान में आते हैं, किन्तु भावों की उच्चता के कारण छठे गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त रह कर पुनः सातवें में पहुँच जाते हैं। इस प्रकार चढ़ाव-उतार की दृष्टि से दोनों गुणस्थान अन्तर्मुहूर्त के बताये गये हैं।

● अपूर्वकरण, प्रथम गुणस्थान में भी होता है, किन्तु उसमें दर्शन-मोहनीय कर्म और अनन्तानुबन्धी कषाय चौक का ही सम्बन्ध है। इसके बाद भी मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियां शेष रहती हैं। आठवें गुणस्थान में मोहनीय का समूल नाश करने की तत्परता होती है। आयुष्य का बन्ध हो जाने के बाद भी प्रथम गुणस्थान वाले जीव को व आठवें के उपशमक को अपूर्वकरण हो सकता है, किन्तु जो जीव क्षपक-श्रेणी का आरम्भ करता है, वह तो अबद्धायु ही होता है। वह समस्त कर्मों से मुक्त हो कर सिद्ध ही होता है।

* क्षपक-श्रेणी प्राप्त आत्मा, कर्मों को क्षय करती जाती है और उपशम-श्रेणी वाली आत्मा मोह कर्म को दबाती जाती है। क्षपक-श्रेणी तो एक ही बार होती है, किन्तु उपशम-श्रेणी किसी आत्मा को पूरे भवचक्र में पाँच बार तक हो जाती है। क्षपक-श्रेणी वालों की अपेक्षा इस गुणस्थान को 'अपूर्वकरण' कहना ठीक ही है, किन्तु उपशम-श्रेणी की अपेक्षा 'अपूर्वकरण' कहने में मतभेद है।

विरत ६ प्रमत्त-संयत ७ अप्रमत्त-संयत ८ निवृत्ति-बादर ९ अनिवृत्ति-बादर १० सूक्ष्म-संपराय ११ उपशांतमोह १२ क्षीणमोह १३ सयोगी केवली और १४ अयोगी केवली गुणस्थान। ये गुणस्थानों के नाम हैं। अब इनका संक्षेप में स्वरूप बताया जाता है।

गुणस्थान स्वरूप

(१) मिथ्यात्व के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है। मिथ्यात्व कोई गुण नहीं, किन्तु मिथ्यात्व होते हुए भी भद्रिकपन आदि (संतोष, सरलता और यथाप्रवृत्तिकरण से ग्रंथीभेद तक पहुँचना और इससे आगे बढ़ कर अपूर्वकरण अवस्था को प्राप्त करने रूप) गुणों की अपेक्षा से गुणस्थान कहा जाता है। तात्पर्य यह कि इस स्थान को मिथ्यात्व के कारण गुणस्थान नहीं कहा, किन्तु इस स्थान में रहे हुए अन्य गुणों के कारण गुणस्थान कहा है।

(२) अनन्तानुबन्धी कषाय—चौक का उदय होते हुए भी मिथ्यात्व का उदय नहीं होने के कारण दूसरे गुणस्थान को 'सास्वादन सम्यग्दृष्टि' गुणस्थान कहते हैं। इसकी स्थिति अधिक से अधिक छह आवलिका की है। इस स्थिति में नष्ट होते हुए सम्यक्त्व का तनिक आस्वाद रहता है। इसी के कारण यह गुणस्थान है।

(३) सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के मिश्रण से यह मिश्र गुणस्थान कहलाता है। इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र की है।

(४) अनन्तानुबन्धी कषाय-चौक और मिथ्यात्व-मोहनीय, मिश्र-मोहनीय के क्षयोपशमादि से आत्मा यथार्थदृष्टि प्राप्त करती है। इस गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषाय-चौक का उदय रहता है, जिसके कारण त्याग-प्रत्याख्यान नहीं होते। अनन्तानुबन्धी कषाय के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से यह 'अविरत सम्यग्दृष्टि' गुणस्थान होता है।

(५) अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशमादि से और प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से विरताविरत (देश-विरत) गुणस्थान होता है। (इस गुणस्थान का स्वामी सद्गृहस्थ, संसार में रहते हुए और उदयानुसार सांसारिक कृत्य तथा भोगादि का आस्वाद करते हुए भी संसार-भीरु होता है और निवृत्ति=सर्वविरति को ही उपादेय मानता है।)

(६) इस गुणस्थान का स्वामी सर्वविरत संयत होते हुए भी प्रमाद से सर्वथा वञ्चित नहीं रह सकता। पूर्व के गुणस्थानों जितना तो नहीं, किन्तु कुछ प्रमाद का असर अवश्य रहता है। इस गुणस्थान का ऐसा ही स्वभाव है।

(७) प्रमाद का सर्वथा त्याग करने वाले सर्वविरत संयत महापुरुष, सातवें गुण-

स्थान के स्वामी होते हैं। इस स्थान पर सूक्ष्मतम प्रमाद भी नहीं होता।

छठे और सातवें गुणस्थान की परस्पर परावृत्ति से अन्तर्मुहूर्त की स्थिति है +।

(८) अपूर्वकरण गुणस्थान—इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाली ऊर्ध्वमुखी आत्मा के कर्मों का स्थितिघात आदि अपूर्व होता है। इस प्रकार की अवस्था आत्मा ने पहले कभी प्राप्त नहीं की थी। इस स्थिति को प्राप्त होने वाली आत्मा, अपने कर्म-शत्रुओं का संहार करती हुई आगे बढ़ने की तय्यारी करती है●।

इस गुणस्थान में आत्मा, श्रेणी का आरोहण करने की तय्यारी करती है। कोई 'उपशम श्रेणी' के लिए तत्पर होती है, तो कोई 'क्षपक श्रेणी' के लिए *। इस स्थिति पर पहुँचने वालों की बादर-कषाय निवृत्त हो जाती है। इसलिए इस गुणस्थान का नाम "निवृत्ति-बादर" भी है।

(९) जिस परिणाम पर एक साथ पहुँचे हुए मुनिवरों के बादर-कषाय के निवृत्त परिणाम में अन्तर या परिवर्तन नहीं होता, सभी के परिणाम समान ही होते हैं, उसे "निवृत्ति-बादर" गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान पर पहुँचे हुए महात्मा या तो उपशमक होते हैं या क्षपक। इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म की एक संज्वलन के लोभ की सूक्ष्म प्रकृति के अतिरिक्त कोई भी प्रकृति उदय में नहीं रहती।

+ यों तो छठे गुणस्थान की उत्कृष्ट स्थिति देशोन पूर्वकोटि तक की है, किन्तु अप्रमत्त महर्षि सातवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त तक ही रह सकते हैं, क्योंकि इसकी स्थिति ही इतनी है। इसके बाद वे प्रमत्त गुणस्थान में आते हैं, किन्तु भावों की उच्चता के कारण छठे गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त रह कर पुनः सातवें में पहुँच जाते हैं। इस प्रकार चढ़ाव-उतार की दृष्टि से दोनों गुणस्थान अन्तर्मुहूर्त के बताये गये हैं।

● अपूर्वकरण, प्रथम गुणस्थान में भी होता है, किन्तु उससे दर्शन-मोहनीय कर्म और अनन्तानुबन्धी कषाय चौक का ही सम्बन्ध है। इसके बाद भी मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियां शेष रहती हैं। आठवें गुणस्थान में मोहनीय का समूल नाश करने की तत्परता होती है। आयुष्य का बन्ध हो जाने के बाद भी प्रथम गुणस्थान वाले जीव को व आठवें के उपशमक को अपूर्वकरण हो सकता है, किन्तु जो जीव क्षपक-श्रेणी का आरम्भ करता है, वह तो अबद्धायु ही होता है। वह समस्त कर्मों से मुक्त हो कर सिद्ध ही होता है।

* क्षपक-श्रेणी प्राप्त आत्मा, कर्मों को क्षय करती जाती है और उपशम-श्रेणी वाली आत्मा मोह कर्म को दबाती जाती है। क्षपक-श्रेणी तो एक ही बार होती है, किन्तु उपशम-श्रेणी किसी आत्मा को पूरे भवचक्र में पांच बार तक हो जाती है। क्षपक-श्रेणी वालों की अपेक्षा इस गुणस्थान को 'अपूर्वकरण' कहना ठीक ही है, किन्तु उपशम-श्रेणी की अपेक्षा 'अपूर्वकरण' कहने में मतभेद है।

(१०) नौवें गुणस्थान में जो लोभ की सूक्ष्म प्रकृति शेष रह गई थी, उसका वेदन इस गुणस्थान में होता है। इसके अंत में लोभ को या तो सर्वथा उपशान्त कर दिया जाता है या क्षय होता है।

(११) उपशान्त-मोह वीतराग गुणस्थान। इस परिणति वाली आत्मा का मोह-कर्म पूर्ण रूप से दब जाता है।

(१२) जिसने दसवें गुणस्थान के अंतिम समय में लोभ (मोह) का सर्वथा क्षय कर दिया, वह दसवें से सीधा इस गुणस्थान में पहुँच कर 'क्षीण-मोह वीतराग' हो जाता है।

(१३) क्षीण-मोह गुणस्थान के अंतिम समय में शेष तीन घाती-कर्मों का क्षय कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर आत्मा सयोगी-केवली अवस्था प्राप्त कर लेती है। इस उत्तम स्थिति में आत्मा सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् हो जाती है।

(१४) अयोगी-केवली गुणस्थान—सयोगी केवली भगवान्, मन वचन और काया के योगों का निरोध कर के नष्ट करने के बाद अयोगी केवली हो जाते हैं और शैलेशीकरण कर के सिद्ध भगवान् बन जाते हैं।

इस प्रकार निम्नतम दशा से उत्थान हो कर गुणस्थान बढ़ते-बढ़ते आत्मा, परमात्म दशा को प्राप्त कर लेती है।

अजीव तत्त्व—द्रव्य छह हैं। इनमें से जीव-द्रव्य का निरूपण हो चुका। शेष पाँच द्रव्य 'अजीव'—जड़ हैं। यथा—१ धर्मास्तिकाय २ अधर्मास्तिकाय ३ आकाशास्तिकाय ४ पुद्गलास्तिकाय और ५ काल। इन छह द्रव्यों में से काल को छोड़ कर शेष पाँच द्रव्य तो प्रदेशों (सूक्ष्म-विभागों) के समूह रूप हैं और काल प्रदेश-रहित है। इनमें से केवल जीव ही चैतन्य (उपयोग) युक्त और कर्त्ता है, शेष पाँच द्रव्य अचेतन तथा अकर्त्ता हैं। काल को छोड़ कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय (प्रदेशों के समूह रूप) हैं। इनमें से एक पुद्गल द्रव्य ही रूपी है, शेष पाँच द्रव्य अरूपी हैं। ये छहों द्रव्य उत्पाद (नवीन अवस्था की उत्पत्ति) व्यय (भूत पर्याय का नाश) और ध्रौव्य (द्रव्य रूप से सदाकाल विद्यमान) रूप है।

सभी प्रकार के पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण युक्त हैं। इनके परमाणु और स्कन्ध ऐसे दो भेद हैं। जो परमाणु रूप हैं, वे तो अबद्ध हैं और जो स्कन्ध रूप हैं, वे बद्ध (परस्पर बँधे हुए) हैं।

पुद्गल के जो बँधे हुए स्कन्ध हैं, वे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, सूक्ष्म, स्थूल,

संस्थान, अन्धकार, आतप, उद्योत, प्रभा और छाया के रूप में परिणत हो जाते हैं। वे ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्म, औदारिक आदि पांच प्रकार के शरीर, मन, भाषा, गमनादि चेष्टा और श्वासोच्छ्वास रूप बनते हैं। ये सुख, दुःख, जीवित और मृत्यु रूप उपग्रह करने वाला है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, ये तीनों एक-एक द्रव्य है। ये सदा सर्वदा अमूर्त, निष्क्रिय और स्थिर है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के प्रदेश, एक जीव के आत्म-प्रदेश जितने असंख्यात है और समस्त लोक में व्याप्त हैं।

धर्मास्तिकाय में गमन सहायक गुण है। जो जीव या अजीव, अपने आप गमन करते हैं, उन्हें धर्मास्तिकाय सहायक बनती है। जिस प्रकार मत्स्य आदि जीवों को गमन करने में पानी सहायक बनता है। वे पानी के आधार से चलते हैं, उसी प्रकार धर्मास्तिकाय भी गति करने में सहायक बनती है।

अधर्मास्तिकाय स्थिर होने में सहायक बनती है। जिस प्रकार थका हुआ पथिक, वृक्ष की शीतल छाया में ठहर कर विश्राम लेता है, उसी प्रकार स्थिर होने की इच्छा वाले जीवों और गमन क्रिया से रहित अजीवों को ठहरने में सहायक होना, अधर्मास्तिकाय नामक अरूपी द्रव्य का गुण है।

आकाशास्तिकाय तो पूर्वोक्त दोनों द्रव्यों से अत्यन्त विशाल है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय तो लोक में ही व्याप्त है, किन्तु आकाशास्तिकाय तो लोक से भी अनन्तगुण अधिक ऐसे अलोक में भी सर्व-व्यापक हैं। इसके अनन्त प्रदेश हैं। यह आकाशास्तिकाय सभी द्रव्यों के लिए आधार रूप है और अपने निज स्वरूप में रहा हुआ है।

लोकाकाश के प्रदेशों में अभिन्न रूप से रहे हुए जो काल के अणु (समय रूपी सूक्ष्म भेद) हैं, वे भावों का परिवर्त्तन करते हैं। इसलिए मुख्य रूप से काल तो यही है, क्योंकि पर्याय-परिवर्त्तन (भविष्य का वर्त्तमान होना और वर्त्तमान का भूत बन जाना) ही काल है और ज्योतिष-शास्त्र में समय आदि से जो मान (क्षण, पल, घड़ी, मुहूर्त आदि) बताया जाता है, वह व्यवहार काल है। संसार में सभी पदार्थ नवीन और जीर्ण अवस्था को प्राप्त करते हैं। यह काल का ही प्रभाव है। काल-क्रीड़ा की विडम्बना से ही सभी पदार्थ वर्त्तमान अवस्था से गिर कर भूत अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, और भविष्य से खिच कर वर्त्तमान में आ जाते हैं।

आस्रव—जीव के मन, वचन और काया की प्रवृत्ति ही आस्रव है। क्योंकि इसीसे

आत्मा में कर्म का आगमन होता है। शुभ प्रवृत्ति 'पुण्य-वन्ध' का कारण होती है और अशुभ प्रवृत्ति 'पाप बन्ध' का हेतु बनती है।

संवर—सभी प्रकार के आस्रवों की रोक करना ही 'संवर' कहलाता है, जो विरति एवं त्याग रूप है।

निर्जरा—संसार के हेतुभूत कर्म का जिस साधना से जरना (विनाश) होता है, उसे 'निर्जरा' कहते हैं।

बन्ध—कषाय के सद्भाव से जीव, कर्म-योग्य पुद्गलों को आस्रव के द्वारा ग्रहण कर के अपने साथ बाँध लेता है, उसे 'बन्ध' तत्त्व कहते हैं। यह बन्ध तत्त्व ही जीव की परतन्त्रता का कारण बनता है। इसके चार भेद हैं;—१ प्रकृति २ स्थिति ३ अनुभाग और ४ प्रदेश।

प्रकृति का अर्थ 'स्वभाव' है। इसके ज्ञानावरणीयादि भेद से आठ प्रकार हैं। जैसे—१ ज्ञानावरणीय २ दर्शनावरणीय ३ वेदनीय ४ मोहनीय ५ आयु ६ नाम ७ गोत्र और ८ अन्तराय। ये आठ मूल प्रकृतियाँ हैं (इनकी उत्तर प्रकृतियां १४८ हैं)।

स्थिति—बन्धे हुए कर्म-पुद्गलों का आत्मा के साथ लगे रहने के काल को 'स्थिति' कहते हैं। जो जघन्य (कम से कम) भी होती है और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) भी।

अनुभाव—कर्म का विपाक (परिणाम) 'अनुभाग' कहलाता है।

प्रदेश—कर्म के दलिक (अंश) को 'प्रदेश' कहते हैं।

कर्म वन्ध के पाँच हेतु हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

मोक्ष—वन्ध के मिथ्यात्वादि पाँच हेतुओं का अभाव हो जाने पर, घातिकर्मों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) का क्षय हो जाता है। इससे जीव को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। इसके बाद शेष रहे हुए चार अघाती-कर्मों का क्षय होने से जीव मुक्त हो कर परम सुखी हो जाता है।

सभी राजाओं, नरेन्द्रों, देवों और इन्द्रों को तीन भुवन में जो सुख प्राप्त हैं, वे मोक्ष-सुख के अनन्तवें भाग में भी नहीं हैं।

इस प्रकार तत्त्वों को यथार्थ रूप में जानने वाला मनुष्य, कभी संसार-सागर में नहीं डूबता और सम्यग् आचरणा से कर्म-बन्धनों से मुक्त हो कर परम सुखी वन जाता है।

तत्त्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर के उस पर श्रद्धा करनी चाहिए और हेय को त्याग कर उपादेय का आचरण करना चाहिए। इससे आत्मा मोक्ष-गति पा कर परमात्मा बन जाती है।

भगवान् के 'यश' आदि पचास गणधर हुए। भगवान् विहार करते हुए द्वारिका पधारे। पुरुषोत्तम वासुदेव आदि भगवान् को वन्दन करने आये। देशना सुनी। वासुदेव सम्यक्त्वी हुए, बलदेव व्रतधारी श्रावक हुए। कई भव्यात्माएँ दीक्षित हुईं। बहुतों ने श्रावक व्रत लिया तथा बहुत-से सम्यक्त्वी बने।

भगवान् अनंतनाथ स्वामी के ६६००० साधु, ६२००० साध्वियां, ९०० चौदह पूर्वधर, ४३०० अवधिज्ञानी, ५००० मनःपर्यवज्ञानी, ५००० केवलज्ञानी, ८००० वैक्रिय लब्धि धारी, ३२०० वादलब्धि वाले, २०६००० श्रावक और ४१४००० श्राविकाएँ हुईं। भगवान् तीन वर्ष कम साढ़े सात लाख वर्ष तक सयोगी केवलज्ञानी के रूप में विचरते रहे और मोक्ष-काल निकट जान कर समेदशिखर पर्वत पर सात हजार मुनियों के साथ पधार कर अनशन किया। एक मास के बाद चैत्र-शुक्ला पंचमी को पुष्य-नक्षत्र में प्रभु मोक्ष पधारे।

प्रभु कुमार अवस्था में साढ़े सात लाख वर्ष, राज्याधिपति रूप में पन्द्रह लाख वर्ष और संयम-पर्याय में साढ़े सात लाख वर्ष रहे। कुल आयु तीस लाख वर्ष का था।

पुरुषोत्तम वासुदेव अपने तीस लाख वर्ष की आयु में उग्र पापकर्म कर के छठी नरक में गये। सुप्रभ बलदेव अपने भाई वासुदेव की मृत्यु के बाद विरक्त हो कर दीक्षित हो गए और चारित्र का पालन कर के कुल आयु ५५०००००० वर्ष का पूर्ण कर के मोक्ष पधारे।

चौदहवें तीर्थंकर

भगवान्

॥ अनंतनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

भ० धर्मनाथजी

धातकीखंड द्वीप के पूर्व महाविदेह में भरत नाम के विजय में भद्दिल नाम का एक नगर था। दृढ़रथ नाम का राजा वहाँ का अधिपति था। वह अन्य सभी राजाओं में प्रभावशाली था और सभी पर अपना अधिपत्य रखता था। इस प्रकार विशाल अधिपत्य एवं विशिष्ट सम्पदा युक्त होते हुए भी वह लुब्ध नहीं था। वह सम्पत्ति और अधिकार के गर्व से रहित था। उच्च कोटि की भोग-सामग्री प्राप्त होते हुए भी वह विरक्त-सा हो गया था। उसकी विरक्ति बढ़ रही थी। संयोग पा कर उसने विमलवाहन मुनिराज के समीप, मुनि-दीक्षा ग्रहण कर ली। चारित्र और तप की उत्तम आचरणा से तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर लिया और धर्म आराधना करता हुआ अनशनपूर्वक आयु पूर्ण कर के वैजयंत नाम के अनुत्तर विमान में महान् ऋद्धि सम्पन्न देव हुआ।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में रत्नपुर नाम का एक नगर था। वह अत्यंत ऋद्धि सम्पन्न और भव्यता युक्त था। 'भानु' नाम के महाराजा का उस पर शासन था। महाराजा भानु नरेश सदाचारी थे। वे अनेक उत्तम गुणों के पात्र थे। दूर-दूर तक के अनेक राजागण उनकी आज्ञा में थे। उनका शासन सभी के लिए हितकारी, सुखकारी और संतोषप्रद था। महारानी सुव्रतादेवी उनकी अर्द्धांगना थी। वह भी नारी के समस्त उत्तम गुणों से युक्त थी।

दृढ़रथ मुनिराज का जीव, वैजयंत विमान से वैशाख-शुक्ला सप्तमी को पुष्य-नक्षत्र में च्यव कर महारानी सुव्रता देवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ और माघ-शुक्ला तृतीया को

पुष्य-नक्षत्र के योग में पुत्र का जन्म हुआ। देवी-देवता और इन्द्रों ने द्रव्य तीर्थंकर भगवान् का जन्मोत्सव किया। यौवन-वय प्राप्त होने पर माता-पिता ने आपका विवाह किया। जन्म से ढाई लाख वर्ष व्यतीत होने के बाद पिता के आग्रह से आपका राज्याभिषेक हुआ। पाँच लाख वर्ष तक राज्य का संचालन किया और उसके बाद आपने संसार त्याग कर मोक्ष साधना का विचार किया। अपने कल्प के अनुसार लोकान्तिक देवों ने प्रभु के समीप आ कर धर्म-प्रवर्त्तन का निवेदन किया। वार्षिक दान दे कर प्रभु ने माघ-शुक्ला त्रयोदशी के दिन चौथे प्रहर में पुष्य-नक्षत्र के साथ चन्द्र का योग होते, बेले के तप से प्रव्रज्या स्वीकार की।

वासुदेव चरित्र

'विजया' और 'अम्बिका' नाम की दो रानियाँ थीं। वे दोनों रूप, उत्तम लक्षण और सद्गुणों से युक्त थीं। विजया रानी की कुक्षि में पुरुषवृषभ मुनि का जीव, सहस्रार देवलोक से आ कर पुत्रपने उत्पन्न हुआ। रानी ने चार महास्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर उत्तम लक्षण वाले पुत्र का जन्म हुआ। उसका 'सुदर्शन' नाम रखा। कालान्तर में 'विकट' का जीव दूसरे स्वर्ग की अपनी स्थिति पूर्ण कर के अम्बिका रानी के गर्भ में आया। रानी ने वासुदेव के फल को सूचित करने वाले सात महास्वप्न देखे। जन्म होने पर अतिशय पराक्रम दर्शक लक्षणों को देख कर 'पुरुषसिंह' नाम दिया गया। दोनों भ्राता राजकुमारों में अत्यंत स्नेह था। वे सभी कलाओं में पारंगत हुए और महाबली के रूप में विख्यात हुए।

शिव नरेश का पड़ोस के एक राजा से वैमनस्य हो गया। दोनों में शत्रुता चरम सीमा पर पहुँच गई। शिव नरेश ने अपने ज्येष्ठ पुत्र सुदर्शनकुमार को सेना ले कर युद्ध करने भेजा। राजकुमार पुरुषसिंह भी साथ ही युद्ध में जाना चाहते थे, किंतु उन्होंने रोक दिया। जब ज्येष्ठ बन्धु प्रयाण कर गए, तो पीछे से पुरुषसिंह भी चल दिये और मार्ग में सेना के साथ हो लिए। जब ज्येष्ठ बन्धु को ज्ञात हुआ, तो उन्होंने उन्हें मार्ग में ही रुक जाने की आज्ञा दी। वे वहीं रुक गये और सेना आगे बढ़ गई। थोड़ी देर बाद राजधानी से शीघ्रतापूर्वक दूत ने आ कर राजकुमार पुरुषसिंह को एक पत्र दिया। पत्र में पिता की ओर से राजकुमार को शीघ्र ही वापिस आने का उल्लेख था। कारण पूछने पर दूत ने कहा—"स्वामी को दाह-ज्वर रोग के कारण अत्यंत पीड़ा हो रही है।" पिता की पीड़ा के समाचार जान कर राजकुमार चिंतित हुए और उसी समय लौट गए और शीघ्रतापूर्वक बिना कहीं रुके, दो दिन में ही पिता की सेवा में उपस्थित हो गए। जब उन्होंने पिता को भयानक रोग से अत्यंत पीड़ित देखा, तो उनका धैर्य जाता रहा। वे खाना-पीना भी भूल गए। राजा ने उन्हें आदेश दे कर बड़ी कठिनाई से भोजन करने भेजा। जैसे-तैसे थोड़ा खा-पी कर पिता की सेवा में आ ही रहे थे कि दासियाँ दौड़ती हुई आईं और कहने लगी;—

"कुमार साहब ! आप पहले अन्तःपुर में पधारें। महारानी अनर्थ करने जा रही हैं। चलिए, जल्दी चलिए।" राजकुमार, माता के पास गये, तो क्या देखते हैं कि माता वस्त्राभूषण से सज्जित हैं और हीरे-मोती, रत्न, आभूषणादि दान कर रही है। उन्होंने माता से पूछा —

"मातेश्वरी ! आप क्या कर रही हैं ? इधर पिताश्री रोगग्रस्त हैं और आपको यह क्या सूझा ? क्या आप भी मुझे त्याग कर जाना चाहती हैं ?"

—"मैं वही कर रही हूँ जो मुझे करना चाहिए। मैं 'विधवा' बनना नहीं चाहती। तुम्हारे पिताश्री अब बचने वाले नहीं हैं। उनका रोग उन्हें उठाने ही आया है। मुझ में इतनी शक्ति नहीं कि मैं एक क्षण के लिए भी उनका वियोग सहन कर सकूं। यदि उनके स्वर्ग सिधार जाने के बाद, एक पलभर भी मैं जीवित रही, तो विधवा हो ही जाउँगी। इसलिए मैं अग्नि प्रवेश कर के स्वामी की उपस्थिति में ही प्रस्थान करना चाहती हूँ। तुम सयाने हो, समझदार हो, तुम पर ज्येष्ठ बन्धु की कृपा है। हमारे दिन तो अब बीत ही चुके हैं। आखिर हमें जाना तो है ही। मृत्यु मुझे पकड़ कर ले जावे, इसके पूर्व ही मैं मौत का पल्ला पकड़ लूं, तो यह अच्छा ही होगा। अब तुम जाओ। एक शब्द भी मत बोलो। तुम्हारे पिताश्री की भी तय्यारी हो रही है।"

इस प्रकार कहते ही वह झपाटे से निकल गई और पहले से तय्यार कराई हुई जाज्वल्यमान चिता में कूद कर प्राणान्त कर गई।

राजकुमार, माता को जाते देखते ही रहे, न तो उनके मुंह से एक शब्द ही निकला और न वे वहां से हिल ही सके। सेवक ने उन्हें चलने का कहा, तब वे आगे बढ़े और एक अशक्त के समान कठिनाई से पिता के पास आ कर भूमि पर गिर पड़े। रोगग्रस्त राजा ने कुमार से कहा—

"वत्स! ऐसी कायरता मत लाओ। तुम वीर हो। तुम्हारा इस प्रकार भूमि पर ढल जाना शोभा नहीं देता। तुम तो इस भूमि के एक-छत्र स्वामी होने योग्य हो। कायरता लाने से तुम्हारा पुरुषसिंह नाम कलंकित होगा। उठो! संसार में मरना-जीना तो लगा ही रहता है।" इस प्रकार आश्वासन देते हुए शुभ भाव वाले शिव नरेश ने देह त्याग दिया। राजकुमार मूच्छित हो गए। कुछ समय बीतने पर उनकी मूर्च्छा दूर हुई। पिता की अग्नि-संस्कारादि उत्तर-क्रिया की गई। बड़े भाई सुदर्शनजी को पिता की मृत्यु का समाचार दिया गया। वे भी सुन कर दुःखी हुए और शीघ्रतापूर्वक शत्रु को जीत कर लौट आये। सुदर्शनजी को देखते ही पुरुषसिंह उठ कर उनके गले लग गये और दोनों भाई खूब रोये। धीरे-धीरे शोक का प्रभाव हटने लगा।

एक दिन महाराजाधिराज निशुंभ का दूत आया और दोनों राजकुमारों से कहने

उन्होंने कहलाया कि—'अभी तुम दोनों बालक हो। कोई शत्रु तुम्हें सतावे और पराभव कर दे, तो यह भी दुःखद होगा। मैंने तुम्हारे पिता को उच्च पद दिया है। तुम्हें उसका निर्वाह करने के योग्य बनाना है। इसलिए तुम दोनों यहाँ मेरे पास आ कर रहो। वहाँ के प्रबन्ध की उचित व्यवस्था हो जायगी।"

दूत की बात सुन कर क्रोधाभिभूत हो, राजकुमार पुरुषसिंह ने कहा—

"इक्ष्वाकु वंश में चन्द्र समान एवं सर्वोपकारी ऐसे हमारे पिताश्री के स्वर्गवास से अनेक मित्र राजाओं को दुःख हुआ है। निशुंभ को भी दुःख हुआ—तुम कहते हो, किंतु हम भी सिंह के बच्चे हैं। सिंह किसी का दिया हुआ दान नहीं लेता। यह राज हमारा है। हम इसको सम्भाल लेंगे। यदि किसी की इस पर कुदृष्टि होगी, तो हम इसकी रक्षा का उपाय कर लेंगे। इसकी चिंता आपके राजा को नहीं करनी चाहिए।"

दूत ने कहा—"तुम बच्चे हो। तुम्हें अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करना चाहिए। इसी में तुम्हारा हित है। यदि तुम उनकी इच्छा का आदर नहीं करोगे, तो परिणाम बहुत बुरा होगा।"

—"दूत ! विशेष बात करना उचित नहीं है। तुम अपने स्वामी से कह दो कि हम उनकी इच्छा के आधीन नहीं हैं। हमें अपनी शक्ति का भरोसा है। इसी के बल पर हम स्थिर रह कर आगे बढ़ते जावेंगे।"

दूत की बात सुन कर निशुंभ क्रोधायमान हुआ और सेना ले कर अश्वपुर पर चढ़ाई कर दी। इधर दोनों बन्धु भी अपनी सेना ले कर अपने राज्य की सीमा पर आ पहुँचे। भयानक युद्ध हुआ। अंत में निशुंभ के छोड़े हुए अंतिम अस्त्र (चक्र) के प्रहार से ही पुरुषसिंह द्वारा निशुंभ मारा गया। वह पाँचवाँ प्रतिवासुदेव कहलाया और पुरुषसिंह ने उसके समस्त राज को अपने आधीन कर लिया। उनका पांचवें वासुदेव पद का अभिषेक हुआ। सुदर्शनजी बलदेव पद पाये।

× × × ×

दो वर्ष तक छद्मस्थ पर्याय में रहने के बाद भगवान् श्री धर्मनाथ स्वामी को पौष-शुक्ला पूर्णिमा को पुष्य-नक्षत्र में केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हुआ। देवों ने समवसरण रचा। तीर्थ स्थापना हुई। 'अरिष्ट' आदि ४३ गणधर हुए। भगवान् ग्रामानुग्राम विहार करते हुए अश्वपुर पधारे। वासुदेव और बलदेव भी भगवान् को वन्दन करने आये। भगवान् ने धर्मोपदेश दिया;—

धर्मदेशना

क्रोध कषाय को नष्ट करने की प्रेरणा

संसार में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इस चतुर्वर्ग में मोक्ष वर्ग का स्थान सर्वोपरि है। इस मोक्ष-वर्ग की प्राप्ति ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी तीन रत्नों से होती है। वही ज्ञान मोक्षवर्ग को साधने में समर्थ है जो तत्त्वानुसारी मति—बुद्धि से युक्त है। उस तत्त्वानुसारी मति में श्रद्धा रूपी शक्ति का नाम 'दर्शन-रत्न' है और ज्ञान तथा दर्शन युक्त हेय का त्याग कर उपादेय का सेवन करना अर्थात् सावद्य प्रवृत्ति का त्याग करना चारित्र है। आत्मा स्वयं ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप है अथवा इसी रूप में शरीर में रहता है। मोह के त्याग से अपनी आत्मा के द्वारा ही जो अपने-आप को (आत्मा को) जानता है, वही उसके ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। आत्मा ने अज्ञान के द्वारा जिन दुःखों को उत्पन्न किया, उनका निवारण आत्म-ज्ञान के द्वारा ही होता है। जो आत्मज्ञान से रहित है, वह तप करते हुए भी अज्ञान-जनित दुःख का छेदन नहीं कर सकता।

आत्मा, चैतन्य (ज्ञान) रूप है, किन्तु कर्म के योग से शरीरधारी होता है और जब ध्यान रूपी अग्नि से कर्म रूपी कचरा जल कर नष्ट हो जाता है, तब आत्मा निरंजन—दोप रहित, परम विशुद्ध—सिद्ध हो जाती है।

यह संसार, कषाय और इन्द्रियों से हारे हुए आत्मा के लिए ही है। जिस आत्मा ने कषाय और इन्द्रियों को जीत लिया, वही मुक्त है।

आत्मा को संसार में भटका कर दुःखी करने वाली कषायें चार हैं—१ क्रोध २ मान ३ माया और ४ लोभ। इन चारों के चार-चार भेद हैं। यथा—१ संज्वलन २ प्रत्याख्यानी ३ अप्रत्याख्यानी और ४ अनन्तानुबन्धी। इनमें से संज्वलन एक पक्ष तक रहती है, प्रत्याख्यानी चार माह तक, अप्रत्याख्यानी वर्ष पर्यन्त और अनन्तानुबन्धी जीवन पर्यन्त रहती है•।

संज्वलन कषाय, वीतरागता में बाधक होती है। प्रत्याख्यानी कषाय, साधुता को रोकती है, अप्रत्याख्यानी कषाय, श्रावकपन में रुकावट डालती है और अनन्तानुबन्धी कषाय, सम्यग्दृष्टि का घात करती है। इनमें से संज्वलन कषाय देवत्व, प्रत्याख्यानी तिर्यंचपन

• यह कथन व्यवहार दृष्टि से है। अन्यथा प्रज्ञापना पद १८ में चारों कषाय के उदय की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की बताई है। संज्वलन की स्थिति देशोनकोड़ पूर्व भी होती है—जितनी छठे गुणस्थान की स्थिति है।

और अनन्तानुबन्धी कषाय नरक भव प्रदान करती है + ।

क्रोध कषाय, आत्मा को तप्त कर देती है। वैर एवं शत्रुता इसी कषाय से होती है। यह दुर्गति में धकेलने वाली है और समता रूपी सुख को रोकने वाली है। क्रोध कषाय उत्पन्न होते ही आग की तरह सब से पहले अपने आश्रय-स्थल को जलाती है। इसके बाद दूसरों को जलाती है। कभी वह दूसरों को नहीं भी जलाती, किन्तु अपने आश्रय-स्थल को तो जलाती ही रहती है।

यह क्रोध रूपी आग, आठ वर्ष कम क्रोड़पूर्व तक पाले हुए संयम और आचरे हुए तप रूपी धन को क्षण भर में जला कर भस्म कर देती है। पूर्व के पुण्य-भण्डार में संचित किया हुआ समता रूपी यश, इस क्रोध रूपी विषय के सम्पर्क से तत्काल अछूत—असेव्य हो जाता है। विचित्र गुणों की धारक ऐसी चारित्र रूपी चित्रशाला को क्रोध रूपी धुम्र, अत्यन्त मलिन कर देता है। वैराग्य रूपी शमीपत्र के दोने (पात्र) में जो समता रूपी रस भरा है, वह क्रोध के द्वारा बने हुए छिद्र में से निकल जाता है।

वृद्धि पाया हुआ क्रोध, इतना विकराल हो जाता है कि वह बड़े भारी अनर्थ कर डालता है। भविष्य काल में द्वैपायन की क्रोध रूपी आग में, अमरापुरी के समान भव्य ऐसी द्वारिका नगरी, ईंधन के समान जल कर नष्ट हो जायगी।

क्रोधी को अपने क्रोध के निमित्त से जो कार्य-सिद्धि होती दिखाई देती है, वह फल-सिद्धि, क्रोध से सम्बन्धित नहीं है, किन्तु पूर्व-जन्म में प्राप्त की हुई पुण्य रूपी लता के फल है।

जो प्राणी, इस लोक और परलोक तथा स्वार्थ और परार्थ का नाश करने वाले क्रोध को अपने शरीर में स्थान देते हैं, उन्हें बार-बार धिक्कार है।

क्रोधान्ध पुरुष, माता, पिता, गुरु, सुहृद मित्र, सहोदर और स्त्री की तथा अपनी खुद की आत्मा की भी निर्दयतापूर्वक घात कर देता है। उत्तम पुरुष को ऐसी क्रोध रूपी आग को बुझाने के लिए, संयम रूपी बगीचे में क्षमा रूपी जलधारा का सिंचन करना चाहिए। अपकार करने वाले पुरुष पर उत्पन्न हुए क्रोध को रोकने की दूसरी कोई विधि नहीं है। वह तो सत्त्व के माहात्म्य (आत्म-शक्ति) से ही रोकी जा सकती है। अथवा तथा प्रकार की भावना के सहारे से क्रोध के मार्ग को अवरुद्ध किया जा सकता है।

+ यह कथन भी अपेक्षापूर्वक है। अन्यथा अनन्तानुबन्धी कषाय वाले देव भी होते हैं। अभव्य के अनन्तानुबन्धी होती है, परन्तु वह चारों गति में जाता है। उसके परिवर्तित रूप में अन्य चौक भी होते हैं।

"जो व्यक्ति स्वयं पाप स्वीकार कर के मेरे लिए बाधक बनना चाहता है, वह तो अपने दुष्कृत्य से अशुभ कर्म कर के खुद अपनी ही आत्मा की हिंसा कर रहा है। ऐसे व्यक्ति पर मैं क्यों क्रोध करूँ ? वह तो स्वयं दया का पात्र है ।"

"हे आत्मन् ! यदि तू चाहती है कि मेरा बुरा चाहने वाले—मुझे दुःख देने वाले पर मैं क्रोध करूँ, तो तेरे वास्तविक शत्रु तो खुद के किये हुए कर्म ही हैं। इन्हीं के कारण तुझे दुःख होता है । यदि तुझे क्रोध करना ही है, तो अपने कर्म-बन्धन पर ही कर । तू कुत्ते जैसा स्वभाव छोड़ कर सिंह के समान मूल को ही पकड़ । कुत्ता, पत्थर मारने वाले को नहीं पकड़ता, किन्तु पत्थर को काटता है, और सिंह बाण को नहीं पकड़ कर बाण मारने वाले की ही खबर लेना चाहता है। तुझे जो कष्ट या बाधा उत्पन्न करते हैं, वे गुप्त-शत्रु तेरे कर्म ही हैं । दूसरे तो कर्म-प्रेरित बाण के समान हैं। इसलिए तुझे कर्म की ही ओर ध्यान दे कर, इस अन्तर्शत्रु को नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए ।"

भविष्य काल में होने वाले अंतिम शासनपति भगवान् महावीर, अपने को उपसर्ग करने वाले पापियों को क्षमा प्रदान करेंगे । जो उत्तम पुरुष होते हैं, वे तो ऐसे अवसर के लिए तत्पर रहते हैं । बिना प्रयास के ही स्वयमेव प्राप्त हुई क्षमा को सफल करने के लिए तत्पर रहते हैं ।

महाप्रलय के भयंकर उपसर्ग से तीन लोक की रक्षा करने में समर्थ—ऐसे महापुरुष भी जब क्षमा को धारण करते हैं, तो तू कदलि के पेड़ के समान अल्प सत्व वाला हो कर भी क्षमा नहीं करता, यह तेरी कैसी बुद्धि है ? यदि तुने पूर्व-जन्म में दुष्कृत्य नहीं किये होते, और शुभ कृत्यों के द्वारा पुण्य का संचय किया होता, तो तुझे आज दुःखी होने का अवसर ही नहीं आता—कोई भी तुझे दुःखी नहीं करता । इसलिए हे प्राणी ! तू अपने प्रमाद की आलोचना कर के क्षमा करने के लिए तत्पर हो जा । तू समझ ले कि क्रोध में अन्ध बने हुए मुनि और प्रचण्ड चाण्डाल में कोई अन्तर नहीं है । इसलिए क्रोध का त्याग कर के शुभ एवं उज्ज्वल बुद्धि को ग्रहण कर । एक महर्षि क्रोधी थे, किन्तु कुरगडु क्रोधी नहीं था, तो देवता ने ऋषि को नमस्कार नहीं किया, किन्तु कुरगडु को नमस्कार किया और स्तुति की ।

यदि कोई मर्म पीड़क वचन कहे, तो विचार करना चाहिए कि—यदि इसके वचन असत्य हैं, तो क्रोध करने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि उसकी बात ही झूठी एवं पागल-प्रलाप है । यदि उसकी बात सही है, तो उन दुर्गुणों को निकाल देना चाहिए । यदि कोई क्रोधित हो कर मारने के लिए आवे, तो हँसना चाहिए और मन में सोचना चाहिए कि—'मेरा मरना तो मेरे कर्मों के आधीन है । यह मूर्ख व्यर्थ ही कारण बन रहा है।' यदि कोई

प्राण रहित करने के लिए ही उद्यत हो जाय, तो सोचना चाहिए कि—'मेरा आयुष्य ही पूरा होने आया होगा, इसलिए यह दुष्ट निर्भय हो कर पाप-कर्म बांध रहा है और मरे हुए को ही मार+ रहा है।

समस्त पुरुषार्थ का अपहरण करने वाले क्रोध रूपी चोर पर ही तुझे क्रोध नहीं आता, तो अल्प अपराध करने वाले ऐसे दूसरे निमित्त पर क्रोध कर के तू खुद धिक्कार का पात्र बन रहा है।

जो बुद्धिमान् पुरुष हैं, वे समस्त इन्द्रियों को क्षीण करने वाले और चारों ओर फैले हुए क्रोध रूपी विषधर को, क्षमा रूपी गारुड़ी मन्त्र के द्वारा जीत लेते हैं।

मान-कषाय का स्वरूप

मान कषाय, विनय, श्रुत, शील तथा धर्म-अर्थ एवं मोक्ष रूप त्रिवर्ग का घात करने वाला है और प्राणियों के विवेक रूपी नेत्रों को बन्द कर देता है। जहाँ मान की प्रबलता होती है, वहाँ विवेक दृष्टि बन्द हो कर अन्धता आ जाती है। जाति, कुल, लाभ, ऐश्वर्य, बल, रूप, तप और श्रुत का मद करने वाला मानव, अभिमान के चलते ऐसे कर्मों का संचय कर लेता है कि जिससे उसे उसी प्रकार की हीनता प्राप्त होती है, जिसके कारण अभिमान किया।

प्रत्यक्ष में जाति के ऊँच, नीच और मध्यम ऐसे अनेक भेद देख कर कौन बुद्धिमान जाति-मद को अपना कर अपने लिए भविष्य में नीच जाति प्राप्त करने वाले कर्मों का संचय करेगा? जाति की हीनता अथवा उत्तमता कर्मों के फलस्वरूप मिलती है और जीव की जाति सदा एक नहीं रहती, किन्तु कर्मानुसार बदलती रहती है, फिर थोड़े दिनों के लिए ऊँच जाति पा कर कौन समझदार ऐसा होगा जो अशाश्वत और नाशवान् जाति का अहंकार करेगा?

लाभ जो होता है, वह अन्तराय कर्म के क्षय से होता है। बिना अन्तराय कर्म क्षय हुए लाभ नहीं हो सकता। जो पुरुष इस वस्तुतत्त्व को जान लेता है, वह तो लाभ का मद कभी नहीं करता। राज्याधिपति या सत्ताधारियों की प्रसन्नता और किसी प्रकार की

+ क्योंकि उसका आयु-कर्म तो पूर्ण होने वाला है, इसलिए वह तो मरा हुआ है और मारने वाला उसे मार कर व्यर्थ ही पाप-भार से अपनी आत्मा को भारी बना रहा है।

शक्ति आदि का विशेष लाभ पा कर भी महात्मा पुरुष मद नहीं करते ।

कई मनुष्य नीच कुल के हो कर भी बुद्धि, लक्ष्मी और शील से सुशोभित हैं। उन्हें देख कर उत्तम कुल वालों को कुल का मद नहीं करना चाहिए। (नीच कुल का अर्थ है—हीनाचार प्रधान वर्ग। जिसे लोग नीच कुल का कहते हैं, उनमें से भी कई उत्तम आचार का पालन करते हैं, तब उत्तम कुल के लिए मद करने का अवकाश ही कहाँ रहा ?) और जिस मनुष्य ने उत्तम कुल में जन्म ले लिया, परन्तु उत्तम आचार का पालन नहीं कर के दुराचार का सेवन करता है, तो उसके लिए उत्तम कुल में जन्म होने मात्र से क्या लाभ हुआ ? (वह खुद तो दुराचार के कारण नीच बन चुका, उसके लिए कुल का मद, लज्जा की बात है) और जो स्वयं ही सुशील एवं सदाचारी है, उसे कुल की अपेक्षा ही क्या ? वह तो अपने सदाचार के कारण आप ही उच्च है। इस प्रकार प्रशस्त विचार से कुल-मद का निवारण करना चाहिए।

अपने सामान्य धन के कारण मद करने वाला मनुष्य यह नहीं सोचता कि मेरे पास कितना धन है ? स्वर्ग के अधिपति वज्रधारी इन्द्र के यहाँ रहे हुए त्रिभुवन के ऐश्वर्य के आगे मनुष्य का धन किस गिनती में है ? किसी नगर, ग्राम और धन आदि का मद करना क्षुद्रता ही तो है ? सम्पत्ति कुलटा स्त्री के समान है। वह कभी उत्तम गुणवान् पुरुष के पास से निकल कर दुर्गुणी—दुराचारी के पास भी चली जाती है और वहाँ रह जाती है। इसलिए जो विवेकशील हैं, उन्हें ऐश्वर्य की प्राप्ति से मद कभी नहीं होता।

बलवान् योद्धा को भी जब रोग लग जाता है, तो वह निर्बल हो जाता है। इससे प्रत्यक्ष सिद्ध होता है कि बलवान् व्यक्ति भी रोग, जरा, मृत्यु और कर्म-फल के सामने निर्बल ही है। बल अनित्य एवं अस्थायी है। ऐसे नाशवान् शारीरिक बल का मद करना भी अविवेकी और अनसमझ का काम है।

भूतकाल में प्रथम जिनेश्वर श्री ऋषभदेवजी ने घोर तप किया था और भविष्य में चरम तीर्थाधिपति श्री वीरप्रभु घोर तप करेंगे। उनके तप की उग्रता को जानने वाले को अपने मामूली तप का मद नहीं करना चाहिये। मद-रहित विशुद्ध भाव से तप करने से कर्म टूटते हैं। किन्तु तप का मद करने से तो उल्टा कर्म का विशेष संचय और वृद्धि ही होती है।

पूर्व के महापुरुषों ने अपने बुद्धि-बल से जिन शास्त्रों की रचना की, उन्हें पढ़ कर जो "मैं सर्वज्ञ हूँ"—इस प्रकार मद करता है, वह तो अपने अंग को ही खाता है●। श्री गणधरों की शास्त्र निर्माण और धारण करने की शक्ति को सुन कर ऐसा कौन श्रवण (कान) और हृदय वाला मनुष्य है, जो अपने किंचित् शास्त्र का मद करे?

दोष रूपी शाखाओं का विस्तार करने वाले और गुणरूपी मूल को नीचे दबाने वाले—ऐसे मान रूपी वृक्ष को मृदुता रूपी नदी की वेगदार बाढ़ से उखेड़ कर फेंक देना चाहिए। उद्धतता (अक्खड़पन) का निषेध, मृदुता अथवा मार्दवता का स्वरूप है और उद्धतता, मान का स्पष्ट स्वरूप है।

जिस समय जाति आदि का उद्धतपन मन में आने लगे, उस समय उसे हटाने के लिए मृदुता का अवलम्बन लेना चाहिए और मृदुता को सर्वत्र बनाए रखना चाहिए, उसमें भी जो पूज्य वर्ग है, उसके प्रति विशेष रूप से मृदुता रहनी चाहिए, क्योंकि पूज्य की पूजा से पाप से मुक्ति होती है। मान के कारण ही बाहुबलिजी, पाप रूपी लता से बन्ध गये थे। वे मृदुता का अवलम्बन कर के पाप से मुक्त भी हो गये और केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया। चक्रवर्ती महाराजाधिराज भी चारित्र ले कर और निःसंग हो कर, शत्रुओं के घर भिक्षा माँगने जाते हैं। मान को मूल से उखाड़ फेंकने की उनकी कैसी कठोर मृदुता है? चक्रवर्ती सम्राट जैसे भी मान का त्याग कर तत्काल के दीक्षित एक रंक साधु को नमन करते हैं और चिरकाल तक उसकी सेवा करते हैं। इस प्रकार मान और उसे दूर करने के विषय को समझ कर, मान को हृदय से निकालने के लिए सदैव मृदुता को धारण करना चाहिए। इसी में बुद्धिमानी है।

माया-कषाय का स्वरूप

माया, असत्य की माता है। शील (सदाचार) रूपी कल्पवृक्ष को काटने वाली कुल्हाड़ी है और अविद्या की आधार-भूमि है। यह दुर्गति में ले जाने वाली है। कुटिलता

● गणधर महाराज, मात्र त्रिपदी सुन कर ही समस्त श्रुत-सागर के पारगामी हो जाते हैं।

में चतुर और कापट्ययुक्त बकवृत्ति वाले पापी मनुष्य, जगत् को ठगने के लिये माया का सेवन करते हैं। किन्तु वे स्वयं अपनी आत्मा को ही ठगते हैं।

राज्यकर्त्ता, अर्थ-लोभ के लिए खोटे षड्गुण + के योग से, छल-प्रपञ्च और विश्वासघात कर के संसार को ठगते हैं। ब्राह्मण वर्ग, अन्तर से सद्गुण-शून्य किन्तु ऊपर से गुणवान् होने का ढोंग कर के और तिलक-मुद्रा, मन्त्र और दीनता बता कर ठगाई करता है। वैश्य वर्ग तो माया का भाजन बन गया है। वह खोटे तोल-नाप से और राज्य-कर की चोरी आदि से लोगों को ठगता है। पाखण्डी और नास्तिक लोग जटा, मौंजी,● शिखा, भस्म, वल्कल और अग्नि (धुनी) आदि धारण कर के श्रद्धालु मुग्धजनों को ठगते हैं*। गणिकाएँ, बिना स्नेह के ही हाव-भाव दिखा कर, लीला, गति और कटाक्ष के द्वारा कामीजनों को मुग्ध कर के ठगती है। धूर्त लोग और जिनकी आजीविका सुखपूर्वक नहीं चलती ऐसे लोग, झूठी शपथ खा कर और खोटे तथा जाली सिक्के से धनवानों को ठगते हैं। स्त्री-पुरुष, पिता-पुत्र, भाई-भाई, मित्र, स्वामी, सेवक और अन्य सभी लोग, एक दूसरे को माया के द्वारा ठगते रहते हैं।

चोर लोग, धन के लिए दिन-रात चौकन्ने रह कर, असावधान लोगों को निर्दयता पूर्वक लूटते हैं। शिल्पी और किसी भी प्रकार की कला के सहारे से आजीविका करने वाले, सीधे और सरल जीवों को भी ठगते रहते हैं।

व्यन्तर जैसी हलकी योनि के क्रूर देव, अनेक प्रकार के छल कर के प्रायः प्रमादी पुरुषों तथा पशुओं को दुःखी करते हैं। मत्स्यादि जलचर जीव भी छल से अपने बच्चों का ही भक्षण कर लेते हैं। धीवर लोग, उन्हें छलपूर्वक अपनी जाल में फँसा लेते हैं और उनका प्राण हरण कर लेते हैं। शिकारी लोग, अनेक प्रकार के छल से थलचर पशुओं को मार डालते हैं। मांस-लोलुप जीव, लावक आदि कितने ही प्रकार के पक्षियों को पकड़ कर मार डालते हैं और खा जाते हैं।

इस प्रकार मायाचारी जीव, मायाचार से अपनी आत्मा को ही ठग कर स्वधर्म और सद्गति का नाश करते हैं। यह माया, तिर्यञ्च जाति में उत्पन्न होने का बीज, मोक्षपुरी

+ १ संधि २ विग्रह ३ यान ४ आसन ५ द्विधाभाव और ६ समाश्रय--ये राजनीति के षड्गुण हैं।

● मुंज की रस्सी का कंदोरा।

* इसी प्रकार ढोंगी साधु भी सुसाधु का स्वांग धर कर ठगते हैं। जो जिस रूप में अपने को प्रसिद्ध करता है, वह उसके विपरीत आचरण करे, तो ठग ही है।

के द्वार को दृढ़ता से बन्द करने वाली अर्गला और विश्वास रूपी वृक्ष के लिए दावानल के समान है। विद्वानों के लिए यह त्याग करने योग्य है।

भविष्य में होने वाले मल्लिनाथ तीर्थङ्कर, पूर्व-भव की सूक्ष्म माया के शल्य के कारण स्त्री-भाव को प्राप्त होंगे। इसलिए जगत् का द्रोह करने वाली माया रूपी नागिन को सरलता रूपी औषधी से जीत लेना चाहिए। इससे आनन्द की प्राप्ति होती है।

सरलता, मुक्तिपुरी का सरल एवं सीधा मार्ग है। इसके अतिरिक्त तप, दान आदि लक्षण वाला जो मार्ग है, वह तो अवशेष मार्ग है—सरलता रूपी धोरी-मार्ग के साथ रहने वाले हैं। जो सरलता का सेवन करते हैं, वे लोक में भी प्रीति-पात्र बनते हैं और जो मायाचारी कुटिल पुरुष हैं, उनसे तो सभी लोग डरते हैं। जिनकी मनोवृत्ति सरल है, उन महात्माओं को भव-वास में रहते हुए भी स्वत: के अनुभव में आवे—ऐसा अकृत्रिम मुक्ति-सुख मिलता है ?

जिनके मन में कुटिलता रूपी काँटा (खीला) खटक कर क्लेश किया करता है और जो दूसरों को हानि पहुँचाने में ही तत्पर रहते हैं, उन वञ्चक पुरुषों को सुख-शांति कहाँ से मिलेगी ?

सभी विद्याएँ प्राप्त करने पर और सभी कलाओं की उपलब्धि होने पर भी, बालक जैसी सरलता तो किसी विरले भाग्यशाली पुरुष को ही प्राप्त होती है। अज्ञ होते हुए भी बालकों की सरलता सभी के मन में प्रीति उत्पन्न करती है, तो जिस भव्यात्मा का चित्त सभी शास्त्रों के अर्थ में आसक्त है, उनकी सरलता जन-मन में प्रीति उत्पन्न करे, उसमें तो आश्चर्य ही क्या है ?

सरलता स्वाभाविक होती है और कुटिलता में कृत्रिमता होती है। इसलिए स्वभाव-धर्म को छोड़ कर कृत्रिम (बनावटी) धर्म को कौन ग्रहण करेगा ?

संसार में प्राय: सभी जन छल, पिशुनता, वक्रोक्ति और पर-वञ्चन में तत्पर रहते हैं। ऐसे लोक-समूह में रहते हुए भी शुद्ध स्वर्ण के समान निर्मल एवं निर्विकार रहने वाला तो कोई धन्य पुरुष ही होगा।

जितने भी गणधर होते हैं, वे सभी श्रुत-समुद्र के पारगामी होते हैं, तथापि वे शिक्षा प्राप्त करने के लिए तीर्थङ्कर भगवान् की वाणी को सरलतापूर्वक सुनते हैं।

जो सरलतापूर्वक अपने दोषों की आलोचना करते हैं, वे सभी प्रकार के दुष्कर्मों का क्षय कर देते हैं और जो कुटिलतापूर्वक आलोचना करते हैं, वे अपने छोटे दुष्कर्म को

भी मायाचार के कारण बढ़ा कर बड़ा कर देते । जो मन से भी कुटिल हैं और वचन तथा काया से भी कुटिल हैं, उस जीव की मुक्ति नहीं हो सकती । मुक्त वे ही होते हैं, जो मन, वचन और काया से सरल हो ।

इस प्रकार मायाचारी कुटिल मनुष्यों को प्राप्त होने वाली उग्र कर्मों की कुटिलता का विचार कर के जो बुद्धिमान् हैं, वे तो मुक्ति प्राप्त करने के लिए सरलता का ही आश्रय लेते हैं ।

लोभ-कषाय का स्वरूप

लोभ, समस्त दोषों की खान है, गुणों को भक्षण करने वाला राक्षस है । यह व्यसन रूपी लता का मूल है और सभी प्रकार के अर्थ की प्राप्ति में बाधक होने वाला है । निर्धन व्यक्ति, सौ सिक्कों का लोभी है, तो सौ वाला हजार चाहता है । हजार वाला लाख, लखपति, कोट्याधिपति होना चाहता है, तो कोट्याधिपति, राज्याधिपति होने की आकांक्षा रखता है और राज्याधिपति चक्रवर्ती सम्राट बनने का लोभ करता है । चक्रवर्ती हो जाने पर भी लोभ नहीं रुकता । फिर वह देव और देव से बढ़ कर देवेन्द्र बनने की तृष्णा रखता है । इन्द्र हो जाने पर भी इच्छा की पूर्ति नहीं होती । लोभ की संतति उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है ।

जिस प्रकार समस्त पापों में हिंसा, समस्त कर्मों में मिथ्यात्व और सभी रोगों में राज्यक्ष्मा (क्षय) बड़े हैं, उसी प्रकार सभी कषायों में लोभ-कषाय बड़ी है । इस पृथ्वी पर लोभ का एक छत्र साम्राज्य है । यहाँ तक कि जिस वृक्ष के नीचे धन होता है, उस धन को वृक्ष की जड़ें आदि लिपट कर आच्छादित कर देती है (ढक देती है) धन के लोभ से बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौरीन्द्रिय प्राणी, अपने पूर्व-भव में जमीन में गाड़े हुए धन पर मूच्छित हो कर बैठते हैं । साँप और छिपकली जैसे पंचेन्द्रिय जीव भी लोभ से, अपने पूर्व-भव के अथवा दूसरे के रखे हुए धन वाली भूमि पर आ कर लीन हो जाते हैं ।

पिशाच, मुद्गल (व्यन्तर विशेष) भूत, प्रेत और यक्षादि देव भी लोभ के वश हो कर अपने या दूसरों के निधान (पृथ्वी में डटे हुए धन) पर स्थान जमा कर अधिकार करते हैं । आभूषण उद्यान और वापिकादि जलाशयों में मूच्छित देव भी वहाँ से च्यव कर पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतीकाय में उत्पन्न होते हैं । जो मुनि महात्मा, क्रोधादि कषाय पर विजय पा कर "उपशान्त-मोह" नाम के ग्यारहवें गुणस्थान पर आरूढ़ हो जाते

हैं, वे भी एक लोभ के अंश मात्र से पतित हो जाते हैं× । थोड़े से धन के लोभ से दो सहोदर भाई, कुत्ते के समान आपस में लड़ते हैं । ग्राम्यजन, अधिकारी वर्ग और राजा, खेत गाँव और राज्य की सीमा के लोभ से पारस्परिक सौहार्द भाव को छोड़ कर एक दूसरे से वैर रखते हैं ।

लोभी मनुष्य, नाटक करने में भी बड़े ही कुशल होते हैं । स्वामी या अधिकारी को प्रसन्न करने के लिए, मन में हर्ष, शोक, द्वेष एवं हास्य का कारण नहीं होने पर भी, उनके सामने नट के समान हर्ष-शोकादि वतलाते हैं ।

दूसरे खड्डे तो पूरने से भर जाते हैं, किन्तु लोभ का खड्डा इतना गहरा और विचित्र है कि इसे जितना भरा जाय, उतना ही अधिक गहरा होता जाता है । ऊपर से समुद्र में जल डालने से वह परिपूर्ण नहीं होता । यदि देवयोग या अन्य कारण से समुद्र भी परिपूर्ण रूप से भर जाय, किन्तु लोभ रूपी महासागर तो ऐसा है कि तीन लोक का राज्य मिल जाय, तो भी पूरा नहीं होता । क्या इस जीव ने कभी भोजन नहीं किया ? बढ़िया वस्त्र नहीं पहने ? विषयों का सेवन नहीं किया और धन-सम्पत्ति का संचय नहीं किया ? किया, अनन्त वार किया, किन्तु लोभ का अंश कम नहीं किया । वह तो बढ़ता ही रहा । यदि लोभ का त्याग कर दिया, तो फिर तप करने की आवश्यकता नहीं रहती (क्योंकि लोभ का त्याग कर देने वाला तो स्वयं पवित्र आत्मा है । उसकी मुक्ति तो होती ही है) और जिसने लोभ का त्याग नहीं किया, तो उसे भी तप करने की आवश्यकता नहीं (क्योंकि उसका तप भी तृष्णा की पूर्ति के लिए ही होता है । उस तप से निदानादि द्वारा ऐसी स्थिति प्राप्त होती है कि जिसके कारण भविष्य में वह नरकादि दुःखों का निर्माण कर लेता है)।

समस्त शास्त्रों का सार यही है कि—"बुद्धिमान् मनुष्य, लोभ को त्यागने का ही प्रयत्न करे ।" जिसके हृदय में सुमति का निवास होता है, वह लोभ रूपी महासागर की चारों ओर फैलती हुई प्रचण्ड तरंगों पर, संतोष का सेतु बाँध कर रोक देता है । जिस प्रकार मनुष्यों में चक्रवर्ती और देवों में इन्द्र सर्वश्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त गुणों में सन्तोष महान् गुण है ।

सन्तोषी मुनि और असन्तोषी चक्रवर्ती के सुख-दुःख की तुलना की जाय, तो दोनों

× ग्यारहवें गुणस्थान की स्थिति पूर्ण होते ही दवे हुए मोह में से सब से पहले सूक्ष्म लोभ का उदय होता है ।

के सुख-दुःख का उत्कर्ष समान होता है, अर्थात् सन्तोषी मुनिवर जितने अंशों में सुखी है, उतने ही अंशों में असन्तोषी चक्रवर्ती दुःखी है। इसलिए चक्रवर्ती सम्राट भी अपने राज्य का त्याग कर के तृष्णा का त्याग करते हैं और निःसंगता के द्वारा सन्तोष रूपी अमृत को प्राप्त करते हैं।

जिस प्रकार कानों को वन्द किया जाता है, तो भीतर से शब्दाद्वैत अपनेआप बढ़ता है, उसी प्रकार जब धन की इच्छा का त्याग किया जाता है, तब सम्पत्ति अपनेआप आ कर उपस्थित होती है। जिस प्रकार आँखें वन्द कर लेने से सारा विश्व ढक जाता है (दिखाई नहीं देता) उसी प्रकार एक सन्तोष को ही धारण कर लिया जाय, तो प्रत्येक वस्तु में विरक्ति आ जाती है। फिर इन्द्रिय-दमन और काय-क्लेश तप की क्या आवश्यकता रहती है? मात्र सन्तोष धारण कर लिया जाय, तो ऐसे महापुरुष की ओर मोक्ष-लक्ष्मी अपनेआप आकर्षित होती है। जो भव्यात्मा सन्तोष के द्वारा तुष्ट हैं और मुक्ति जैसा सुख भोगते हैं, वे जीवित रहते हुए भी मुक्त हैं।

राग-द्वेष से युक्त और विषयों से उत्पन्न हुआ सुख किस काम का? मुक्ति तो सन्तोष से उत्पन्न सुख से ही मिल सकती है। उन शास्त्रों के वे सुभाषित किस काम के जो दूसरों को तृप्त करने का विधान करते हैं। जिनकी इन्द्रियां मलिन है, जो विषयों को मन में वसाये हुए हैं, उन्हें मन को स्वच्छ कर के सन्तोष के स्वाद से उत्पन्न सुख की ही खोज करनी चाहिए।

हे प्राणी! यदि तेरा यह विश्वास हो कि "जो कार्य होते हैं, वे कारण के अनुसार ही होते हैं," इस प्रकार सन्तोष के आनन्द से ही मोक्ष के अपार आनन्द की प्राप्ति होती है। इस सिद्धान्त की भी मान्यता करनी चाहिए।

जो उग्र तप, कर्म को निर्मूल करने में समर्थ है, वही तप यदि सन्तोष से रहित हो, तो निष्फल जाता है। सन्तोषी आत्मा को न तो कृषि करने की आवश्यकता रहती है, न नौकरी, पशु-पालन और व्यापार करने की ही जरूरत है। क्योंकि सन्तोषामृत का पान करने से उसकी आत्मा निवृत्ति के महान् सुख को प्राप्त कर लेती है। सन्तोषामृत का पान करने वाले मुनियों को तृण पर सोते हुए भी जो आनन्द आता है, वह रुई के बड़े-बड़े गद्दों पर सोने वाले असन्तोषी धनवान् को नहीं होता। असन्तोषी धनवान्, सन्तोषी समर्थ पुरुषों के आगे तृण के समान लगते हैं। चक्रवर्ती और इन्द्रादि की ऋद्धि तो प्रयासजन्य और नश्वर है, परन्तु सन्तोष से प्राप्त हुआ सुख, अनायास और नित्य होता है। इसलिए बुद्धि-

मान् पुरुषों का कर्त्तव्य है कि समस्त दोष के स्थान रूप लोभ को दूर करने के लिए अद्वैत सुख के धाम रूप सन्तोष का आश्रय करना चाहिए।

इस प्रकार कषायों को जीतने वाली आत्मा, इस भव में भी मोक्ष-सुख का आनन्द लेती है और परलोक में अवश्य ही अक्षय आनन्द को प्राप्त कर लेती है।"

प्रभु की धर्मदेशना सुन कर बहुतों ने दीक्षा ली। बलदेव आदि बहुत-से व्रतधारी श्रावक हुए और वासुदेव आदि सम्यग्दृष्टि बने। केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद दो वर्ष कम ढ़ाई लाख वर्ष तक तीर्थंकर देवाधिदेवपने विचरते रहे। उनके ६४००० साधु, ६२४०० साध्वियाँ, ९०० चौदह पूर्वधर, ३६०० अवधिज्ञानी, ४५०० मनःपर्यवज्ञानी, ४५०० केवलज्ञानी, ७००० वैक्रिय-लब्धि वाले, २८०० वाद-लब्धि वाले, २४०००० श्रावक और ४१३००० श्राविकाएँ हुईं। मोक्ष समय निकट आने पर भगवान् समेदशिखर पर्वत पर पधारे और १०८ मुनियों के साथ अनशन किया। ज्येष्ठ-शुक्ला पंचमी को पुष्य-नक्षत्र में एक मास का अनशन पूर्ण कर उन मुनियों के साथ भगवान् मोक्ष पधारे।

भगवान् कुमार अवस्था में ढ़ाई लाख, राज्य संचालन में पाँच लाख और चारित्र अवस्था में ढ़ाई लाख, यों कुल दस लाख वर्ष का आयु भोग कर मोक्ष प्राप्त हुए।

पाँचवें पुरुषसिंह वासुदेव भी महान् क्रूर-कर्म करते हुए आयु पूर्ण कर के छठे नरक में गए। सुदर्शन, बलदेव ने भ्रातृ-वियोग से दुःखी हो कर संयम स्वीकार किया और विशुद्ध आराधना से समस्त कर्मों का क्षय कर के मोक्ष पधारे।

पन्द्रहवें तीर्थंकर

भगवान्

॥ धर्मनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

चक्रवर्ती मघवा

भगवान् श्री वासुपूज्य स्वामी के तीर्थ में, भरत-क्षेत्र के महिमंडल नामक नगर में नरपति नामक राजा राज करता था। वह सदाचारी, न्यायी और अनाथों का नाथ था। वह किसी भी जीव का अनिष्ट नहीं करता था और सभी का उचित रीति से पालन करता था। वह महानुभाव अर्थ और काम-पुरुषार्थ में अरुचि रखता हुआ धर्म-पुरुषार्थ का सेवन करने वाला था। वह देव-गुरु और धर्म की आराधना करने में तत्पर रहता था। धर्म-भावना में विशेष वृद्धि होने पर नरेश ने संसार त्याग कर सर्व-संयम स्वीकार कर लिया और चिरकाल तक उत्तम रीति से आराधना कर के मृत्यु पा कर मध्य ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुआ।

इसी भरत-क्षेत्र में श्रावस्ती नाम की एक श्रेष्ठ नगरी थी। 'समुद्रविजय' नाम का राजा वहाँ राज करता था। वह प्रतापी, विजयी और सदाचारी था। 'भद्रा' नाम की सुलक्षणी एवं उत्तम शील-सम्पन्न महारानी थी। नरपति मुनिराज का जीव ग्रैवेयक की अपनी आयु पूर्ण कर के महारानी भद्रा के गर्भ में उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। जन्म होने पर मघवा (इन्द्र) के समान पराक्रम वाले लक्षण देख कर पिता ने पुत्र का 'मघवा' नाम रखा। वय प्राप्त होने पर राजकुमार महान् योद्धा एवं पराक्रमवान् हुआ। महाराजा समुद्रविजय के बाद वह राज्य का संचालन करने लगा। कालान्तर में राज्य के शस्त्रागार में 'चक्ररत्न' प्रकट हुआ, तथा अनुक्रम से 'पुरोहित रत्न' आदि चक्रवर्ती महाराजा के योग्य सभी रत्न अपने-अपने स्थान पर उत्पन्न हुए और सभी नरेश के अनुशासन में आ गये। इसके बाद चक्ररत्न आयुधशाला में से निकल कर चलने लगा। उसके पीछे महाराजा मघवा भी चलने लगे। उन्होंने पूर्व के भरत और सगर चक्रवर्ती के समान छह खंड का विजय किया और राज्याभिषेक कर के 'तीसरे चक्रवर्ती महाराजाधिराज' के रूप में प्रसिद्ध हुए।

चक्रवर्ती सम्राट के सामने मनुष्य सम्बन्धी सभी प्रकार की देवोपम उत्कृष्ट भोग-सामग्री विद्यमान थी, किन्तु आप भोग में अत्यंत लुब्ध नहीं हुए और धर्म-भावना वृद्धिगत करते रहे। अंत में राज्य-सम्पदा और सभी प्रकार के काम-भोगों का त्याग कर के आपने श्रमण धर्म स्वीकार कर लिया और चारित्र का पालन करते हुए समस्त कर्मों को क्षय कर के मोक्षगामी हुए+।

मघवा चक्रवर्ती २५००० वर्ष कुमारवय में, २५००० मांडलिक नरेश, १०००० दिग्विजय में, ३९००००० वर्ष चक्रवर्ती पद में और ५०००० वर्ष संयम साधना में, इस प्रकार ५०००००० वर्ष का कुल आयु भोग कर मुक्त हुए।

चक्रवर्ती सनत्कुमार

कांचनपुरी नाम की एक अत्यंत समृद्ध और विशाल नगरी थी। 'विक्रम यश' नाम का महाप्रतापी राजा वहाँ राज करता था। वह महाप्रतापी था। अनेक राजा उसके आधीन थे। उसके अंत:पुर में ५०० रानियाँ थीं। उस नगरी में नागदत्त नाम का ऋद्धि-सम्पन्न सार्थवाह था। 'विष्णुश्री' उसकी अत्यंत सुन्दर पत्नी थी। दम्पत्ति में परस्पर प्रगाढ़ प्रेम था। वे सारस पक्षी के समान निरन्तर रसिकतापूर्वक जीवन व्यतीत करते थे। संयोगवशात् विष्णुश्री पर राजा की दृष्टि पड़ी। उसे देखते ही राजा मोहित हो गया। उसकी विवेक-बुद्धि नष्ट हो गई। उसने विष्णुश्री का हरण कर के अपने अंत:पुर में मँगवा लिया और उसके साथ अत्यंत गृद्ध हो कर भोग भोगने लगा। पत्नी का हरण होने पर नागदत्त विक्षिप्त हो गया। वह प्रेतग्रस्त व्यक्ति के समान सुध-बुध भूल कर भटकने लगा। उधर विष्णुश्री में ही लुब्ध हो जाने के कारण राजा की अन्य रानियों में ईर्षा उत्पन्न हो गई। उन्होंने औषध या मन्त्र-प्रयोग से विष्णुश्री को अपने मार्ग से हटाने का प्रयत्न किया। विष्णुश्री का स्वास्थ्य बिगड़ा। वह रोग-ग्रस्त हो गई और अन्त में उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गई। उसके मरने से राजा को भी गम्भीर आघात लगा और वह भी विक्षिप्त हो गया। उसकी दशा भी नागदत्त जैसी हो गई। राजा उसकी मृत-देह को छोड़ता ही नहीं था। मन्त्रियों ने भुलावा दे कर विष्णुश्री के शव को वन में डलवा दिया। राजा विक्षिप्त के समान इधर-उधर भटकने लगा। अन्न-पानी लिये उसे तीन दिन हो गए। मन्त्री-मण्डल चिन्तित हो उठा। राजा को विष्णुश्री का वन में पड़ा हुआ क्षत-विक्षत शव बताया गया। उस सुन्दर देह की ऐसी दुर्दशा देख कर राजा विचार-मग्न हो गया। सुन्दरता में छुपी हुई वीभत्सता उसके आगे प्रत्यक्ष हो रही थी। राजा विरक्त हो गया और राज्यादि का त्याग कर, श्री सुव्रताचार्य के समीप जा कर प्रव्रजित हो गया। वह राजर्षि चारित्र ग्रहण कर के

१८ का अभिप्राय मोक्ष प्राप्ति का लगता है। इस विषय का स्पष्टीकरण आगे सनत्कुमार चक्रवर्ती के प्रकरण में किया जायगा।

अपनी देह के प्रति भी उदासीन हो गया। उसे अपने शरीर में भी वैसी ही बीभत्सता लग रही थी। वह मासक्षमणादि लम्बी तपस्या कर के शरीर और कर्मों का शोषण करने लगा। आयु पूर्ण होने पर वह सनत्कुमार देवलोक में देवता हुआ। देवायु पूर्ण होने पर रत्नपुर नगर में "जिनधर्म" नाम का श्रेष्ठि-पुत्र हुआ। वह बचपन से ही धर्मानुरागी था और बारह प्रकार के श्रावक-धम का पालन करने लगा था। वह साधर्मियों की सेवा भी उत्साहपूर्वक करता था।

नागदत्त सार्थवाह, पत्नी-वियोग से दुःखी हो कर और आर्त्तध्यानयुक्त मृत्यु पा कर तिर्यंच-योनि में भ्रमण करने लगा। चिरकाल तक जन्म-मरण करते हुए सिंहपुर नगर में एक ब्राह्मण के घर जन्म लिया। उसका नाम "अग्निशर्मा" था। वह त्रिदण्डी सन्यासी बन कर अज्ञान तप करने लगा। इधर-उधर भ्रमण करता हुआ वह रत्नपुर नगर में आया। वहाँ हरिवाहन नामक अन्यधर्मी राजा था। राजा ने अग्निशर्मा त्रिदंडी तापस को अपने यहाँ पारणा करने का निमन्त्रण दिया। अग्निशर्मा राजभवन में आया। उसने वहाँ अचानक श्रेष्ठिपुत्र जिनधर्म को देखा। देखते ही सत्ता में रहा हुआ पूर्वजन्म का वैर जाग्रत हुआ। उसने राजा से कहा—

"राजन्! यदि आप मुझे पारणा कराना चाहते हैं, तो इस सेठ की पीठ पर गरमागरम खीर का पात्र रख कर भोजन करावें। ऐसा करने पर ही मैं भोजन करूँगा, अन्यथा बिना पारणा किये ही लौट जाउँगा।"

राजा, अग्निशर्मा का पूरा भक्त बन गया था। उसने अग्निशर्मा की बात स्वीकार कर ली। राजाज्ञा के अनुसार जिनधर्म ने अपनी पीठ झुका दी। उसकी पीठ पर अति उष्ण ऐसा पात्र रख कर, तापस भोजन करने लगा। जिनधर्म को इससे वेदना हुई, किन्तु वह शांत-भाव से अपने अशुभ कर्म के विपाक का परिणाम मान कर सहन करता रहा। तापस का भोजन पूरा हुआ, तब तक वह खीर-पात्र जिनधर्म सेठ के रक्त और मांस से लिप्त हो गया था। जिनधर्म ने घर आ कर अपने सभी सम्बन्धियों को खमाया और गृह त्याग कर मुनि के पास संयम स्वीकार किया। उसने एक पर्वत के शिखर पर जा कर पूर्व-दिशा की ओर अपनी पीठ को खुली रख कर कायोत्सर्ग किया। पीठ पर खुले हुए मांस को देख कर गिद्धादि पक्षी आकर्षित हुए और अपनी चोंच से मांस नोच-नोच कर खाने लगे। इस असह्य वेदना को शांतिपूर्वक सहन करते हुए और धर्म-ध्यान में लीन रहते हुए आयु पूर्ण कर के जिनधर्म मुनिजी, सौधर्मकल्प में इन्द्र के रूप में उत्पन्न हुए। वह अग्निशर्मा अज्ञान तप

करता हुआ, आयु पूर्ण कर, उसी देवलोक में आभियोगिक देव के रूप में उत्पन्न हुआ और हाथी के रूप में उस इन्द्र की सवारी के काम में आने लगा। वहाँ का आयु पूर्ण कर अग्निशर्मा का जीव, जन्म-मरण करता हुआ असित नामक यक्ष हुआ।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में हस्तिनापुर नाम का नगर था। वहाँ अश्व की विशाल सेना से पृथ्वी को प्रभावित करने वाला व शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला 'अश्वसेन' नाम का राजा था। वह सदाचारी, सद्‌गुणी और ऋद्धि-सम्पन्न था। याचकों के मनोरथ पूर्ण करने में वह तत्पर रहता था। उसके सहदेवी नाम की महारानी थी। रूप एवं लावण्य में वह स्वर्ग की देवी के समान थी। जिनधर्म का जीव, प्रथम स्वग की इन्द्र सम्बन्धी ऋद्धि भोग कर, आयु पूर्ण होने पर महारानी सहदेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर एक स्वर्ण-सी कांति वाला एवं अनुपम रूप-सम्पन्न पुत्र का जन्म हुआ। उस बालक का 'सनत्कुमार' नाम दिया गया। वह बिना विशेष प्रयत्न के ही समस्त विद्याओं और कलाओं में पारंगत हो गया। अनुक्रम से वह यौवन वय को प्राप्त हुआ।

सनत्कुमार के महेन्द्रसिंह नाम का एक मित्र था। वह योद्धा, बलवान् और अपने विशिष्ट पराक्रम से विख्यात था। सनत्कुमार अपने मित्र महेन्द्रसिंह और अन्य कुमारों के साथ मकरन्द नामक उद्यान में क्रीड़ा करने गया। वहाँ उसे कुछ घोड़े दिखाई दिये। किसी राजा ने ये उत्तम घोड़े महाराज अश्वसेन को भेंट के रूप में भेजे थे। वे घोड़े पंचधारा में चतुर और उत्तम लक्षण वाले थे। सनत्कुमार ने उन घोड़ों का अवलोकन किया। उनमें से 'जलधिकल्लोल' नाम का एक घोड़ा, जल-तरंग के समान चपल और सभी अश्वों में उत्तम था। सनत्कुमार को उस अश्व ने आकर्षित कर लिया। वह उसी समय उसकी लगाम पकड़ कर, उस पर सवार हो गया। उसके सवार होते ही घोड़ा एकदम भागा और आकाश में उड़ रहा हो—इस प्रकार शीघ्र-गति से दौड़ा। राजकुमार लगाम खिंच कर अश्व को रोकने का प्रयत्न करने लगा, किन्तु ज्यों-ज्यों लगाम खिंचता, त्यों-त्यों अश्व की गति विशेष तीव्र बनती। सनतकुमार के साथ महेन्द्रसिंह और अन्य राजकुमार भी घोड़ों पर सवार हो कर चले थे। किन्तु सभी साथी पीछे रह गए और सनत्कुमार उन सभी की आँखों से ओझल हो गया। सनत्कुमार का एकाकी अदृश्य होना सुन कर महाराज अश्वसेन चिन्तित हुए और स्वयं सेना ले कर खोज करने निकल गए। वे घोड़े के चरण-चिन्ह और मुँह में से झरते हुए फेन (झाग) का अनुसरण करते हुए खोज करने लगे। अचानक आँधी

चली और धूल उड़ी। खोज करने वालों का आगे बढ़ना रुक गया। उनकी आँखें, धूल उड़ कर गिरने के कारण बन्द हो गई थी। जब आँधी थमी और धूल उड़नी बन्द हुई, तो उन्होंने देखा कि घोड़े के पाँवों के चिन्ह मिट चुके थे। उड़ी हुई धूल ने सभी चिन्ह मिटा दिये। अब उनकी खोज का मार्ग विशेष कठिन हो गया। सभी इधर-उधर बिखर कर खोज करने लगे। महेन्द्रसिंह ने महाराजा अश्वसेन को समझा कर लौटा दिया और स्वयं खोज करने के लिए आगे बढ़ा। उसमें मित्र को खोजने की एक-मात्र धुन थी। अन्य खोज करने वाले तो इधर-उधर भटक कर लौट गए, किन्तु महेन्द्रसिंह आगे बढ़ता ही गया। भूख लगती, तो वृक्षों के फल खा लेता, पानी पी लेता, कहीं कुछ विश्राम करता और आगे बढ़ता। वह आस-पास की झाड़ी, गुफाएँ, टेकरे, वनवासियों के झोंपड़े आदि में खोज करता और विशाल वृक्षों पर चढ़ कर इधर-उधर देखता हुआ आगे बढ़ने लगा। सघन अटवी में भयानक हिंस्र-पशुओं से बचता और आक्रमणकारी पशुओं को खदेड़ता हुआ, वह आगे बढ़ता ही रहा। उसे न गर्मी का भय रोक सका, न सर्दी का। वह सभी प्रकार के कष्टों को सहता हुआ मित्र की खोज निकालने की ही धुन लिए भटकने लगा। उसकी दशा बिगड़ गई। काँटों और कंकरों ने पाँवों में छेद कर दिये, चलना दुभर हो गया, कपड़े फट गये, बाल बढ़ गए, फिर भी वह चलता ही रहा। इस प्रकार भटकते हुए उसे एक वर्ष बीत गया।

से यहाँ तक पहुँचने में उत्पन्न कठिनाइयों का हाल पूछा, तो महेन्द्रसिंह ने विस्तारपूर्वक अपनी कष्ट-कहानी सुनाई। मित्र के भीषण कष्टों और आपदाओं को सुन कर बहुत खेद हुआ। विद्याधरी ललनाओं ने महेन्द्र को स्नानादि करा कर भोजन कराया। इसके बाद महेन्द्र ने सनत्कुमार का हाल पूछा। सनत्कुमार ने सोचा—'मेरी इस अवस्था की बात मैं स्वयं कहूँ—यह शोभनीय नहीं होगी।' उसने अपनी बायीं ओर बैठी हुई विद्याधर सुन्दरी बकुलमति से सारा वृत्तान्त सुनाने का कह कर शयन करने के बहाने वहाँ से हट गया। उसके जाने के बाद बकुलमति ने सनत्कुमार का वृत्तान्त बताते हुए कहा;—

"महानुभाव! तुम सभी के देखते ही देखते अश्व द्वारा तुम्हारे मित्र का हरण होने के बाद, अश्व ने एक भयानक अटवी में प्रवेश किया। वह दौड़ता ही रहा। दूसरे दिन मध्यान्ह काल में वह क्षुधा-पिपासा और गंभीर थाक से अकड़ कर खड़ा रह गया। उसके खड़े रहते ही कुमार घोड़े पर से नीचे उतरे और साथ ही घोड़ा भींत के समान नीचे गिर कर प्राण-रहित हो गया।

आपके मित्र भी प्यास से व्याकुल हो रहे थे। वे पानी की खोज में इधर-उधर भटकने लगे। उन्हें पानी मिलना कठिन हो गया। वे व्याकुल हो गए और एक सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे जा कर उसकी शीतल छाया में लेट गए। वे पुण्यवान् एवं भाग्यशाली हैं। सद्भागी पर आपत्ति के बादल अधिक समय तक नहीं ठहर सकते। उनके लिए जंगल में भी मंगल का वातावरण बन सकता है। पुण्ययोग से उस वन के अधिष्ठायक यक्ष को कुमार की विपत्ति का भान हुआ। तत्काल यक्ष ने शीतल जल से आर्य-पुत्र के शरीर का सिंचन किया। शरीर में शीतलता पहुँचते ही वे सचेत हो गए और यक्ष द्वारा दिया हुआ पानी पी कर तृप्त हुए। उन्होंने यक्ष से पूछा—"तुम कौन हो और यह स्वादिष्ट एवं सुगन्धित जल कहाँ से लाये?" यक्ष ने कहा—

"मैं इस वन में रहने वाला यक्ष हूँ। यह उत्तम जल तुम्हारे लिए मानसरोवर से लाया हूँ।"

—"यदि आप मुझे मानसरोवर ले चलें और मैं उसमें स्नान कर लूँ, तो मेरा शरीर स्वस्थ और स्फूर्तिदायक हो सकता है। मेरी सभी पीड़ाएँ दूर हो सकती है"—कुमार ने यक्ष से अनुरोध किया।

यक्ष ने आर्य-पुत्र का अनुरोध स्वीकार किया और उन्हें उठा कर बात-की-बात में मानसरोवर ले गया। आर्य-पुत्र ने वहाँ जी-भर कर जलक्रीड़ा की।

वे जलक्रीड़ा कर ही रहे थे कि उनका पूर्वभव का शत्रु "असिताक्ष" नामक यक्ष वहाँ आ पहुँचा। आर्यपुत्र को देखते ही उसका वैर जाग्रत हुआ। उसने उन पर आक्रमण कर दिया, किन्तु आर्यपुत्र ने साहस के साथ उसका सामना किया और उसे परास्त कर के भगा दिया। उसकी सभी चालें व्यर्थ हुईं। उनके युद्ध-कौशल को देखने के लिए मानसरोवर में क्रीड़ा करने को आई हुई देवियाँ और विद्याधरियाँ एकत्रित हो गई थीं। आर्यपुत्र की विजय पर वे प्रसन्न हुईं और उन्होंने आर्यपुत्र पर पुष्प-वर्षा की। इसके बाद आर्यपुत्र वहाँ से चले। उधर से ये विद्याधर-कन्याएँ नन्दन वन में से मानसरोवर की ओर आ रही थीं। ये सुन्दरियें आर्यपुत्र को देख कर मोहित हो गई और कामदेव के अवतार समान आर्यपुत्र को एकटक निरखने लगी। आर्यपुत्र ने इनके निकट आ कर परिचय पूछा। उन्होंने अपना परिचय देते हुए कहा;—

"विद्याधरों के राजा भानुवेग की हम आठों पुत्रियाँ हैं। हम सब वन-विहार एवं जलक्रीड़ा करने आई हैं। हमारी नगरी निकट ही है। हम पर अनुग्रह कर के आप वहां पधारने का कष्ट करें।"

उनके साथ आर्यपुत्र नगरी में आये। विद्याधराधिपति महाराज भानुवेग, अपनी इन पुत्रियों के लिए वर प्राप्त करने की चिंता में ही थे। राजकुमार को देख कर वे अत्यंत प्रसन्न हुए। उनका सत्कार किया। राजा ने समझ लिया कि यह पुरुष महान् भाग्यशाली, पराक्रमी और वीर है। ऐसा उत्तम वर दूसरा कोई हो ही नहीं सकता। राजा ने अपनी आठों पुत्रियों का विवाह उसके साथ कर दिया। वे वहीं रह कर अपनी पत्नियों के साथ सुख भोग में समय बिताने लगे।

"हे कुरुवंश के तिलक सनत्कुमार ! आप ही मेरे पति होवें," इस प्रकार कहती हुई वह अश्रुपात करती थी। उसका अनुपम रूप और लावण्य देख कर आर्यपुत्र चकित हुए। उन्हें विचार हुआ कि 'यह सुन्दरी मुझे कब से व कैसे पहिचानती है ?' वे उसके निकट गएऔर पूछा—

"भद्रे ! तुम कौन हो ? यहाँ क्यों आई ? तुम्हें किस बात का दुःख है और वह सनत्कुमार कौन है, जिसे तुम याद कर रही हो ?"

"महानुभाव ! मैं साकेतपुर के अधिपति महाराजा सुराष्ट्र की पुत्री हूँ। मेरा नाम 'सुनन्दा' है। कुरुवंश रूपी आकाश में सूर्य के समान और कामदेव से भी अत्यंत रूप-सम्पन्न महाभुज सनत्कुमार, महाराजा अश्वसेन के पुत्र हैं। मैंने उन्हें मन से ही अपना पति बनाया है और मेरे माता-पिता ने भी मेरा संकल्प स्वीकार किया है। एक विद्याधर मुझे देख कर मोहित हो गया और उसने मेरा हरण कर लिया। उसने इस भवन की विकुर्वणा कर के मुझे इसमें बिठा कर चला गया है। आगे क्या होगा, यह मैं नहीं जानती।"

—"सुन्दरी ! तू जिसका स्मरण कर रही है, वह सनत्कुमार मैं ही हूँ। तू अब प्रसन्न हो कर स्वस्थ हो जा। अब तुझे किसी का भय नहीं रखना चाहिए।"

रमणी प्रसन्न हो गई। इतने में वज्रवेग नाम का विद्याधर वहाँ आया और आर्य-पुत्र को देख कर क्रोधान्ध बन गया। उसने तत्काल उन्हें पकड़ कर आकाश में उछाल दिया। यह देख कर वह महिला भयभीत हुई और मूर्च्छित हो कर भूमि पर गिर गई। उधर आर्यपुत्र ने नीचे उतर कर वज्रावेग पर ऐसा मुष्टि प्रहार किया कि वह प्राण रहित हो गया। विघ्न टल जाने के बाद उस रमणी को सावधान कर के आर्यपुत्र ने वहीं उसका पाणिग्रहण कर लिया। यही सुनन्दा सनत्कुमार चक्रवर्ती का 'स्त्री-रत्न' बनी।

वज्रवेग की मृत्यु का हाल जान कर उसकी वंध्यावली बहिन, क्रोध एवं शोक से संतप्त हो कर वहाँ आई। किन्तु वह ज्ञानियों के इस कथन का स्मरण कर के शांत हो गई कि—"तेरे भाई का वध करने वाला ही तेरा पति होगा।" वह आर्यपुत्र को देखते ही मोहित हो गई। सुनन्दा के अनुरोध पर सनत्कुमार ने उसका भी पाणिग्रहण कर लिया।

आर्यपुत्र अपनी दोनों पत्नियों के साथ वार्त्तालाप कर ही रहे थे कि इतने में दो विद्याधरों ने वहाँ आ कर, आर्यपुत्र को कवचयुक्त महारथ दे कर कहा—

"आपने वज्रवेग को मार डाला, इसका बदला लेने के लिए उसके पिता अशनिवेग अपनी सेना ले कर आ रहा है। वह स्वयं भी महान् योद्धा और विद्याधरों का राजा है।

हमें ये शस्त्र और रथ ले कर आपको देने के लिए, हमारे पिता श्री चन्द्रवेग और भानुवेग ने भेजा है। हम आपके श्वसुरपक्ष के हैं। हमारे पिता भी सेना सज्ज कर के आपकी सहायता के लिए आ रहे हैं।" आर्यपुत्र शस्त्र-सज्ज होने लगे। इतने में ही शत्रु-सेना आ गई। दूसरी ओर चन्द्रवेग और भानुवेग भी सेना ले कर आ गये। आर्यपुत्र को रानी वन्ध्यावली ने 'प्रज्ञप्ति' नाम की विद्या दी। यद्यपि आर्यपुत्र उसके भाई को मारने वाले थे और उसके पिता तथा समस्त पितृकुल के विरुद्ध युद्ध करने जा रहे थे, तथापि 'स्त्रियाँ स्वभाव से ही पति के वश में होती हैं, उनका सर्वस्व पति ही होता है।' तदनुसार वन्ध्यावली ने भी आर्यपुत्र की सहायता में प्रज्ञप्ति विद्या दी। प्रियतम शस्त्र-सज्ज हो कर शत्रु-सैन्य की प्रतीक्षा करने लगे। इतने में सहायक-सेना आ पहुँची और शत्रु-सेना भी आ गई। युद्ध छिड़ गया। दोनों पक्ष जम कर लड़ने लगे। जब दोनों ओर की सेना क्षत-विक्षत हो गई, तब अशनिवेग और सनत्कुमार स्वयं भिड़ गये। विविध प्रकार के शस्त्रों से दोनों का युद्ध होने लगा। अन्त में आर्यपुत्र के शस्त्र-प्रहार से अशनिवेग मारा गया और उसका राज्य आर्यपुत्र के अधिकार में आ गया। ये विद्याधरों के अधिपति बने। इसके बाद विद्याधरों के सिरोमणि ऐसे मेरे पिता चन्द्रवेग ने आर्यपुत्र से कहा—"मुझे ज्ञानी मुनिराज ने कहा था कि तुम्हारी पुत्रियों का पति सनत्कुमार होगा।" यह भविष्यवाणी सफल करें और मेरी बकुलमति आदि सौ पुत्रियों को स्वीकार करें। उसी समय मेरा और मेरी बहिनों का विवाह आपके मित्र के साथ हुआ। हम सभी आर्यपुत्र के साथ विविध प्रकार के भोग भोगती रहीं। आज हम सभी यहाँ क्रीड़ा करने आये थे। सद्भाग्य से आपका यहाँ शुभागमन हो गया।"

बकुलमति से मित्र के पराक्रम और सद्भाग्य की कथा सुन कर महेन्द्रसिंह प्रसन्न हुआ। इतने में सनत्कुमार भी रतिगृह से निकल कर मित्र के समीप आये। कुछ काल व्यतीत होने के बाद महेन्द्र ने सनत्कुमार से निवेदन किया कि 'अब अपने नगर को चल कर माता-पिता के वियोग-दुःख को मिटाना चाहिए।' राजकुमार ने मित्र की सलाह मान कर तत्काल प्रस्थान की तय्यारी कर दी। रानियों, अनेक विद्याधराधिपतियों, अनुचरों और साज-सामान के साथ, विमान द्वारा चल कर हस्तिनापुर आये। माता-पिता के हर्ष का पार नहीं रहा। नगर भर में उत्सव मनाया गया। महाराज अश्वसेन ने पुत्र के प्रबल पराक्रम को देख कर, अपने राज्य का भार कुमार सनत्कुमार को दिया और महेन्द्रसिंह को उनका सेनापति बनाया। इसके बाद वे स्थविर मुनिराज के पास दीक्षित हो गए।

सनत्कुमार चक्रवर्ती का अलौकिक रूप

नीतिपूर्वक राज्य का संचालन करते हुए महाराजा सनत्कुमार को चक्र आदि चौदह महारत्न प्राप्त हुए। उन्होंने षट्खंड पर विजय प्राप्त की। जब उन्होंने विजयी बन कर गजारूढ़ हो, अपनी राजधानी हस्तिनापुर में प्रवेश किया, तो शक्रेन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने श्रीसनत्कुमार के चक्रवर्तीपन का राज्याभिषेक किया। राज्याभिषेक के उपलक्ष में चक्रवर्ती सम्राट ने बारह वर्ष तक प्रजा को सभी प्रकार के कर से मुक्त कर दिया और प्रजा का पुत्रवत् पालन किया।

महाराजाधिराज सनत्कुमार अप्रतिम रूप सम्पन्न थे। उनका रूप देवोपम था। उनके समान दूसरा कोई रूप-सम्पन्न नहीं था। एक बार सौधर्म स्वर्ग में शक्रेन्द्र की सभा भरी हुई थी। दिव्य नाटक चल रहा था। उस समय ईशान देवलोक का संगम नामक देव, कार्यवश सौधर्म सभा में आया। उसका रूप इतना उत्कृष्ट था कि शक्रेन्द्र की सभा के सभी देव चकित रह गये। उसके रूप के आगे सभी देवों का रूप फीका और निस्तेज हो गया। सभी देव, उस संगम के रूप पर विस्मित हो गए। उसके जाने के बाद देवों ने इन्द्र से पूछा कि—"इस देव को ऐसा अलौकिक रूप किस प्रकार प्राप्त हुआ।"

सौधर्मेन्द्र ने कहा—"उसने पूर्वभव में आयम्बिल-वर्द्धमान तप किया था। इससे उसे ऐसा रूप और तेज प्राप्त हुआ है●।"

देवों ने फिर पूछा—"क्या इस देव जैसा उत्कृष्ट रूप जगत् में और भी किसी का है?"

—"इससे भी अधिक रूप तो भरत-क्षेत्र के चक्रवर्ती सम्राट सनत्कुमार का है। उनके जैसा उत्तम रूप अन्यत्र किसी मनुष्य या देव का भी नहीं है"—शक्रेन्द्र ने कहा।

● तप से आत्मा पर लगे हुए कर्मों की निर्जरा होती है। बाह्याभ्यंतर तप से आत्मा तो प्रभावित होती ही है, किन्तु शरीर पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। यद्यपि तप से देह निर्बल, अशक्त एवं जर्जरित हो जाती है, फिर भी तपस्वी के श्रीमुख पर एक तेज, एक दीप्ति प्रकट होती है। आगमों में कई स्थानों पर ऐसा उल्लेख आया है;—

"तवेणं तेएणं तवतेयसिरीए अईव अईव उवसोभेमाणे चिट्ठइ।" (भगवती २-१)

उपरोक्त आगमिक शब्द तपस्वी के चेहरे पर प्रकट होने वाली तप के तेज की शोभा और उससे उसकी अत्याकर्षकता प्रकट करते हैं। यह दीप्ति उसे भावी जन्म में भी प्राप्त होती है। निर्जरा के साथ शुभ कर्म का जो बन्ध होता है, उसके उदय का यह उत्तम फल है।

इन्द्र की यह बात विजय और वैजयंत नाम के दो देवों को नहीं रुची। उन्होंने सोचा—'इन्द्र अतिशयोक्ति कर रहे हैं। कहीं औदारिक-शरीरधारी मनुष्य का भी इतना उत्तम रूप हो सकता है ?' वे दोनों देव सनत्कुमार का रूप देखने के लिए पृथ्वी पर आये और ब्राह्मण के वेश में द्वारपाल के पास आ कर राजा के दर्शन करने की इच्छा व्यक्त की। उस समय महाराजाधिराज शरीर पर से वस्त्र उतार कर, मर्दन एवं स्नान करने की तय्यारी कर रहे थे। जब सम्राट को ब्राह्मणों के आगमन की सूचना मिली, तो उन्होंने उन्हें शीघ्र उपस्थित करने की आज्ञा दी। दोनों ब्राह्मणों ने जब महाराजा सनत्कुमार का रूप देखा, तो चकित रह गए। उनके मन में विचार हुआ कि—"अहो ! कितना सुन्दर रूप है। इनका सुन्दर ललाट, अष्टमी के चन्द्रमा का तिरस्कार करता है। इनके नेत्र कान तक खिचे हुए नील-कमल की कान्ति को भी जीत लेते है। ओष्ठ लाल रंग के पक्व बिंबफल की कान्ति का पराभव करते हैं, कान शीप की शोभा को लज्जित करते हैं। गर्दन पांचजन्य शंख को जीत लेती है, भुजाएँ गजराज की सूंड से भी अधिक सुशोभित हैं। वक्षस्थल स्वर्णमय शिला से भी अधिक महत्वपूर्ण है। इस प्रकार उनके शरीर के प्रत्येक अंग और उपांग अनुपम, आकर्षक एवं सुन्दरतम है। इस अपूर्व स्वरूप का वर्णन करने में वाणी भी असमर्थ है। वास्तव में सम्राट सनत्कुमार का रूप उत्कृष्ट एवं अलौकिक है। देवेन्द्र ने जो प्रशंसा की, वह यथार्थ ही थी।"

ब्राह्मणों को विचारमग्न देख कर सम्राट ने पूछा—

"हे द्विजोत्तम ! तुम्हारे आगमन का क्या प्रयोजन है ?"

—"नरेन्द्र ! हम बहुत दूर देश से आये हैं। जनता में आपके रूप की अत्यधिक प्रशंसा सुन कर, हम मात्र दर्शन के लिए ही यहां आये हैं और हम कृतार्थ हुए हैं—आपके दर्शन पा कर। हमने जो कुछ सुना था, उससे भी अत्यधिक एवं अलौकिक रूप आपका हमारे देखने में आया"—विप्रों ने कहा।

"अरे विप्रों ! तुमने क्या रूप देखा है मेरा ? अभी तो मेरा शरीर उबटन से व्याप्त है। स्नान भी अब तक नहीं किया और वस्त्राभूषण भी नहीं पहने। तुम थोड़ी देर ठहरो। जब मैं सुसज्जित हो कर राज-सभा में आऊँ, तब तुम मेरे उत्कृष्ट रूप को देखना।"

इस प्रकार कह कर नरेश स्नानादि से निवृत्त हुए और सुसज्जित हो कर राज-सभा में आये। तत्काल दोनों ब्राह्मणों को बुलाया गया। ब्राह्मण, राजा का विकृत रूप देख कर खेद करने लगे—"अहो ! यह क्या हो गया ? जो रूप हमने थोड़ी देर पहले देखा था,

वह कहाँ चला गया ? वास्तव में औदारिक-शरीरी मानव का सुख, सुन्दरता और आरोग्यता क्षणिक होती है। इस प्रकार वे मन ही मन खेदित हो रहे थे। उन्हें विचार-मग्न एवं खिन्न मुख देख कर नरेश ने पूछा—

—"पहले तुम मुझे देख कर प्रसन्न हुए थे। किन्तु अभी तुम्हारे चेहरे पर विषाद झलकता है। क्या कारण है इसका ?"

—"नरेन्द्र ! सत्य यह है कि हम सौधर्म कल्पवासी देव हैं। सौधर्मेन्द्र से आपके रूप की प्रशंसा सुन कर यहाँ आये हैं। उस समय आपका रूप देख कर हम प्रसन्न हुए थे। वास्तव में आपका रूप वैसा ही था। किन्तु अभी इस रूप में अनिष्ट परिवर्त्तन हो गया है। इस समय आपके रूप के चोर ऐसे कई रोगों ने इस अनुपम रूप को घेर लिया है। इससे आपका वह अलौकिक रूप नहीं रहा और विद्रूप हो गया है।" इतना कह कर देव अन्तर्धान हो गए।

देवों की वात सुनते ही नरेन्द्र ने अपने शरीर को ध्यानपूर्वक देखा। उन खुद को अपना शरीर तेजहीन, फीका एवं म्लान दिखाई दिया। उन्होंने विचार किया;—

"रोग के घर इस शरीर को धिक्कार है। ऐसे सरलता से बिगड़ने वाले शरीर पर मूर्ख लोग ही गर्व करते हैं। जिस प्रकार दीमक, काष्ठ को भीतर ही भीतर खा कर खोखला बना देता है, उसी प्रकार शरीर में से उत्पन्न रोग, सुन्दर शरीर को भी विद्रूप बना देते हैं। जिस प्रकार वट-वृक्ष के फल बाहर से ही सुन्दर दिखाई देते हैं, परन्तु भीतर तो वह कुरूप और कीड़ों का निवास बना होता है, उसी प्रकार मनुष्य का शरीर कभी ऊपर से सुरूप दिखाई दे, तो भी उसके भीतर तो कुरूपता ही भरी हुई है। उसमें कीड़े कुलबुला रहे हैं। रोग एवं वृद्धावस्था से शरीर शिथिल हो जाता है, फिर भी आशा और तृष्णा ढीली नहीं होती। रूप चला जाता है, परन्तु पाप-वुद्धि नहीं जाती। इस संसार में रूप-लावण्य, कांति, शरीर और द्रव्य, ये सभी कुशाग्र पर रही हुई जल-विन्दु के समान अस्थिर है। इसलिए इस नाशवान् शरीर से सकाम-निर्जरा वाला तप करना ही उत्तम है।" इस प्रकार चिन्तन करते हुए महाराजा सनत्कुमार विरक्त हो गए और अपने पुत्र को राज्यभार सौंप कर श्री विनयधर आचार्य के समीप प्रव्रजित हुए। श्री सनत्कुमार के दीक्षित हो कर जाते ही उनके पीछे उनका परिवार भी चल निकला। लगभग छह महीने तक पीछे-पीछे फिरने के वाद परिवार के लोग हताश हो कर लौट आये। उन सर्व-विरत, ममत्व-त्यागी, विरक्त महात्मा ने उनकी ओर स्नेहयुक्त दृष्टि से देखा ही नहीं। दीक्षित होते ही महात्मा सनत्-

कुमार बेले-बेले पारणा करने लगे। अरस, विरस एवं तुच्छ आहार के कारण शरीर में विविध प्रकार की व्याधि उत्पन्न हो गई। व्याधियों के प्रकोप से भी वे उत्तममुनि विचलित नहीं हुए और बिना औषधोपचार के ही समभावपूर्वक रोगातंक को सहन करने लगे। इस प्रकार रोग-परीषह को सहन करते हुए सात सौ वर्ष व्यतीत हो गए। तप के प्रभाव से उन महर्षि को अनेक प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त हो गईं।

तपस्वीराज श्री सनत्कुमार के विशुद्ध तप के प्रति शक्रेन्द्र के हृदय में भक्ति उत्पन्न हुई। उन्होंने अपनी देव-सभा में महर्षि की प्रशंसा करते हुए कहा कि—

"अहो, श्री सनत्कुमार कितने उत्तम-कोटि के त्यागी हैं। चक्रवर्ती की राज्य-लक्ष्मी को धूल के समान त्याग कर वे साधु बने। उग्र तप करते हुए शरीर में बड़े-बड़े असह्य रोग उत्पन्न हो गए, किंतु वे उनका प्रतिकार नहीं करते। उनके खुद के पास ऐसी अनेक लब्धियाँ हैं कि जिनके प्रयोग से, क्षणभर में सभी रोग नष्ट हो कर शरीर निरोग बन जाय, फिर भी वे रोग का परीषह बड़ी धीरता के साथ सहन कर रहे हैं।

शक्रेन्द्र स्वयं धर्मात्मा है। उन्होंने खुद ने पूर्वभव में धर्म की उत्तम आराधना की थी। उनमें धर्मात्माओं के प्रति अनुराग है। जब उनके अवधि-पथ में किसी विशिष्ट गुण-सम्पन्न आत्मा के उत्तम गुण आ जाते हैं, तो वे उनका अनुमोदन करते हैं। आज भी उन्होंने गुणानुराग से प्रेरित हो कर महामुनि सनत्कुमारजी के गुणगान किये थे। किन्तु उन्हीं विजय और वैजयंत देव को यह बात रुची नहीं। उन्होंने सोचा—"महारोगों से पीड़ित व्यक्ति के सामने यदि कोई अमोघ औषधी ले कर उपस्थित हो, तो भी वे उपेक्षा कर दें, यह बात जँचती नहीं।" वे दोनों वैद्य का रूप बना कर तपस्वीराज श्री सनत्कुमार के सामने आये और औषधी लेने का आग्रह करने लगे। तपस्वीराज ने उनसे कहा;—

"वैद्यों ! मुझे द्रव्य-रोग की चिन्ता नहीं है। यदि तुम भाव-रोग की चिकित्सा कर सकते हो, तो करो। ये भाव-रोग जन्मान्तर तक पीछा नहीं छोड़ते हैं। द्रव्य-रोग की दवा तो मेरे पास भी है। लो देखो"—यों कह कर महर्षि ने अपनी अंगुली अपने कफ से लिप्त की। वह तत्काल निरोग एवं स्वर्ण के समान कान्ति वाली बन गई। यह देख कर दोनों देव, महर्षि के चरणों में झुके। वन्दन करने के बाद बोले;—

"ऋषीश्वर ! हम वे ही देव हैं, जो इन्द्र की प्रशंसा से अविश्वासी बन कर आपका रूप देखने आये थे। आज भी इन्द्र द्वारा आपकी उत्तम साधना की प्रशंसा सुन कर हम आये हैं और आपकी परीक्षा कर के पूर्ण संतुष्ट हो कर जा रहे हैं।" वंदना कर के देव चले गए।

सनत्कुमार ५०००० वर्ष कुमारपने, ५०००० वर्ष मांडलिक राजापने, १०००० वर्ष दिग्विजय में, ९०००० वर्ष चक्रवर्ती-सम्राटपने और १००००० वर्ष संयम-पर्याय में, इस प्रकार कुल ३००००० वर्ष का आयु पूर्ण कर के मुक्ति को प्राप्त हुए * ।

---

* त्रि. श. पु. और 'चउप्पन्न महापुरिस चरियं' आदि में सनत्कुमार चक्रवर्ती के लिए भी सनत्कुमार नामक तीसरे देवलोक में जाने का उल्लेख है। पूज्यश्री घासीलालजी म. सा. ने भी उत्तराध्ययन सूत्र अ. १८ भा. ३ की टीका पृ. १८० में चक्रवर्ती मघवा की और पृ. २११ में सनत्कुमार की गति तीसरे देवलोक की ही बताई है। पूज्य आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. ने भी अपने 'जैन धर्म के मौलिक इतिहास' प्रथम भाग पृ. ११० और ११२ में इसी मान्यता का अनुसरण किया है। किन्तु दूसरी धारणा के अनुसार ये दोनों चक्रवर्ती भी उसी भव में मोक्षगामी हुए हैं। उत्तराध्ययन अ. १८ में जिन राजर्षियों का उल्लेख हुआ, वे सभी तद्भव मोक्षगामी माने जाते हैं। स्थानांगसूत्र ४-१ में अंतक्रिया के निरूपण में, तीसरी अंतक्रिया के उदाहरण में श्री सनत्कुमार चक्रवर्ती को उपस्थित किया है। मूलपाठ में उनके लिये स्पष्टाक्षरों में लिखा है कि--" **दीहेणं परियाएणं सिज्झइ जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेइ** "—दीर्घ-पर्याय (लम्बेकाल तक) संयम का पालन कर के सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए और समस्त दुःखों का अंत किया।

यह मूलपाठ श्री सनत्कुमार चक्रवर्ती को उसी भव में मुक्त होने वाले बतलाता है और 'अंतक्रिया' शब्द भी अपना अर्थ "भवान्त, कर्मों का अन्त एवं संसार का अंत करने वाली क्रिया" होता है। यों तो विरति मात्र भव का अन्त करने वाली है, भले ही अनेक भव के बाद अन्त हो। किन्तु स्थानांग का पाठ उसी भव में अन्त करने वाली क्रिया से सम्बन्धित लगता है। अन्य तीन क्रियाओं के उदाहरण भी उसी भव में मुक्ति पाने वाली भव्यात्माओं के हैं। इस सूत्र के टीकाकार ने जो--" दीर्घपर्यायेण च सिद्धस्त्यद्भवे सिद्धयभावेन भवान्तरे सेत्स्यमानत्वादिति " लिखा है। यह उनकी धारणा होगी, सूत्र का अर्थ नहीं। बाद के कुछ विद्वानों ने भी उन्हीं का अनुसरण किया लगता है।

पू. श्री जयमलजी म. सा. ने अपनी 'अनंत चोवीसी' में--" वली दसे चक्रवर्ती, राज-रमणी ऋद्धि छोड़। दसे मुक्ति पहोंचा, कुल ने शोभा चहोड़।" लिखा है।

'जैन सिद्धांत बोल संग्रह' भाग १ पृ. २३९ में भी तीसरी अन्तक्रिया करने के उदाहरण में श्री सनत्कुमार चक्रवर्ती को 'मोक्षगामी' लिखा है।

उत्तराध्ययन सूत्र का तात्पर्य एवं स्थानांग सूत्र की अन्तक्रिया देखते हुए हमें तो श्री सनत्कुमार चक्रवर्ती का उसी भव में मुक्ति पाना संगत लगता है।

भ० शांतिनाथजी

भरत-क्षेत्र के दक्षिणार्द्ध में रत्नपुर नाम का भव्य नगर था। श्रीसेन नाम का प्रतापी राजा राज करता था। वह स्वयं धर्मप्रिय, दानेश्वर एवं प्रजापालक था। दुष्टों और दुराचारियों को दण्ड देते हुए भी वह दयालु था। उस आदर्श नरेश के 'अभिनन्दिता' नाम की सुन्दर एवं शीलवती रानी थी। वह अपने उत्तम गुणों से मातृकुल, पितृकुल और श्वशुरकुल को सुशोभित एवं प्रशसित करती थी। महाराज श्रीसेन के एक दूसरी रानी भी थी, जिसका नाम 'शिखिनन्दिता' था।

कालान्तर में राजमहिषी अभिनन्दिता गर्भवती हुई। उसे स्वप्न में अपनी गोद में चन्द्र और सूर्य खेलते दिखाई दिये। गर्भ स्थिति पूर्ण होने पर दो सुन्दर पुत्रों का जन्म हुआ। उनका नाम 'इन्दुसेन' और 'बिन्दुसेन' रखा। योग्य वय होने पर विद्याध्ययन कराया। वे सभी कलाओं में पारंगत हुए। उनकी इन्द्रियां सबल हुई और वे यौवन-वय को प्राप्त हुए।

दासी-पुत्र कपिल

मगध देश के अचलग्राम में 'धरणीजट' नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह सांगोपांग चार वेद और अनेक शास्त्रों का ज्ञाता था और अपनी ज्ञाति में सर्वमान्य था। 'यशोभद्रा' नाम की सर्वांग सुन्दरी उसकी पत्नी थी। वह उत्तम गुणों से युक्त गृहलक्ष्मी थी।

उससे उसके 'नन्दीभूति' और 'शिवभूति' नाम के दो पुत्र हुए। नन्दीभूति ज्येष्ठ पुत्र था। उनके यहाँ 'कपिला' नामकी एक दासी थी। धरणीजट का उस दासी के साथ अनैतिक सम्बन्ध था। उस दासी के गर्भ से एक पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम 'कपिल' रखा था। यशोधरा से उत्पन्न दोनों पुत्रों को तो धरणीजट, वेदाध्ययन कराने लगा, परन्तु कपिल को वह नहीं पढ़ाता था, क्योंकि वह दासी-पुत्र था। किंतु कपिल तीव्र बुद्धि वाला था। जब धरणीजट अपने दोनों पुत्रों को पढ़ाता, तब वह पास बैठ कर देखता व सुनता रहता और मन-ही-मन उस पाठ को याद करता रहता। इस प्रकार मौनपूर्वक अध्ययन से वह भी वेदों का सांगोपांग ज्ञाता एवं पारंगत हो गया। अपने को योग्य एवं समर्थ जान कर, कपिल घर छोड़ कर विदेश चला गया और अपने गले में दो यज्ञोपवित धारण कर के अपने-आपको उत्तम ब्राह्मण बतलाने लगा। वह घूमता हुआ रत्नपुर नगर में आया और अपनी विद्वत्ता तथा जातीय-उच्चता बताता हुआ महोपाध्याय 'सत्यकी' के महाविद्यालय में आया। महापंडित सत्यकी, सभी प्रकार की विद्या और कला का भंडार था। कपिल इस विद्यालय में प्रति दिन आ कर विद्यार्थियों एवं विद्वानों की शंकाओं का समाधान करता। उसके समझाने का ढंग हृदयस्पर्शी था। उसकी विशेषता से विद्यार्थी ही नहीं, आचार्य सत्यकी भी प्रभावित हुआ। सत्यकी ने खुद ने कपिल को इतने कठिन प्रश्न पूछे कि जिनका उत्तर वह स्वयं भी सरलतापूर्वक नहीं दे पाता था। कपिल के पांडित्य पर सत्यकी मुग्ध हो गया और उसे संमानपूर्वक अपने विद्यालय में नियुक्त कर दिया। इसके बाद कपिल, आचार्य का काम करने लगा और सत्यकी निश्चित हो कर रहने लगा। कपिल की भक्ति ने सत्यकी को बहुत प्रभावित किया। अन्त में सत्यकी ने अपनी उत्तम गुणों वाली सर्वांग सुन्दरी युवा पुत्री 'सत्यभामा' के लग्न भी कपिल के साथ कर दिये। इस लग्न-सम्बन्ध से कपिल की प्रतिष्ठा में विशेष वृद्धि हुई। महोपाध्याय का जमाई होना साधारण बात नहीं थी। कपिल के दिन सुखपूर्वक व्यतीत होने लगे।

कालान्तर में रात के समय कपिल नाटक देखने गया। वर्षा का समय था। लौटते समय वर्षा होने लगी। कपिल को अपने मूल्यवान् कपड़े भींगने का भय था। कुछ देर तो वह किसी घर की छाया में खड़ा रहा, किंतु वर्षा नहीं रुकी। उसका घर पहुंचना आवश्यक था। उसने सोचा—'अंधेरी रात में कौन देखता है, फिर क्यों मूल्यवान् वस्त्रों को भिगो कर खराब करूँ?' उसने वस्त्र उतार कर बगल में दबा लिये और नंग-धड़ंग ही भींगता हुआ घर पहुँचा, फिर कपड़े पहिन कर किवाड़ खटखटाये। सत्यभामा उसकी राह देख रही थी। उसने किवाड़ खोल कर शीघ्र ही पति के लिये दूसरे वस्त्र लाई, किन्तु पति के

सूखे वस्त्र देख कर वह अवाक् रह गई। उसने पूछा;—

"इस जोरदार वर्षा में भी आपके वस्त्र सूखे कैसे रह गए ?"

—"प्रिये ! मन्त्र के प्रभाव से मेरे वस्त्र भीग नहीं सके।"

सत्यभामा ने विचार किया—"यदि मन्त्र के प्रभाव से वर्षा से इनके वस्त्र बच गए, तो शरीर क्यों नहीं बचा ? इनका शरीर तो पूरा पानी से तर हो रहा है। इसलिए लगता है कि ये वस्त्र-रहित—नग्न ही आये और कपड़ों को वर्षा से बचा लिया।" यह विचार आते ही उसके मन में सन्देह उत्पन्न हुआ कि इस प्रकार वस्त्र बचाने के लिए नग्न हो कर आने वाला मेरा पति, किसी हीन-कुल का होना चाहिए। ऐसी निर्लज्जता स्वार्थवश कुलहीन ही कर सकता है। इस विचार के साथ ही उसके मन में चिन्ता लग गई। वह अपने को हतभागिनी मान कर मन-ही-मन घुलने लगी और सत्य वात का पता लगाने की इच्छुक वनी।

उधर कपिल का पिता धरणीजट ब्राह्मण निर्धन हो गया। उसने सुना कि कपिल, रत्नपुर के महोपाध्याय सत्यकी का जामाता है और प्राचार्य भी। उसके पास धन की कमी नहीं है। अतएव वह धन प्राप्त करने की इच्छा से कपिल के पास आया। कपिल ने पिता का सत्कार किया। कपिल ने पिता के भोजन के विषय में पत्नी को वताया कि—'मेरे शरीर में व्याधि है, इसलिए मैं साधारण-सा भोजन कर लूंगा, पहले तुम पिताश्री के लिए उत्तम भोजन वना कर उन्हें आदर-सहित भोजन करा दो।"

पिता और पुत्र का पृथक् भोजन देख कर सत्यभामा की शंका दृढ़तर हो गई। उसने समझ लिया कि—मेरा श्वशुर तो उत्तम कुल का ब्राह्मण है, परन्तु पति की उत्पत्ति हीन-स्थान पर हुई है। इसीसे भोजन में भेद हो रहा है। उसने श्वशुर को आदरपूर्वक भोजन कराया। वह पिता के समान श्वशुर की शुश्रूषा करने लगी। अवसर देख कर सत्यभामा ने, ब्रह्महत्या की शपथ देते हुए श्वशुर से पूछा;—

"पूज्य ! आपके पुत्र की उत्पत्ति उभय-पक्ष की शुद्धतापूर्वक हुई है, या किसी एक पक्ष में कोई दोष है ?"

धरणीजट विचार में पड़ गया। शपथपूर्वक पूछने के कारण उसे सत्य वात कहनी ही पड़ी। धरणीजट अपने गांव चला आया। सत्यभामा को अपने पति की उत्पत्ति में हीनता जान कर वड़ा दुःख हुआ। वह महाराजा श्रीसेन के पास गई और निवेदन किया कि—

"महाराज ! भाग्य-योग से मेरा पति कुलहीन है। मुझ अवला को इससे मुक्त

कर दीजिए। मैं जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचारिणी रह कर सुकृत करते हुए जीवन व्यतीत करूँगी।"

नरेश ने कपिल को बुला कर कहा;—

"सत्यभामा अब धर्माचरण कर के पवित्र जीवन बिताना चाहती है। अब यह तुझसे और संसार से विरक्त हो गई है, इसलिए इसे मुक्त कर दे।"

—"राजन्! मैं सत्यभामा के बिना जीवित नहीं रह सकता। यह मुझे अपने प्राणों के समान प्रिय है। मैं इसे कैसे मुक्त कर दूं?"

—"यदि मुझे मुक्त नहीं किया गया, तो मैं आत्मघात कर के मर जाउँगी, किंतु अब तुम्हारे साथ संसार में नहीं रहूँगी"—सत्यभामा ने अपना निर्णय सुनाया।

राजा ने मार्ग निकालते हुए कहा;—

"कपिल! यह बाई कुछ दिन मेरे अंतःपुर में रहेगी और महारानी इसकी देखभाल करेगी। बाद में जैसा उचित होगा, वैसा किया जायगा।"

महाराजा का निर्णय कपिल को मान्य हुआ। वह चला गया। सत्यभामा महारानी के पास रह कर तपमय जीवन बिताने लगी।

इन्दुसेन और बिन्दुसेन का युद्ध

उस समय कौशांबी नगरी में बल राजा की पुत्री राजकुमारी श्रीकान्ता यौवन-वय को प्राप्त हो चुकी थी। उसके योग्य अच्छा वर सरलता से प्राप्त नहीं हो रहा था। इसलिए बल राजा ने अपनी पुत्री को श्रीसेन नरेश के पुत्र इन्दुसेन को स्वयंवर से वरने के लिए बहुत धन और अन्य अनेक प्रकार की ऋद्धि सहित रत्नपुर भेजी। राजकुमारी के साथ 'अनन्त-मति' नाम की एक वेश्या भी आई थी। वह अत्यंत सुन्दरी थी। उसका उत्कृष्ट रूप देख कर राजकुमार इन्दुसेन और बिन्दुसेन—दोनों आसक्त हो गए। दोनों भाई उसे प्राप्त करना चाहते थे। इस बात को ले कर दोनों भाइयों में विवाद खड़ा हो गया। तलवारें खिच गई। जब महाराज श्रीसेन ने यह समाचार सुना, तो तत्काल वहाँ आये और दोनों को समझाने लगे, किन्तु उनका समझाना व्यर्थ गया। महाराज निराश हो अन्तःपुर में आये। उन्हें पुत्रों की दुर्मदता, भ्रातृ-वैर और निर्लज्जता से बड़ा आघात लगा। नरेश अब जीवित रहना नहीं चाहते थे। उन्होंने तालपुट विष से व्याप्त कमल को सूंघ कर प्राण त्याग कर दिया। उनका अनुसरण दोनों रानियों ने किया। जब यह बात सत्यभामा ने

सुनी, तो उसने सोचा कि—"अब कपिल मुझे छोड़ने वाला नहीं है।" अतएव वह भी उस विषैले कमल को सूंघ कर मृत्यु को प्राप्त हो गई। ये चारों जीव मृत्यु पा कर जम्बूद्वीप के उत्तरकुरु क्षेत्र में युगल मनुष्य के रूप में उत्पन्न हुए। श्रीसेन और अभिनन्दिता तथा शिखिनन्दिता और सत्यभामा, इस प्रकार दो युगल सुखपूर्वक जीवन बिताने लगे।

इधर देवरमण उद्यान में इन्दुसेन और बिन्दुसेन का युद्ध चल रहा था। इतने में एक विद्याधर, विमान द्वारा वहां आ पहुँचा। उसने दोनों भाइयों को लड़ते देखा। वह दोनों के बीच में खड़ा रह कर बोला;—

'मूर्खो ! तुम आपस में क्यों लड़ते हो ? तुम्हें मालूम नहीं कि यह सुन्दरी कौन है ? मैं जानता हूँ—यह तुम्हारी बहिन है। तुम दोनों अपनी बहिन को पत्नी के रूप में प्राप्त करने के लिए लड़ो, यह कितनी लज्जा की बात है ? इस भेद को तुम, मुझ से शांतिपूर्वक सुनो।"

विद्याधर ने कहा—"इस जम्बूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र में, सीता नदी के उत्तर तट पर पुष्कलावती नामका विस्तृत विजय है। उसके मध्य में विद्याधरों के आवास वाला ऊँचा वैताढ्य नाम का पर्वत है। उस पर्वत की उत्तर की श्रेणी में 'आदित्याभ' नाम का नगर था और 'सुकुण्डली' नाम का राजा राज करता था। उसके अजितसेना नामकी रानी थी। मैं उसका पुत्र हूँ। मेरा नाम 'मणिकुण्डली' है। मैं एक बार आकाश में उड़ता हुआ, जिनेश्वर को वन्दने के लिए पुंडरिकिनी नगरी में गया। वहां अमितयश नाम के केवलज्ञानी भगवंत को वन्दना कर के मैंने धर्मोपदेश सुना। देशना पूर्ण होने के बाद मैंने प्रभु से पूछा—

"भगवन् ! मैं किस कर्म के उदय से विद्याधर हुआ ?"

प्रभु ने फरमाया—"पुष्कर-वर द्वीप के पश्चिम द्वीपार्ध में, शीतोदा नदी के दक्षिण किनारे, सलिलावती विजय में 'वितशोका' नाम की नगरी थी। उसमें रत्नध्वज नाम का महाबली और रूप-सम्पन्न राजा राज करता था। उसके 'कनकश्री' और 'हेममालिनी' नाम की दो रानियाँ थीं। कनकश्री के दो पुत्रियाँ हुई। उनका नाम 'कनकलता' और 'पद्मलता' रखा। दूसरी रानी हेममालिनी के एक कन्या हुई, जिसका नाम 'पद्मा' रखा गया। ये तीनों कन्याएँ अनेक प्रकार की कलाओं का अभ्यास करती हुई यौवनवय को प्राप्त हुई। वे तीनों युवतियें अनुपम सुन्दर थी। इनमें से राजकुमारी पद्मा, महासती श्री अजितसेना के पास वैराग्य प्राप्त कर प्रव्रजित हो गई। वह तप का आचरण करती हुई विचरती थी। एक दिन वह स्थंडिल भूमि जा रही थी, तब उसने देखा कि मदनमंजरी नाम की एक वेश्या पर लुब्ध हो कर दो कामान्ध राजकुमार युद्ध कर रहे हैं। उन्हें

देखने पर उसके मन में विचार हुआ कि—"अहा ! यह वेश्या कितनी सौभाग्यवाली है कि इसके रूप पर मुग्ध हो कर ये दोनों राजकुमार युद्ध कर रहे हैं। यदि मेरे तप-संयम का फल हो, तो मैं भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त करूँ।" इस प्रकार निदान कर के, उसकी शुद्धि किये बिना ही मर कर सौधर्म कल्प में विपुल समृद्धि वाली देवी हुई।

रानी कनकसुन्दरी का जीव, भव-भ्रमण करता हुआ, दानादि शुभ योग के फल-स्वरूप तुम मणिकुण्डली नाम के राजा हुए हो। कनकलता और पद्मलता भी भव-भ्रमण करती हुई रत्नपुर नरेश के इन्दुसेन और बिन्दुसेन नाम के राजकुमार हुए और निदान करने वाली साध्वी पद्मा, प्रथम स्वर्ग से च्यव कर कौशाम्बी की अनंतमतिका वेश्या हुई। उस वेश्या के लिए इस समय रत्नपुर के देवरमण उद्यान में इन्दुसेन और बिन्दुसेन आपस में युद्ध कर रहे हैं।"

इस प्रकार भगवंत के मुँह से पूर्वभव का वृत्तांत सुन कर, पूर्व-स्नेह के कारण तुम्हें युद्ध से विमुख करने के लिए मैं यहाँ आया हूँ। मैं तुम्हारे पूर्वभव की माता हूँ और यह अनंतमतिका तुम्हारी पूर्वभव की बहिन है। इस संसार में मोह का ऐसा खेल है। जन्मान्तर के पर्दे में छुपे हुए प्राणी, अपने पूर्वभव के माता, पिता, भाई, भगिनी आदि को नहीं पहि-चान सकता और मोह के अन्धकार में ही भटकता रहता है। अब तुम इस अन्धकार से निकलो और निर्वाण की ओर ले जाने वाली दीक्षा ग्रहण करो।"

राजकुमार उपरोक्त कथन सुन कर स्तंभित रह गए। उनके मोह का क्षयोपशम हुआ। इधर माता-पितादि की मृत्यु के आघात ने भी संसार के प्रति घृणा जाग्रत कर दी। वे चार हजार राजाओं के साथ धर्मरुचि अनगार के पास दीक्षित हो गए। चारित्र और तप का उत्कृष्ट पालन कर के वे मोक्ष प्राप्त हुए और श्रीसेन आदि चारों युगलिक, मनुष्य भव पूर्ण कर के प्रथम स्वर्ग में देव हुए।

वैताढ्य पर्वत पर 'रथनूपुर चक्रवाल' नाम का नगर था। ज्वलनजटी वहाँ का राजा था। 'अर्ककीर्ति' नाम का युवराज, वीर एवं योद्धा था। 'स्वयंप्रभा' उसकी छोटी बहिन थी। वह अनुपम सुन्दरी थी। उसका लग्न त्रिपृष्ट वासुदेव के साथ हुआ था। वासु-देव ने इस उपलक्ष में ज्वलनजटी को विद्याधरों की दोनों श्रेणियों का राज्य दे कर अधि-पति बना दिया था। विद्याधर नरेश मेघवन की ज्योतिर्माला नाम की पुत्री, युवराज अर्ककीर्ति को ब्याही गई थी। श्रीसेन राजा का जीव प्रथम स्वर्ग से च्यव कर ज्योतिर्माला की कुक्षि में आया और पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उसका अप्रतिम तेज देख कर उसका नाम 'अमित तेज' रखा। अर्ककीर्ति को राज्यभार दे कर महाराज ज्वलनजटी ने चारण-

मुनि के पास मुनि-दीक्षा ग्रहण कर ली। 'सत्यभामा' (जो कपिल शर्मा की पत्नी थी और पति की कुलहीनता के आघात से रानियों के पास रहती थी तथा उन्हीं के साथ मर कर युगलिनी हुई थी) का जीव प्रथम स्वर्ग से च्यव कर, ज्योतिर्माला की कुक्षि से पुत्रीपने उत्पन्न हुई। उसका नाम 'सुतारा' रखा। महारानी अभिनन्दिता का जीव भी सौधर्म स्वर्ग से च्यव कर त्रिपृष्ट वासुदेव की स्वयंप्रभा रानी के गर्भ से पुत्रपने जन्मा। 'श्रीविजय' उसका नाम दिया गया। इसका परिणय सुतारा के साथ हुआ। श्रीविजय के छोटे भाई का नाम 'विजयभद्र' था। शिखिनन्दिता रानी का जीव भी वासुदेव की स्वयंप्रभा महारानी की कुक्षि से 'ज्योतिप्रभा' नाम की पुत्रीपने उत्पन्न हुआ। इसका विवाह अर्ककीर्ति के पुत्र अमिततेज से हुआ।

सत्यभामा ब्राह्मणी का जो 'कपिल' नाम का पति था, वह तिर्यञ्चादि गति में चिरकाल परिभ्रमण करता हुआ मनुष्य-जन्म पा कर चमरचंचा नगरी का 'अशनिघोष' नाम का विद्याधरों का राजा हुआ।

एक वार रथनूपुर चक्रवाल नगर के उद्यान में श्री अभिनन्दन, जगनन्दन और ज्वलनजटी मुनिवर पधारे। महाराज अर्ककीर्ति ने अपने पिता मुनि और उनके गुरु की वन्दना की, धर्मोपदेश सुना और वैराग्य उत्पन्न होने पर अपने पुत्र अमिततेज को राज्याधिकार दे कर दीक्षित हो गया।

भविष्य वाणी

त्रिपृष्ट वासुदेव के मरने पर युवराज श्रीविजय राज्यासीन हुआ। कालान्तर में महाराजा अमिततेज, पत्नी ज्योतिप्रभा के साथ अपनी बहिन सुतारा और वहनोई श्रीविजय से मिलने के लिए पोतनपुर आये। उन्होंने देखा कि पोतनपुर नगर भीतर और बाहर से पूर्णरूप से सजाया गया है। नरेश अपनी बहिन और वहनोई से मिल कर बहुत प्रसन्न हुए। श्रीविजय ने अमिततेज का बहुत सत्कार किया। दोनों सिंहासन पर बैठे। अमिततेज ने श्रीविजय से पूछा;—

"अभी कौन-सा उत्सव हो रहा है, जिसके लिए यह तय्यारी हुई है ?"

—"आठ दिन पूर्व यहाँ एक भविष्यवेत्ता आया था। उसने कहा था कि—"मैं आपके हित के लिए यह सूचना देने के लिए आया हूँ कि आज के सातवें दिन राजा पर

बिजली गिरेगी।"

भविष्यवेत्ता की बात सुन कर, क्रोधायमान बने हुए मेरे मुख्यमन्त्री ने उससे कहा;—

"महाराज पर बिजली पड़ेगी, तब तुझ पर क्या पड़ेगी ?"

—"मन्त्रीवर ! आप मुझ पर क्रोध क्यों करते हैं। मैंने तो वही कहा जो भविष्य बतलाता है। महाराज को सावधान करने और धर्माचरण कर के सुकृत करने के लिए ही मैंने कहा है। किसी प्रकार की स्वार्थ-बुद्धि से नहीं कहा। फिर भी मैं कहता हूँ कि उस समय मुझ पर वसुधारा के समान स्वर्ण, माणिक्य, आभूषण और वस्त्रों की वृष्टि होगी"— भविष्यवेत्ता ने कहा।

मैंने मुख्यमन्त्री को समझाया कि भविष्यवेत्ता पर क्रोध नहीं करना चाहिए। ये तो यथार्थ कह कर सावधान करने वाले हैं। मैंने उस भविष्यवेत्ता से पूछा;—

"तुमने भवितव्यता जानने की विद्या किस के पास से पढ़ी ?"

—"महाराज ! वासुदेव के देहावसान के बाद बलदेव प्रव्रजित हुए। उनके साथ मेरे पिता भी दीक्षित हो गए थे और पितृस्नेह के कारण मैं भी उनके साथ लघुवय में ही दीक्षित हो गया था। मैंने उसी साधु अवस्था में ज्ञानी गुरुवर के पास से यह विद्या सीखी थी। यद्यपि निमित्त-ज्ञान, अन्य परम्परा में भी है, तथापि पूर्णरूप से सत्य होने की विद्या तो एकमात्र जिनशासन में ही है। मैं लाभ-हानि, सुख-दुःख, जीवन-मरण और जय-पराजय, यों आठ प्रकार का भविष्य जानता हूँ। संयम का पालन करते हुए मैं यौवनवय में आया। हम सब विहार करते हुए 'पद्मिनी खंड' नामक नगर में गये। वहाँ मेरी फूफी रहती थी। उसके चन्द्रयशा नाम की यौवन-प्राप्त पुत्री थी। बालवय में मेरे साथ उसका वाग्दान हो चुका था। किन्तु मेरे दीक्षा लेने के कारण विवाह नहीं हो सका। उस सुन्दरी को देखते ही मैं मोहित हो गया। मोह के जोर से संयम भावना नष्ट हो गई। अन्त में मैंने उस युवती के साथ लग्न कर लिए। मुझे संयमी अवस्था में गुरुदेव से प्राप्त भविष्य ज्ञान से आपका भविष्य जान कर सावधान करने के लिए ही आया हूँ, स्वार्थ साधने के लिए नहीं।"

भविष्यवेत्ता की बात सुन कर सभी चिन्तित हो गए। एक मन्त्री ने कहा—

"समुद्र में बिजली नहीं गिरती, इसलिए महाराज सात दिन पर्यन्त जलयान में बैठ कर समुद्र में रहें।"

दूसरे मन्त्री ने कहा—"यह उपाय निरापद नहीं, वहाँ भी बिजली गिर सकती है। मेरे विचार से वैताढ्य पर्वत पर रहने से रक्षा हो सकती है। क्योंकि इस अवसर्पिणी काल

में वहाँ विद्युत्पात नहीं होता। इसलिए महाराज, उस गिरि की किसी गुफा में सात दिन रहें, तो रक्षा हो सकती है।"

तीसरे मन्त्री को यह उपाय पसन्द नहीं आया। उसने कहा—"जो भवितव्यता—होनहार है—निश्चित है, वह तो होगा ही। वह रुक नहीं सकता, न उसमें परिवर्त्तन ही हो सकता है। इस बात को समझाने के लिए मैं एक कहानी सुनाता हूँ। आप ध्यानपूर्वक सुने।"

मन्त्रीजी कथा कहने लगे—"एक नगर में एक ब्राह्मण रहता था। उसके वर्षों तक कोई संतान नहीं हुई। उसने अनेक देवी-देवता मनाए और कई यन्त्र-मन्त्र-औषधादि का प्रयोग किया। बाद में ढलती उम्र में उसके यहाँ पुत्र का जन्म हुआ। दुर्दैव के योग से एक नरभक्षी राक्षस उस नगर में उपद्रव करने लगा। वह प्रतिदिन बहुत से मनुष्यों का हरण कर जाता और उन्हें मार डालता। फिर प्रत्येक मनुष्य में से थोड़ा-थोड़ा मांस खा कर बाकी सब को फेंक देता। राक्षस की इस प्रकार की क्रूरता से सर्वत्र हाहाकार मच गया। राजा के भी सभी प्रयत्न व्यर्थ गए। अंत में राजा ने राक्षस को समझाया कि 'तू रोज इतने मनुष्यों को क्यों मारता है, तेरे खाने के लिए तो एक मनुष्य पर्याप्त है और वह तेरे स्थान पर चला आया करेगा। तुझे यहाँ आने का कष्ट नहीं करना चाहिए।' राक्षस मान गया। नगर निवासियों के सब के नाम की चिट्ठियाँ बना कर एकत्रित की गई। उन सब चिट्ठियों में से जिसके नाम की चिट्ठी निकलती, उन्हें राज्य के सैनिक पकड़ कर राक्षस के स्थान पर ले जाते और राक्षस उसे मार कर खा जाता। कालान्तर में उस ब्राह्मण के पुत्र के नाम की चिट्ठी निकली और सैनिक उसे लेने को आये, तो उसकी माता को बड़ा भारी आघात लगा। वह पछाड़ खा कर रोने लगी। उसके करुण क्रन्दन से आस-पास के लोग भी द्रवित हो गए। उस ब्राह्मण के घर के निकट एक भूतघर था, जिसमें बहुत से भूत रहते थे। जब भूतों ने ब्राह्मणी का रुदन सुना, तो उनके मन में भी करुणा भर आई। एक बड़े भूत ने ब्राह्मणी से कहा—

"तू रो मत और तेरे पुत्र को राक्षस के पास ले जाने दे। मैं उसके पास से छिन कर तेरे पुत्र को ला कर तुझे दे दूंगा। इससे राजाज्ञा का उल्लंघन भी नहीं होगा और तेरा पुत्र भी बच जायगा।"

ब्राह्मणी को संतोष हो गया। सैनिक ब्राह्मण-पुत्र को राक्षस के पास छोड़ कर लौट आए। जब राक्षस, उस लड़के को मारने आया, तो भूत ने उसका साहरन कर के

उसकी माता के पास पहुँचा दिया। ब्राह्मणी ने पुत्र की रक्षा के लिए उसे ले कर एक पर्वत की गुफा में छिप गई। उस गुफा में एक अजगर रहता था। वह उस लड़के को निगल गया। वह लड़का राक्षस से बचा, तो अजगर ने खा लिया। इस प्रकार हे महाराज ! जो भवितव्यता होती है, वह तो हो कर ही रहती है। इसलिए मेरा तो यही निवेदन है कि आप तपस्या करें। तपस्या से कठिन कर्म भी क्षय हो जाते हैं।"

चौथे मन्त्री को यह उपाय भी ठीक नहीं लगा। उसने कहा—

'इस भविष्यवेत्ता ने तो यही कहा है कि—'पोतनपुर के राजा पर बिजली गिरेगी।' इसने यह तो नहीं कहा कि—'महाराज श्रीविजय पर बिजली गिरेगी।' यदि राजा पर ही बिजली गिरने वाली है, तो एक सप्ताह के लिए किसी दूसरे व्यक्ति को राजा बना दिया जाय और तब तक महाराज पौषधयुक्त रह कर धर्म साधना करें। इस प्रकार महाराज पर का भय दूर हो सकता है।"

मन्त्री की उपरोक्त बात सुन कर भविष्यवेत्ता प्रसन्न हुआ। उसने मन्त्री की बुद्धिमत्ता की प्रशंसा की और कहा कि—"मेरे भविष्य ज्ञान से भी आपका मतिज्ञान बहुत ऊँचा है। इस दुरित के परिहार के लिए यह उपाय बहुत उत्तम है। यही होना चाहिए और शीघ्र होना चाहिए।"

—"अपने जीवन के लिए किसी निरपराध मनुष्य की हत्या करवाना उचित है क्या? मैं दूसरे का जीवन नष्ट कर के जीवित रहना नहीं चाहता"—मैने (राजा ने) भविष्यवेत्ता और मन्त्री से कहा।

—"महाराज ! इसका भी उपाय है। अपन किसी जीवित प्राणी को राजा नहीं बना कर 'वैश्रमण देव की मूर्ति' का ही राज्याभिषेक कर दें। सप्ताह पर्यन्त उसका राज्य रहे। यदि विद्युत्पात हुआ और मूर्ति भंग हो गई, तो अपन विशेष मूल्यवान् मूर्ति बनवा कर प्रतिष्ठित कर देंगे। अपना काम भी बन जायगा और किसी मनुष्य का जीवन भी नष्ट नहीं होगा"—उसी बुद्धिमान मन्त्री ने कहा।

मन्त्री की योजना सभी ने स्वीकार कर ली। वैश्रमण देव की मूर्ति, राजसिंहासन पर स्थापित की गई। मैं धर्म-स्थान पर जा कर पौषध व्रत ले कर धर्म साधना करने लगा। जब सातवाँ दिन आया, तो मध्यान्ह के समय आकाश में बादल छा गए। घनघोर वर्षा होने लगी और घोर गर्जना के साथ इतने जोर से बिजली कड़की कि जैसे आकाश को फोड़ रही हो। और एक ऐसी अग्निशिखा उतरी—जिसका प्रकाश, अग्नि और सूर्य के तेज से

भी सैकड़ों गुना अधिक था। वह अग्निशिखा—विद्युत्-लहर सीधी राजसिंहासन पर उतरी और वैश्रमण की मूर्ति के कई टुकड़े हो गए। उपद्रव दूर हुआ जान कर मन्त्रियों, राजकुटुम्बियों और अन्तःपुर ने भविष्यवेत्ता पर स्वर्ण, रत्न आदि की वृष्टि की। मैंने भी उसे पद्मिनीखंड नगर प्रदान किया और वैश्रमण की रत्नमय नई प्रतिमा बना कर प्रतिष्ठित कर दी। भंयकर विघ्न टल जाने से मन्त्री, अधिकारीगण एवं प्रजाजन यह महोत्सव मना रहे हैं।"

श्रीविजय नरेश से उपरोक्त वृत्तान्त सुन कर अमिततेज हर्षित हुआ। उसने अपनी बहिन को वस्त्रालंकार का प्रीतिदान दे कर संतुष्ट किया और कुछ दिन रह कर अपनी राजधानी में लौट आया।

सुतारा का हरण

एक बार श्रीविजय नरेश, रानी सुतारा के साथ वनविहार के लिए ज्योतिर्वन में गए। वे वहाँ क्रीड़ा कर ही रहे थे कि कपिल का जीव अशनिघोष विद्याधर आकाश मार्ग से कहीं जा रहा था। उसकी दृष्टि सुतारा पर पड़ी। पूर्व का स्नेहानुबन्ध जाग्रत हुआ। यद्यपि अशनिघोष, यह नहीं जानता था कि यह सुन्दरी मेरी पूर्वभव की पत्नी है, तथापि अदृश्य मोह-प्रेरणा से वह सुतारा पर पूर्ण रूप से आसक्त हो गया और उसका हरण करने का निश्चय किया। विद्याएँ उसकी सहायक हो गई। उसने एक सुन्दर मृग की विकुर्वणा की। वह मृग नाचता-कूदता और चौकड़ी भरता हुआ क्रीड़ारत राजा और रानी के निकट हो कर निकला। मृग को देख कर रानी मोहित हो गई और राजा से उस मृग को पकड़ लाने के लिए आग्रह किया। राजा, मृग के पीछे भागा, बहुत भागा, किन्तु वह तो छल मात्र था। वह भुलावा दे कर भागता रहा। इधर वह विद्याधर सुतारा को उठा कर ले उड़ा। उस दुरात्मा ने राजा का जीवन नष्ट करने के लिए प्रतारिणी विद्या का सहारा लिया और सुतारा का दूसरा रूप बना कर उससे जोर की चिल्लाहट करवाते हुए कहलाया—"मुझे कुक्कुट सर्प डस गया। हाय मैं मरी।" यह आवाज सुनते ही राजा घबड़ाया और शीघ्रता से दौड़ कर वहाँ आया। उन्होंने देखा उनकी प्राणप्रिय रानी छटपटा रही है। राजा ने वहाँ जितना भी हो सका उपचार किया, किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ और रानी मर गई। रानी का वियोग राजा सह नहीं सका और संज्ञा-शून्य हो गया। थोड़ी देर बाद

राजा उठा। उसने लकड़ियाँ एकत्रित कर के चिता रची और अपनी प्रिया का शव गोदी में ले कर चिता में बैठ गया, तथा अग्नि प्रज्वलित करने का प्रयत्न करने लगा। इतने में दो विद्याधर वहाँ आये। उनमें से एक ने अभिमन्त्रित जल चिता पर छिड़का। जल छिटकना था कि मृत सुतारा के रूप में रही हुई प्रतारिणी विद्या अट्टहास करती हुई पलायन कर गई। राजा दिग्मूढ़ हो गया। वह सोचने लगा—"वह प्रज्वलित अग्नि कैसे बूझ गयी? मेरी प्रिया कहाँ? अट्टहास करती हुई चली जाने वाली वह स्त्री कौन थी? क्या यह कोई इन्द्रजाल या देवमाया तो नहीं है?" उसने अपने सामने दो पुरुषों को देखा। राजा ने उन्हें पूछा—"तुम कौन हो? यह सारा भ्रम-जाल किसने रचा?"

आगत पुरुषों ने राजा को प्रणाम किया और कहने लगे;—"हम महाराज अमिततेज (श्री विजय नरेश के साले) के सेवक हैं। हम पिता-पुत्र हैं। हम इधर आ रहे थे कि हमारे कानों में एक महिला की चित्कार और करुण पुकार पड़ी। वह इस प्रकार चिल्ला रही थी—

"हे प्राणनाथ! हे महाराजा श्री विजय! यह दुष्ट विद्याधर मुझे आप से चुराकर ले जा रहा है। मेरी रक्षा करो, रक्षा करो। हे बन्धुवर अमिततेज! बहिन सुतारा को यह चोर ले जा रहा है। मुझे बचाओ, छुड़ाओ।"

इस प्रकार आक्रन्द पूर्ण पुकार सुनते ही हम दोनों उस दुष्ट पर झपटे और उससे युद्ध करने को तत्पर हुए। किंतु हमें युद्ध से रोकते हुए सुतारा ने कहा—

"भाई! अभी तुम लड़ना रहने दो और शीघ्र ही ज्योतिर्वन में जा कर मेरे प्राणेश्वर महाराज श्रीविजय को संभालो। कहीं मेरे वियोग में वे कुछ अनर्थ नहीं कर बैठें। उनके जीवन से ही मेरा जीवन रहेगा। वे जीवित रहेंगे, तो मुझे मुक्त करा ही लेंगे।"

"देवी की बात हमारी समझ में आई और हम शीघ्र ही यहाँ आये और मन्त्रित जल छिड़का, जिससे अग्नि बुझी और सुतारा के रूप में रही हुई प्रतारिणी विद्या का प्रभाव हटा और वह अट्टहास करती हुई भाग गई। वह एक छल ही था और आपके विनाश के लिए ही उस चोर विद्याधर ने रचा था। देवी सुतारा को तो वह ले गया है। अब आप हमारे साथ वैताढ्य पर चलिए। वहाँ महाराजा अमिततेज से मिल कर देवी को मुक्त कराने का प्रयत्न करेंगे।"

महाराज श्रीविजय, उन विद्याधरों के साथ वैताढ्य पर्वत पर गए। महाराज

अमिततेज, अपनी बहिन सुतारा के साहरण की बात सुन कर क्रोधित हुए। उन्होंने योद्धाओं की एक बड़ी सेना, अपने वीर पुत्रों सहित श्रीविजय को दी और श्रीविजय को शस्त्रावरणी, बन्धनी और विमोचनी विद्याएँ दीं। सेना चमरचंचा की ओर बढ़ी। अमिततेज जानता था कि अशनिघोष के पास कई प्रकार की विद्याएं हैं। इसलिए उसकी समस्त विद्याओं पर विजय पाने के लिए 'महाज्वाला' नाम की विद्या साधना आवश्यक है। वह अपने पराक्रमी पुत्र सहस्ररश्मि के साथ हिमवंत पर्वत पर गया। वहाँ महर्षि जयंत कायोत्सर्ग कर ध्यानस्थ रहे थे। महर्षि को वन्दना कर के वह मास पर्यन्त चलने वाली साधना में लग गया और सहस्ररश्मि उसकी रक्षा करने लगा।

श्रीविजय, उस विशाल सेना के साथ अमिततेज की राजधानी चमरचंचा पहुँचा। उसने अपना दूत भेज कर अशनिघोष को भर्त्सनापूर्वक सुतारा को अर्पण करने की माँग की। अशनिघोष कब मानने वाला था? उसने दूत को तिरस्कार पूर्वक निकाल दिया और युद्ध के लिए सेना सहित अपने पुत्रों को भेजा। युद्ध आरंभ हो गया। घमासान युद्ध में हजारों मनुष्य मारे गये। जब अशनिघोष के पुत्र और सेना हार गई, तो स्वयं अशनिघोष रणभूमि में आया। उसने अपने पराक्रम से अमिततेज के पुत्रों का बल क्षिण कर दिया। वे घायल और सुस्त हो गए। यह दशा देख कर श्रीविजय नरेश आगे आये और अशनिघोष से युद्ध करने लगे। दोनों वीरों का युद्ध अनेक प्रकार के घात-प्रत्याघात से चलता रहा। दोनों योद्धा अपनी-अपनी शस्त्र-शक्ति और विद्या-शक्ति का प्रयोग करने लगे। अन्त में श्रीविजय ने अशनिघोष के शरीर के दो टुकड़े कर दिये, तो विद्या-शक्ति से दोनों टुकड़ों के दो अशनिघोष बन कर लड़ने लगे। उन दो के चार टुकड़े हुए, तो चारों वैसे ही बन कर लड़ने लगे। होते-होते शत्रु की संख्या हजारों तक पहुँच गई। श्रीविजय के लिए अब युद्ध करना असंभव हो गया। इतने में अमिततेज विद्या सिद्ध कर के आ पहुँचा। उसने महाज्वाला विद्या छोड़ी। इस विद्या का तेज सहन नहीं कर सकने के कारण शत्रु-सेना शस्त्र डाल कर अमिततेज की शरण में आ गई और अशनिघोष भाग गया। अमिततेज ने महाज्वाला विद्या को अशनिघोष के पीछे, उसे पकड़ लाने के लिए लगा दिया।

आगे-आगे अशनिघोष और पीछे महाज्वाला नाम की विद्या—जो अन्य सभी विद्याओं का पराभव कर के विजयी होती है। अशनिघोष को कहीं भी शरण नहीं मिली। अन्त में वह दक्षिण-भरत में पहुँचा। सीमान्त के निकट ही एक पर्वत पर महर्षि अचल मुनि, एक रात्रि की भिक्षु-प्रतिमा धारण कर शुक्ल-ध्यान में लीन थे। उन्होंने घातिकर्मों को

नष्ट कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया। देवगण उनके केवलज्ञान की महिमा करने के लिए वहाँ आये। अभिनन्दन, जगनन्दन, ज्वलनजटी, विजटी, अर्ककीर्ति, पुष्पकेतु और विमलमति आदि चारण मुनि भी केवलज्ञानी भगवान् की वन्दना करने के लिये आये और प्रदक्षिणा एवं नमस्कार कर के बैठे। उसी समय अशनिघोष भी भयभीत दशा में भागता हुआ वहाँ आया और केवली भगवान् की शरण में बैठ गया। महाज्वाला से बचने के लिए अशनिघोष को केवली भगवान् का शरण, शीतल अमृतमय जल से भरे हुए द्रह के समान रक्षक हुआ। जहाँ द्रव्य और भाव सभी प्रकार की ज्वालाएँ शांत होती है। केवली भगवान् की सभा में इन्द्र के वज्र की भी गति नहीं हो सकती, तो मानवी विद्याएँ क्या कर सकती थी ? वह लौट गई और अमिततेज को अपनी असफलता का कारण बताया। अमिततेज और श्रीविजय यह वृत्तांत सुन कर अत्यंत प्रसन्न हुए। उन्होंने मरीचि को आज्ञा दी कि वह नगर में से सुतारा को ले आवे। दोनों नरेश शीघ्र ही विमान द्वारा केवली भगवान् की सेवामें पहुँचे और वन्दना-नमस्कार कर बैठ गए।

मरीचि अन्तःपुर में पहुँचा। उसने देखा—सुतारा अत्यंत दुःखी, मुरझाई हुई लता जैसी और तप से कृश बनी हुई है। उसने अशनिघोष की माता से अमिततेज की आज्ञा सुना कर सुतारा को ले जाने की बात कही, तो वह स्वयं सुतारा को साथ ले कर केवलज्ञानी भगवंत के समीप आई। वहाँ उसके पति मुनिजी भी उपस्थित थे।

अशनिघोष ने महाराजा श्रीविजय और अमिततेज से अपने अपराध की क्षमा माँगी। उन्होंने भी उसे क्षमा कर दिया। वीतरागी भगवान् की सभा में वे अपना वैर-विरोध भूल कर प्रशस्त परिणाम वाले हो गए। भगवान् ने धर्मोपदेश दिया। धर्मोपदेश पूर्ण होने पर अशनिघोष ने सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् से पूछा,—

"प्रभो ! ऐसा कौन-सा कारण था कि जिससे मैने अचानक सुतारा का हरण कर लिया ? मैं तो श्री जयंत मुनि के दर्शनार्थ गया था और वहाँ सात उपवास कर के भ्रामरी विद्या की साधना की थी। वहाँ से लौटते समय ज्योतिर्वन में सुतारा को देखते ही मेरे मन में एकदम स्नेह उमड़ आया। मैंने स्नेहाधीन हो कर प्रतारिणी विद्या से श्रीविजय को छला और सुतारा को अपने घर ले आया। मेरे मन में कोई दुष्ट भावना नहीं थी। मैंने सुतारा को अपनी माता के पास रखा और उसे एक भी कुवचन नहीं कहा। सुतारा निष्कलंक है, किन्तु मैने बिना दुष्ट-भावना के स्नेहवश हो कर सुतारा का हरण क्यों किया ? मेरे मन में बिना पूर्व परिचय के, देखने-मात्र से ही ऐसा प्रबल स्नेह क्यों

जाग्रत हुआ ?"

केवली भगवान् ने उसके कपिल के भव और सुतारा के, सत्यभामा के भव तथा श्रीसेन, उसकी दोनों रानियाँ—अभिनन्दिता और शिखिनन्दिता के पूर्वभव की कथा सुनाई* और कहा कि "सुतारा ही सत्यभामा का जीव है और तुम कपिल के जीव हो। तुम आर्त्तध्यानपूर्वक मृत्यु पा कर अनेक योनियों में परिभ्रमण करते रहे, फिर तुम धर्मिल नाम के तापस-पुत्र हुए। बड़े होने पर अपने तापस-पिता से ही तापसी दीक्षा ले कर बाल-तप करने लगे। कई प्रकार से अज्ञान कष्ट सहन किये। कूएँ, बावड़ी और सरोवर बनाए। तापसों के समिधा के लिए कुल्हाड़े से वृक्ष काटे, घास आदि काट कर स्थान साफ किये। धुनी, यज्ञ और मार्ग में दीप-दान कर के अनेक पतंगादि जीवों का संहार किया। भोजन के समय कौए आदि दुष्ट तिर्यंचों को पिण्ड-दान किया। बड़-पीपल आदि वृक्षों को देव के समान पूजा, गाय की पूजा की, इत्यादि अनेक प्रकार से, धर्म-बुद्धि से बहुत काल तक कार्य करते रहे। एक बार एक विद्याधर को विमान में बैठ कर आकाश मार्ग से जाते देख कर तुमने संकल्प किया कि 'यदि मेरी साधना का फल हो, तो मैं भी ऐसा विद्याधर बनूं।' तापस का भव पूर्ण कर के तुम विद्याधर हुए और सुतारा को देखते ही पूर्व-स्नेह के गाढ़रूप से उदय होने के कारण तुमने उसका हरण कर लिया।"

केवली भगवान् की देशना से जन्म-मरण सम्बन्धि विडम्बना और मोह का महा भयानक परिणाम जान कर श्रीविजय, अमिततेज, सुतारा और अशनिघोष परम संवेग को प्राप्त हुए। अमिततेज ने सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् से पूछा—

"जगदुद्धारक ! मैं भव्य हूँ या अभव्य ?" भगवान् ने कहा—

"इस भव से नौवें भव में तू पाँचवाँ षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती सम्राट होगा और चक्रवर्ती की ऋद्धि का त्याग कर के 'शांतिनाथ' नाम का सोलहवाँ तीर्थंकर हो कर मोक्ष प्राप्त करेगा। ये श्रीविजय नरेश, तुम्हारे प्रथम पुत्र और प्रथम गणधर होंगे।"

अपना उज्ज्वल भविष्य जान कर दोनों नरेश प्रसन्न हुए और भगवान् से श्रावक के बारह व्रत धारण किये। अशनिघोष तो संसार से एकदम उद्विग्न हो गया था। उसने उसी समय सर्वस्व का त्याग कर निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार की। श्रीविजय की माता 'स्वयंप्रभा' (जो त्रिपृष्ट वासुदेव की पटरानी थी) भी प्रव्रजित हो गई।

श्रीविजय और अमिततेज, श्रावक-व्रत की आराधना करने लगे। एक बार मास-खमण तप वाले एक तपस्वी श्रमण चमरचंचा नगरी में आये। अमिततेज नरेश ने उन्हें

---

* देखो पृष्ठ ३०१।

अत्यंत भक्तिपूर्वक प्रतिलाभे। चित्त, वित्त और पात्र की उत्कृष्टता से वहाँ पंच-दिव्य प्रकट हुए।

वासुदेव अनन्तवीर्यजी

दोनों नरेश, श्रावक व्रत का हजारों वर्षों तक पालन करते रहे। एक बार दोनों नरेश, अवधिज्ञानी मुनिवर की पर्युपासना कर रहे थे। धर्मोपदेश के पश्चात् अपनी शेष आयु के विषय में प्रश्न किया। मुनिवर ने छब्बीस दिन की उनकी शेष आयु बतलाई। दोनों नरेश अपनी स्वल्प आयु जान कर चौंक गए। तत्काल राजधानी में आ कर उन्होंने अपने पुत्रों को राज्याधिकार दिया और प्रव्रजित हो कर पादपोपगमन अनशन कर लिया। अनशन के चलते श्रीविजय मुनिजी के मन में अपने पिता का स्मरण हुआ। सोचते हुए उनकी विचारधारा अमर्यादित हो गई। उन्हें विचार हुआ—मेरे पिता तो तीन खण्ड के अधिपति थे। उन्हें 'वासुदेव' पद प्राप्त था। वे तीनों खण्ड में एक-छत्र राज करते रहे। हजारों राजा उनकी आज्ञा के पालक थे। किन्तु मैं तो मनुष्य-भव पा कर वैसा कोई उत्तम पद प्राप्त नहीं कर सका और एक साधारण राजा ही रहा। अब यदि मेरी साधना का उत्तम फल हो, तो मैं भी वैसी ही उत्तम कोटि का नरेश बनूं—इस प्रकार निदान कर लिया। मुनिवर अमिततेज ने अपनी भावना नहीं बिगड़ने दी। दोनों मुनिवर आयु पूर्ण कर के प्राणत नाम के दसवें स्वर्ग के 'सुस्थितावर्त' और 'नन्दितावर्त' नाम के विमान के स्वामी 'मणिचूल' और 'दिव्यचूल' नाम के देव हुए। उनकी आयु बीस सागरोपम प्रमाण थी।

जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह की रमणीय विजय में 'शुभा' नाम की एक नगरी थी। उसके राजा का नाम 'स्तिमितसागर' था। उसके 'वसुन्धरा' और अनुद्धरा' (अनंगसेना)—ये दो सुन्दर और सुशील रानियां थीं। अमिततेज का जीव, देवलोक से च्यव कर रानी वसुन्धरा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। रानी ने बलदेव के योग्य गर्भ होने के सूचक चार महास्वप्न देखे। पुत्र-जन्म हुआ और उसका 'अपराजित' नाम रखा गया। कालान्तर में श्रीविजय का जीव भी देवलोक से च्यव कर रानी अनुद्धरा के गर्भ में आया। उसने वासुदेव के योग्य सात महास्वप्न देखे। गर्भ-काल पूर्ण होने पर पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम 'अनन्तवीर्य' रखा। योग्य वय होने पर दोनों भाई समस्त कलाओं में पारंगत हुए।

एक बार महाराजा स्तिमितसागर अश्वारूढ़ हो कर वन में गए। वहाँ एक वृक्ष के नीचे विविध अतिशय सम्पन्न प्रतिमाधारी मुनिराज स्वयंप्रभ को ध्यानारूढ़ देखा। राजा घोड़े से नीचे उतर कर मुनिराज के निकट गया और वन्दना कर के बैठ गया। मुनिराज ने राजा को धर्मोपदेश दिया। राजा धर्मोपदेश सुन कर संसार से विरक्त हो गया। वह राजधानी में आया और अपने राज्य का भार राजकुमार अनंतवीर्य को दे कर प्रव्रजित हो गया। उसने बहुतकाल तक संयम और तप की आराधना की, किन्तु बाद में मानसिक विराधना से चलित हो कर मृत्यु पाया और भवनपति देवों में चमरेन्द्रपने उत्पन्न हुआ।

नारद-लीला निमित्त बनी

राजा अनंतवीर्य अपने बड़े भाई अपराजित के साथ राज्य का संचालन कर रहा था। कालान्तर में एक विद्याधर के साथ मित्रता हो गई। उस विद्याधर ने प्रसन्न हो कर महाविद्या प्रदान की। राजा के वर्बरी और किराती नाम की दो दासियाँ थीं। वे रूप में अत्यंत सुन्दर और गायन तथा नृत्य-कला में अत्यंत निपुण थीं। वे अपनी कला का प्रदर्शन कर के राजा के मन को आनन्दित करती रहती थीं। एक बार वे राज-सभा में नृत्य कर रही थी, इतने में कौतुक-प्रिय एवं भ्रमणशील नारदजी वहाँ आ पहुँचे। उस समय दोनों नृत्यांगनाओं का उत्कृष्ट नृत्य देखने में अनन्तवीर्य महाराज और उनके ज्येष्ठ-भ्राता तल्लीन हो गए थे। उन्हें नारदजी के आने का आभास भी नहीं हुआ, इसलिए वे उनका आदर नहीं कर सके। अपना सम्मान नहीं होने के कारण नारदजी क्रोधित हो गए। उन्होंने सोचा—"इन घमंडी लोगों को मेरी परवा ही नहीं है। अपने अभिमान में वे इतने अन्धे हो गए कि इन नाचनेवाली दासियों ने भी मेरी इज्जत नहीं की। ठीक है, मैं अपने अनादर का मजा चखाता हूँ। इन्हें मालूम हो जायगा कि नारद के अनादर का क्या परिणाम होता है।" इस प्रकार सोच कर वे वहाँ से लौट गए और वैताढ्य पर्वत पर विद्याधरों के अधिपति राजा दमितारि की राज-सभा में पहुँचे। उस समय वह सैकड़ों विद्याधरों की सभा में बैठा था। नारदजी को आते देख कर वह सिंहासन से नीचे उतरा और उन्हें सत्कार-पूर्वक सिंहासन पर बैठने का आग्रह किया। किन्तु नारद अपना दर्भासन बिछा कर बैठ गए। उन्हें केवल योग्य सत्कार की ही चाह थी। उन्होंने राजा का कुशल-क्षेम पूछा। राजा ने योग्य शिष्टाचार के बाद पूछा;—

आपके देखने में आती है। यदि कोई आश्चर्यजनक वस्तु आपके देखने में आई हो, तो हमें भी सुनाइये।"

नारदजी का मनोरथ सफल होने का अवसर उपस्थित हो गया। वे मन में प्रसन्न हुए और कहने लगे;—

"राजन्! मैं आज ही एक अद्भूत आश्चर्य देख कर आ रहा हूँ। मैं 'शुभा' नाम की नगरी में गया था। अनन्तवीर्य राजा की सभा में मैंने बर्बरिका और किराती नाम की दो रमणियाँ नृत्य-कला में इतनी प्रवीण देखी कि उनके जैसा नृत्य तो कदाचित् स्वर्ग में भी नहीं होगा। मैं स्वर्ग में भी गया हूँ, किन्तु मैंने ऐसा उत्कृष्ट नृत्य तो वहाँ भी नहीं देखा।"

"नराधिप! जिस प्रकार देवों में इन्द्र सर्वोतम ऋद्धि का स्वामी है, उसी प्रकार इस पृथ्वी पर एक आप ही ऐसे नरेन्द्र हैं कि जहाँ सर्वोत्तम वस्तु सुशोभित होती है। मेरे विचार से वे उत्कृष्ट नृत्यांगनाएँ आपके ही योग्य हैं। जब तक आप उन्हें यहाँ ला कर अपनी सभा का गौरव नहीं बढ़ाते, तब तक आपकी समृद्धि में न्यूनता ही रहेगी।"

बस, लगा दी चिनगारी—नारदजी ने। यह नहीं सोचा उन्होंने कि मेरी इस बात से कितना अनर्थ हो जायगा। अनजान में आदर नहीं होना, अपमान नहीं है। किन्तु उन्हें इस बात का विवेक नहीं था। वे विष का बीज बो कर चले गए।

नारदजी की बात सुनते ही तीन खंड के अधिपति (प्रतिवासुदेव) पन का गर्व दमितारि के मन में उठ खड़ा हुआ। उसने अपना राजदूत अनन्तवीर्य नरेश के पास भेजा। दूत ने बड़ी शिष्टता के साथ नृत्यांगना की माँग की। राजा ने दूत से कहा—

"तुम जाओ। हम बाद में विचार कर के दासियों को भेज देंगे।"

दूत चला गया। उसके बाद दोनों भाइयों ने परामर्श किया कि दमितारि विद्या के बल से हम पर शासन करता है। हम भी विद्याधर मित्र की दी हुई महाविद्या को सिद्ध कर लें, तो फिर हम उससे टक्कर ले सकेंगे। इस प्रकार निश्चय कर के वे विद्या सिद्ध करने को तत्पर हुए। उनके निश्चय करते ही प्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ स्वतः प्रकट हुई और उनके शरीर में समा गई। दोनों भाई बलवान् तो थे ही, इन विद्याओं की प्राप्ति से कवचधारी सिंह की भाँति अधिक बलवान हो गए।

जब दोनों नर्तकियाँ दमितारि के पास नहीं पहुँची, तो उसने पुनः दूत भेजा। दूत ने तिरस्कारपूर्वक कठोर शब्दों में नर्तकियों की माँग की और यहाँ तक कहा कि—"यदि

तुमने दासियों को भेजने में विलम्ब किया, तो यह मृत्यु को निमन्त्रण देने के समान होगा और तुम राज्य-भ्रष्ट किये जा कर निकाल दिये जाओगे।"

दूत की बात सुन कर दोनों भ्राताओं को क्रोध तो आया, किन्तु उन्होंने उसे प्रकट नहीं होने दिया और हँसते हुए राजदूत से कहने लगे;—

"महाराजा दमितारि की भेंट के योग्य तो मूल्यवान् रत्न, उत्तम जाति के अश्व और गजराज हो सकते हैं, दासियाँ नहीं। किन्तु महाराज यही चाहते हैं, तो हम दे देंगे। तुम अभी विश्राम करो। संध्या के समय दोनों दासियाँ तुम्हारे पास आ जायगी।"

राजदूत संतुष्ट हो कर विश्राम-स्थान पर चला गया।

वासुदेव-बलदेव नर्त्तकियों के रूप में

दोनों बन्धु, महाराजा दमितारि और उसके वैभव को प्रत्यक्ष देखना चाहते थे। उन्होंने तत्काल योजना बनाई और राज्य-भार मन्त्रियों को सोंप दिया। फिर दोनों ने विद्याबल से बर्बरी और किराती का रूप बनाया और दूत के पास आ कर कहने लगी;—

"हमें आपके साथ, महाराजा दमितारि की सेवा में पहुँचने के लिए महाराजा ने भेजा है। अतएव चलिये। हम तय्यार हैं।"

राजदूत प्रसन्न हुआ और दासी रूपधारी दोनों महाभुज योद्धाओं को ले कर रवाना हुआ। राजधानी में पहुँचते ही महाराजा के सामने उपस्थित किये गये। दमितारि, सुन्दरतम नृत्यांगना रूपी योद्धाओं को देख कर संतुष्ट हुआ और शीघ्र ही नाटक का आयोजन करने की आज्ञा दी।

महाराजा की आज्ञा होते ही नाट्य-सुन्दरी बने हुए दोनों भ्राता रंगभूमि में आये और प्रत्याहारादि अंग से नाटक का पूर्वरंग जमाने लगे। रंगाचार्य ने पुष्पांजलि से रंग पूजा की। गायिकादि परिजन यथास्थान बैठे। नट ने आ कर नन्दी-पाठ किया और अभिनय का प्रारम्भ किया गया। विविध रसों के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट रूप, इस उत्तमता से उपस्थित किये कि दर्शक मंत्रमुग्ध हो गए। विदूषक के दृश्य भी अपने रूप, चेष्टा एवं वचनों से हास्य की सरिता बहाने लगे। कोई बड़े पेट वाला, बड़े दाँत वाला, लंगड़ा, कूबड़ा आदि विविध रूप लिये हुए, कोई बगल बजा कर निरक्षरी ध्वनि निकालता है, तो कोई नासिका बजाता है। दूसरों की नकल कर के हँसाने वाले रूप भी दर्शक-सभा का भरपूर

मनोरंजन करने लगे। यों विविध प्रकार के उत्तमोत्तम अभिनय से दोनों छद्मवेशी नट-सुन्दरियों ने महाराजाधिराज को मोह लिया। नरेश मानने लगे कि ये दोनों दासियाँ कला में पारंगत हैं और संसार में रत्न के समान है।

महाराजा दमितारि के 'कनकश्री' नाम की वय-प्राप्त कन्या थी। नरेश ने सोचा कि उच्च शिक्षा देने में ये दोनों नट-सुन्दरियाँ पूर्ण समर्थ है। उसने दूसरे दिन से ही दोनों को पुत्री की शिक्षिका के रूप में नियुक्त कर दिया। योवनवय को प्राप्त, परम सुन्दरी कनकश्री को देख कर अनन्तवीर्य मुग्ध हो गए। वे दोनों भ्राता उसे शिक्षा देते और प्रसंगोपात महाराजा अनन्तवीर्य का यशोगान भी करते रहते थे। उनके रूप, शौर्य्य, औदार्य आदि गुणों का वर्णन सुन कर राजकुमारी का मन उनकी ओर फिराया। बार-बार अनन्तवीर्य की प्रशंसा सुन कर एक दिन कनकश्री ने पूछा—जिनकी तुम बार-बार प्रशंसा करते हो, वह अनन्तवीर्य कौन है?" नटीरूपधारी महाबाहु अपराजित बोले;—

"शुभा नगरी के महप्रतापी स्वर्गीय नरेश स्मितिसागर के पुत्र और महाबाहु अपराजित के कनिष्ट भ्राता, महाराज अनन्तवीर्य, इस सृष्टि में अद्वितीय योद्धा, मदनावतार एवं महामानव हैं। वह महाबली, शत्रुओं के गर्व को नष्ट करने वाला तथा शरणागत-वत्सल है। अधिक क्या कहूँ, उसके समान इस पृथ्वी पर दूसरा कोई नहीं है। वह पुरुषोत्तम है। हम दोनों वहीं से आई हैं।

अनन्तवीर्य की कीर्तिकथा सुन कर कनकश्री आकर्षित हो गई। उसके मन में रहा हुआ मोह जाग्रत हो गया। वह उन्हीं के विचार करने लगी। उसे विचार-मग्न देख कर अपराजित ने कहा—

"आप चिन्ता क्यों करती है? यदि आपकी इच्छा उन्हें देखने की होगी, तो मैं तुम्हें उनके दर्शन करा दूंगी। मेरी विद्या-शक्ति से मैं दोनों बन्धुओं को यहाँ उपस्थित कर के उनसे तुम्हें मिला दूंगी।"

कनकश्री यही चाहती थी। उसे आशा नहीं थी कि वह कभी उस पुरुषोत्तम को देख सकेगी। उसने कहा—"यदि आप उनके दर्शन करा दें, तो बड़ा उपकार होगा। मुझे विश्वास है कि जिस प्रकार आप कला में सर्वश्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार अन्य विद्याओं में भी सर्वोत्तम हैं। आप मेरी मनोकामना शीघ्र पूर्ण करेंगे।"

कनकश्री की बात सुनते ही दोनों भ्राताओं ने अपना निज-स्वरूप प्रकट किया। राजकुमारी स्तंभित रह गई। अपराजित ने कहा—"भद्रे! यह मेरा छोटा भाई और शुभा

नगरी का नरेश महाराज अनन्तवीर्य है।"

राजकुमारी दिग्मूढ़ हो गई। उसके मन में विस्मय, लज्जा, प्रमोद आदि कई प्रकार के भाव आ-जा रहे थे। क्षणभर बाद ही उसके हृदय में से अन्योन्य भाव निकल कर एकमात्र मोह—आसक्ति भाव स्थायी रह गया। अनन्तवीर्य भी उस रति-रूपा राजकुमारी को निरख कर विशेष रूप से रोमांचित हो गया। राजकुमारी स्वस्थ हो कर कहने लगी।

"आर्य पुत्र ! यह नाटक भी अच्छा रहा। भाग्य के खेल विचित्र प्रकार के दृश्य उपस्थित कर के विचित्र परिणाम लाते हैं। किस प्रयोजन से नारदजी ने मेरे पिताजी के सामने आपकी दो चेटियों की प्रशंसा की और उन्हें प्राप्त करने की भावना उत्पन्न की। किस इच्छा से आप छद्म-वेश में यहाँ पधारे और अब क्या परिणाम आ रहा है। कदाचित् मेरे सद्भाग्य ने फल देने के लिए ही यह सारी परिस्थिति उत्पन्न की हो। अब आप शीघ्र ही मेरा पाणिग्रहण कर के मुझे कृतार्थ करें।"

"शुभे ! यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है, तो चलो। अपन अपनी राजधानी में चलें और अपने मनोरथ पूर्ण करें"—अनन्तवीर्य ने कहा।

—"मैं तो समर्पित हो चुकी। अब आपकी जैसी आज्ञा होगी वैसा करूँगी। मैं चलने को तय्यार हूँ। किन्तु मुझे भय है कि कहीं मेरे पिताश्री, किसी प्रकार का अनर्थ खड़ा कर के आपका अहित करें। उनके पास अनेक प्रकार की विद्याएँ हैं, जिनके बल से वे जिस पर रुष्ट होते है, उसका अनिष्ट करते देर नहीं करते। यद्यपि आप समर्थ हैं, फिर भी एकाकी और शस्त्रास्त्र से रहित हैं। इसलिए भय लगता है"—राजकुमारी ने परिस्थिति का भान कराया।

"भयभीत होने की बात नहीं है—प्रिये ! तुम्हारे पिता में चाहे जितनी शक्ति हो, वह हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगा। यदि उन्होंने युद्ध की स्थिति उत्पन्न की, तो इसका परिणाम उन्हें ही भोगना पड़ेगा। तुम निर्भय हो कर हमारे साथ चलो।"

युद्ध की घोषणा और विजय

राजकुमारी उनके साथ हो गई। वहाँ से प्रस्थान करते समय अनन्तवीर्य ने मेघ-गर्जना के स्वर में गम्भीर वाणी से कहा;—

"महाराजाधिराज दमितारि ! मन्त्रियों ! सेनापतियों ! कुमारों ! सामंतों ! सुभटों एवं पुराध्यक्षों ! आप सब स्वस्थ हो कर सुनो।"

"मैं महावीर अपराजित के प्रताप से सुशोभित अनन्तवीर्य, राजकुमारी कनकश्री को ले कर जा रहा हूँ। यदि किसी की इच्छा मुझे रोकने की हो, या राजकुमारी को मुझ से लेने की हो, तो वह मेरे सामने आवे। मेरे जाने के बाद यह कहने की आवश्यकता नहीं रहनी चाहिये कि—"अनन्तवीर्य, राजकुमारी को चुरा कर ले गया।"

इस प्रकार उद्घोषणा कर के वैक्रिय-शक्ति से विमान बना कर उसमें बैठे और तीनों आकाश-मार्ग से प्रस्थान कर गए। जब दमितारि ने यह उद्घोषणा सुनी, तो सन्न रह गया। उसने तत्काल अपने योद्धाओं को उनके पीछे भेजा। सेना को अपनी ओर आते देख, दोनों भ्राता सावधान हो कर युद्ध के लिए जम गए। अचानक ही उन्हें हल, शार्ङ्ग धनुष आदि दिव्य-शस्त्र स्वतः प्राप्त हो गए। दमितारि की सेना शस्त्र-वर्षा करने लगी। किन्तु जब महाराज अनन्तवीर्य ने शस्त्र-प्रहार प्रारंभ किया, तो दमितारि की सेना भाग खड़ी हुई। सेना के भागते ही दमितारि स्वयं युद्ध करने आया। उसके आते ही सेना भी पुनः आ डटी। इधर अनन्तवीर्य भी विद्या-शक्ति से सेना तय्यार कर के युद्ध-क्षेत्र में डट गया। विद्या के बल से दुर्मद हुए दमितारि के सुभट जब पुनः युद्ध-रत हुए, तो वीरवर अनन्तवीर्य ने पंचजन्य शंख का नाद किया। इस भयंकर नाद को सुन कर सभी सुभट धसका खा कर भूमि पर गिर पड़े। यह दशा देख कर दमितारि स्वयं रथारूढ़ हो कर आगे आया और शस्त्र-प्रहार करने लगा। अन्त में अपने ही चक्ररत्न नामक महाशस्त्र से दमितारि मारा गया और उसके समस्त राज्य के स्वामी महाराजाधिराज अनन्तवीर्य हुए। ये अर्धचक्री—वासुदेव पद पाये।

पूर्वभव वर्णन

दमितारि पर विजय प्राप्त कर के महाराजा अनन्तवीर्य, ज्येष्ठ-बन्धु और राजकुमारी कनकश्री के साथ रवाना हुए। मार्ग में प्रतिमाधारी मुनिराज श्री कीर्तिधर स्वामी के दर्शन हुए। उन्होंने उसी दिन घातिकर्मों को क्षय कर के केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त किया था और देवगण केवल-महोत्सव कर रहे थे। वासुदेव को यह देख कर परम प्रसन्नता हुई। वे और बलदेव आदि केवली भगवान् की प्रदक्षिणा और नमस्कार कर के बैठ गए।

भगवान् ने धर्मदेशना दी। उपदेश पूर्ण होने पर राजकुमारी कनकश्री ने पूछा—'भगवन् ! मेरे निमित्त से मेरे पिताजी का वध और बन्धु-वर्ग का वियोग क्यों हुआ ? यह दुःखदायक घटना क्यों घटी ? इसका पूर्व और अदृश्य कारण क्या है ?"

केवलज्ञानी भगवंत ने फरमाया—

"शुभे ! धातकीखंड नामक द्वीप के पूर्व-भरत में शंखपुर नाम का एक समृद्ध गांव था। उसमें 'श्रीदत्ता' नाम की एक गरीब स्त्री रहती थी। वह बहुत ही दीन, दरिद्र और अभाव पीड़ित थी और दिनभर परिश्रम और कठोर काम कर के कठिनाई से अपना जीवन चला रही थी। एक बार वह भटकती हुई देवगिरि पर्वत पर गई। एक वृक्ष की छाया में शिलाखंड पर बैठे हुए तपोधनी संत सत्ययश स्वामी दिखाई दिये। श्रीदत्ता ने तपस्वी संत को वंदना की और निकट बैठ कर निवेदन किया;—

"भगवंत ! मैं बड़ी दुर्भागिनी हूँ। मैंने पूर्वभव में धर्म की आराधना नहीं की। इसी लिए मेरी यह दीन-हीन और अनेक प्रकार से दुःखदायक दशा हुई है। अब दया कर के मुझे कोई ऐसा उपाय बताइये कि जिससे फिर कभी ऐसी दुर्दशा नहीं हो।"

मुनिराज ने उसे 'धर्मचक्र' नाम का तप बताते हुए कहा कि—"देवगुरु की आराधना में लीन हो कर दो और तीन रात्रि के क्रम से सेंतीस उपवास करने पर तेरे वैसे पाप कर्मों का क्षय हो जायगा। जिससे तुझे भवान्तर में इस प्रकार की दुरवस्था नहीं देखनी पड़ेगी।"

श्रीदत्ता, मुनिराज के वचनों को मान्य कर के अपने स्थान पर आई और धर्मचक्र तप करने लगी। उसे पारणे में स्वादिष्ट भोजन मिला और धनवानों के घर में सरल काम तथा अधिक पारिश्रमिक तथा पारितोषिक मिलने लगा। श्रीदत्ता थोड़े ही दिनों में कुछ द्रव्य संचय कर सकी। अब उसका मन भी प्रसन्न रहने लगा। वह कुछ दानादि भी करने लगी। एक बार वायु के प्रकोप से उसके घर की भींत का कुछ भाग गिर गया और उसमें से धन निकल आया। उसकी प्रसन्नता का पार नहीं रहा। अब वह विशेषरूप से दानादि सुकृत्य करने लगी। तपस्या के अंतिम दिन वह सुपात्र दान के लिए किसी उत्तम पात्र की प्रतीक्षा करने लगी। अचानक उसने सुव्रत अनगार को देखा। वे मासखमण के पारणे के लिए निकले थे। श्रीदत्ता ने भक्तिपूर्वक सुपात्रदान का लाभ लिया और धर्मोपदेश के लिए प्रार्थना की। मुनिराज ने कहा—"भिक्षा के लिये गए हुए मुनि, धर्मोपदेश नहीं देते। योग्य समय पर उपाश्रय में उपदेश सुन सकती हो।" मुनिराज पधार गए और पारणा कर के स्वा-

ध्याय करने लगे। इतने में नगर के लोग और श्रीदत्ता उपाश्रय में आये। मुनिराज ने उपदेश दिया। श्रीदत्ता ने सम्यक्त्वपूर्वक व्रत धारण किया और आराधना करने लगी। उदयभाव की विचित्रता से एक बार उसके मन में धर्म के फल में सन्देह उत्पन्न हुआ। एक दिन वह मुनिराज श्रीसुयशजी को वन्दने गई। वहाँ उसने विमान से आये हुए दो विद्याधरों को देखा। वह उनके रूप पर मोहित हो गई और बिना शुद्धि किये ही आयुष्य पूर्ण कर गई।

जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह की रमणीय विजय में शिवमन्दिर नामका नगर था। कनकपूज्य वहाँ के राजा थे। उनकी वायुवेगा रानी से मेरा जन्म हुआ। मेरे अनिलवेगा नाम की महारानी थी। उसकी कुक्षि से दमितारि का जन्म हुआ। वह यौवनवय को प्राप्त हुआ। एक बार ग्रामानुग्राम विहार करते भ० शान्तिनाथ हमारे नगर में पधारे। भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर, मैंने दमितारि को राज्य का भार दे कर निर्ग्रंथ दीक्षा अंगीकार की और चारित्र तथा तप की आराधना करते हुए मुझे अभी केवलज्ञान-केवल-दर्शन प्राप्त हुआ। दमितारि प्रतिवासुदेव हुआ। उस श्रीदत्ता का जीव दमितारि की मदिरा रानी की कुक्षि से, पुत्री के रूप में तू (कनकश्री) उत्पन्न हुई। पूर्वभव के धर्म में सन्देह तथा मोहोदय के कारण तू स्त्री के रूप में उत्पन्न हुई और बन्धु-बान्धवों का वियोग हुआ, धर्म में किञ्चित् कलंक भी महा दुःखदायक होता है।"

कनकश्री विरक्त हो गई और उसने वासुदेव तथा बलदेव से निवेदन कर दीक्षा लेने की आज्ञा मांगी। उन्होंने राजधानी में चल कर उत्सवपूर्वक दीक्षा देने का आश्वासन दिया और महर्षि को वन्दना कर के रवाना हो गए।

शुभा नगरी के बाहर युद्ध चल रहा था। दमितारि के पहले से भेजे हुए कुछ वीर और सेना शुभानगरी में आ कर वासुदेव के पुत्र अनन्तसेन के साथ युद्ध कर रहे थे। अनन्तसेन को शत्रुओं से घिर कर युद्ध करते देखते ही बलदेव को क्रोध आ गया। वे अपना हल ले कर शत्रुसेना पर झपटे। बलदेव के प्रहार से दिग्मूढ़ बनी हुई शत्रु-सेना अन्धाधुन्ध भागी। नगर प्रवेश के बाद अन्य राजाओं ने शुभ मुहूर्त में महाराजा अनन्तवीर्य का वासुदेव पद का अभिषेक किया। कालान्तर में केवली भगवान् स्वयंभव स्वामी शुभानगरी पधारे। कनकश्री ने प्रव्रज्या स्वीकार की और आत्मोत्थान कर मोक्ष प्राप्त किया।

बलदेव श्री अपराजितजी के 'सुमति' नाम की पुत्री थी। वह बालपन से ही धर्म-रसिक थी। वह जीवादि तत्त्वों की ज्ञाता और विविध प्रकार के व्रत तथा तप करती रहती

थी। एक बार वह उपवास का पारणा करने के लिए बैठी थी। उसके मन में सुपात्रदान की भावना जगी। उसने द्वार की ओर देखा। सुयोग से तपस्वी मुनिराज का द्वार में प्रवेश हुआ। चित्त, वित्त और पात्र की शुद्धता से वहाँ पंच दिव्य की वृष्टि हुई। अद्‌भुत चमत्कार को देख कर बलदेव और वासुदेव वहाँ आये और सुपात्रदान की महिमा सुन कर विस्मित हुए। उनके मनमें राजकुमारी सुमति के प्रति आदर भाव उत्पन्न हुआ। वे सोचने लगे कि—हमारी ऐसी उत्तम बालिका के योग्य पति कौन होगा? उन्होंने अपने इहानन्द मन्त्री से परामर्श कर के स्वयंवर का आयोजन किया और सभी राजाओं को सूचना भेज कर आमन्त्रित किया। निश्चित्त दिन स्वयंवर मंडप में सभी राजा और राजकुमार बड़े ठाट से आ कर बैठ गए। निश्चित्त समय पर राजकुमारी सुमति सुसज्जित हो कर अपनी सखियों और सेविकाओं के साथ मंडप में आई। उसके हाथ में वरमाला थी। वह आगे बढ़ ही रही थी कि इतने में उस सभा के मध्य में एक देव विमान आया। उसमें से एक देवी निकली और एक सिंहासन पर बैठ गई। राजकुमारी और सारी सभा इस दृश्य को देख कर चकित रह गई। इतने में देवी ने राजकुमारी से कहा—

"मुग्धे! समझ! यह क्या कर रही है? तू अपने पूर्व-भव का स्मरण कर। पुष्करवर द्वीपार्द्ध के पूर्व-भरत क्षेत्र में श्रीनन्दन नाम का नगर था। महाराज महेन्द्र उस नगर के स्वामी थे। अनन्तमति उनकी महारानी थी।" उनकी कुक्षि से हम दोनों युगल-पुत्रियें उत्पन्न हुई। मेरा नाम कनकश्री और तेरा नाम धनश्री था। अपन दोनों साथ ही बढ़ी, पढ़ी और यौवन-वय को प्राप्त हुई। हम दोनों ने एकबार वन में नन्दन मुनि के दर्शन किये। उनसे धर्मोपदेश सुन कर श्रावक व्रत ग्रहण किये और उनकी आराधना करने लगी। एक बार अपन अशोक वन में गई और वहाँ वनक्रीड़ा करने लगी। इतने में एक विद्याधर युवक वहाँ आया और अपना हरण कर के उसके नगर में ले गया। किन्तु उसकी सुशीला पत्नी ने हमारी रक्षा की। वहाँ से हम दोनों एक अटवी में आई और नवकारमन्त्र का स्मरण कर के अनशन व्रत लिया। वहाँ का आयु पूर्ण कर के मैं तो सौधर्म स्वर्ग के अधिपति की अग्रमहिषी हुई और तू कुबेर लोकपाल की मुख्य देवी हुई। तू वहाँ का आयुष्य पूर्ण कर के यहाँ जन्मी और अब संसार के प्रपञ्च में पड़ रही है। अपन दोनों ने देवलोक में निश्चय किया था कि जो देवलोक से च्यव कर पहले मनुष्य-भव प्राप्त करे, उसे दूसरी देवी देवलोक से आ कर प्रतिबोध दे। छोड़ इस फन्दे को और दीक्षा ग्रहण कर के मानव जैसे दुर्लभ भव को सफल कर ले।"

इतना कह कर देवी चली गई। सुमति विचार-मग्न हुई। उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। वह मूच्छित हो गई। सावधान होने पर उसने दीक्षा लेने की आज्ञा माँगी। उसकी माँग का सारी सभा ने अनुमोदन किया। वह दीक्षा ले कर तप संयम की आराधना करती हुई कर्मों का क्षय कर के सिद्ध गति को प्राप्त हुई।

अनन्तवीर्य वासुदेव, काम-भोग में आसक्त हो, मर कर प्रथम नरक में गये। बलदेव अपराजित, वन्धु-विरह से शोकाकुल होने के वाद विरक्त हो गए और गणधर जयस्वामी के पास, सोलह हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो कर संयम का पालन किया। वे अनशन कर के आयु पूर्ण कर अच्युतेन्द्र हुए।

वासुदेव का जीव प्रथम नरक से निकल कर भरतक्षेत्र में वैताढ्य पर्वत पर के गगनवल्लभपुर के विद्याधर राजा मेघवान की पत्नी के गर्भ से उत्पन्न हुआ। उसका नाम 'मेघनाद' दिया गया। यौवनवय प्राप्त होने पर पिता ने उसे राज्य का भार दे कर प्रव्रज्या ले ली। मेघनाद बढ़ते-बढ़ते वैताढय पर्वत की दोनों श्रेणियों का शासक हो गया।

एक बार अच्युतेन्द्र ने अपने पूर्वभव के भाई को देखा और प्रतिवोध करने आया। मेघनाद ने अपने पुत्र को राज्य दे कर दीक्षा लेली। एक बार वे एक पर्वत पर ध्यान कर रहे थे, उस समय उनके पूर्वभव के बेरी, अश्वग्रीव प्रतिवासुदेव के पुत्र ने—जो इस समय दैत्य था, उन्हें देखा और द्वेषाभिभूत हो कर उपसर्ग करने लगा, किन्तु वह निष्फल रहा। मुनिराज उग्र तप का आचरण करते हुए अनशन कर के अच्युत देवलोक में इन्द्र के सामानिक देवपने उत्पन्न हुए।

इस जम्बूद्वीप के पूर्व महाविदेह में सीता नदी के दक्षिण किनारे, मंगलावती विजय में रत्नसंचया नाम की नगरी थी। क्षेमंकर महाराज वहाँ के अधिपति थे। उनके रत्नमाला नाम की रानी थी। अपराजित का जीव—जो अच्युतेन्द्र हुआ था, वह अच्युत देवलोक से च्यव कर महारानी रत्नमाला की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। महारानी ने गर्भ धारण करने के बाद चौदह महास्वप्न और १५ वाँ वज्र देखा। गर्भकाल में महारानी ने स्वप्न में वज्र भी देखा था, इसलिए पुत्र का जन्म होने पर उसका नाम 'वज्रायुध' रखा। वज्रायुध बड़ा हुआ और सभी कलाओं में पारंगत हुआ। उसका विवाह 'लक्ष्मीवती' नाम की राजकुमारी के साथ हुआ। कालान्तर में अनन्तवीर्य का जीव, अच्युतकल्प से च्यव कर रानी लक्ष्मीवती की कुक्षि से पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम 'सहस्रायुध' दिया गया। वह बड़ा हुआ। कला-कौशल में प्रवीण हुआ। उसका विवाह कनकश्री नाम की एक राजकुमारी के

साथ हुआ। कनकश्री की कुक्षि से एक महान् पराक्रमी पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम 'शतवल' रखा गया। वह महावली था।

एक समय महाराजा क्षेमंकर अपने पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, मन्त्री और सामन्तों के साथ सभा में बैठे थे। उस समय ईशानकल्प वासी चित्रचूल नाम का एक मिथ्यात्वी देव उस सभा में प्रकट हुआ। देव-सभा में वज्रायुध के सम्यक्त्व की दृढ़ता की प्रशंसा हुई थी। किन्तु चित्रचूल को यह प्रशंसा सहन नहीं हुई, न विश्वास ही हुआ। वह तत्काल महाराज क्षेमंकर की राजसभा में उपस्थित हुआ। उसने आते ही सभा को सम्बोधित करते हुए कहा;—

"राजेन्द्र और सभासदों! संसार में न पुण्य है, न पाप। स्वर्ग, नर्क, जीव, अजीव और धर्म-अधर्म कुछ भी नहीं। मनुष्य, आस्तिकता के चक्कर में पड़ कर व्यर्थ ही क्लेश एवं कष्ट भोगता है। इसलिए धर्म पुण्य और परलोक की मान्यताओं को त्याग देना चाहिए।"

देव के ऐसे नास्तिकता पूर्ण वचन सुन कर वज्रायुध बोला;—

"अरे देव! तुम ऐसी मिथ्या बातें क्यों कह रहे हो? यह तो प्रत्यक्ष से भी विरुद्ध है। तुम स्वयं अवधिज्ञान से अपने पूर्वभव के सुकृत के फल को देखो। तुम्हारा यह देव सम्बन्धी वैभव, तुम्हारी बात को मिथ्या सिद्ध कर रही है। तुमने पूर्व के मनुष्य-भव को छोड़ कर यह देव-भव प्राप्त किया है। यदि जीव नहीं हो, तो भव किसका? पूर्व का मनुष्य-भव और वर्त्तमान देवभव, परलोक होने पर ही हुआ। यदि परलोक नहीं होता, तो यह देवभव भी नहीं होता। इस प्रकार मनुष्य-लोक रूपी यह भव और परलोक रूपी देव-भव प्रत्यक्ष ही सिद्ध है और यह सभी सुकृत का फल है। इसलिए ऐसा नास्तिकता पूर्ण मिथ्यात्व छोड़ देना चाहिए।"

वज्रायुध की सम्यक् वाणी सुन कर देव निरुत्तर हुआ और प्रतिबोध पाया। देव ने पूछा;—

"महानुभाव! आपने ठीक ही कहा है। वहुत ठीक कहा है। आपने मेरा मिथ्यात्व छुड़ा कर मेरा उद्धार किया। आपने मुझ पर एक पिता और तीर्थंकर के समान उपकार किया है। मैं चिरकाल से मिथ्यात्वी था। आपके दर्शन मेरे लिए अमित लाभकारी हुए। अव आप मुझे सम्यक्त्व दान कर उपकृत करें।"

वज्रायुध ने उस देव को धर्म का स्वरूप समझाया और सम्यक्त्वी वनाया। चित्र-चूल देव अत्यंत प्रसन्न हुआ और इच्छित वस्तु माँगने का निवेदन किया। वज्रायुध ने

कहा—"मैं आपसे यही मांगता हूँ कि आप दृढ़ एवं अविचल सम्यक्त्वी रहें।" देव ने कहा—"यह तो मेरे ही हित की बात है। आप अपने लिए कुछ लीजिये।" वज्रायुध ने कहा—"मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए।" फिर भी देव ने वज्रायुध को दिव्य अलंकार दिये और चला गया। उसने ईशानेन्द्र की सभा में आ कर वज्रायुध की प्रशंसा की। ईशानेन्द्र ने कहा—"महानुभाव वज्रायुध भविष्य में तीर्थंकर होंगे।"

एक बार वसन्तऋतु में वनविहार करने के लिए वज्रायुध अपनी लक्ष्मीवती आदि ७०० रानियों के साथ सुरनिपात उद्यान में आया और एक जलाशय में क्रीड़ा करने लगा। वह जलक्रीड़ा में मग्न था और रानियों के साथ विविध प्रकार के जलाघात के खेल खेल रहा था। उधर पूर्वजन्म का शत्रु, दमितारि प्रतिवासुदेव का जीव, भवभ्रमण करता हुआ देवभव प्राप्त कर चुका था। वह विद्युदृष्ट नाम का देव वहाँ आया। वज्रायुध को देखते ही उसका दबा हुआ वैर जाग्रत हो गया। उसने परिवार सहित वज्रायुध को नष्ट करने के लिए उस जलाशय पर एक पर्वत ला कर डाल दिया और चला गया। वज्रायुध, इस आकस्मिक विपत्ति से घबड़ाया नहीं, किन्तु अपने प्रबल पराक्रम से उस पर्वत को तोड़ कर परिवार सहित बाहर निकल आया। उधर प्रथम स्वर्ग का सौधर्मेन्द्र महाविदेह में जिनेश्वर की पर्युपासना कर के लौट रहा था। उसने महानुभाव वज्रायुध को देखा। उसने सोचा—"यह वज्रायुध इस भव में चक्रवर्ती सम्राट होगा और बाद के भव में तीर्थंकर होगा"—ऐसा सोच कर इन्द्र वज्रायुध से मिला। उन्हें आदर सम्मान दे कर कहा—'आप धन्य हैं। भविष्य में आप ही भरतक्षेत्र के 'शांतिनाथ' नाम के सोलहवें तीर्थंकर बनेंगे।' यों कह कर इन्द्र प्रस्थान कर गया और वज्रायुध अपने अन्तःपुर के साथ नगर में आये।

महाराजा क्षेमंकर ने लोकान्तिक देवों के स्मरण कराने से वार्षिक दान दे कर प्रव्रज्या स्वीकार की। वज्रायुध को राज्यभार प्राप्त हुआ। मुनिराज क्षेमंकर ने विविध प्रकार के तप से घातिकर्मों का क्षय कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया।

एक समय अस्त्रागार के अधिपति ने महाराजा वज्रायुध को शस्त्रागार में चक्ररत्न के प्रकट होने की बधाई दी। महाराजा ने चक्ररत्न प्रकट होने का महोत्सव किया। इसके बाद अन्य तेरह रत्न भी प्रकट हुए। उन्होंने छह खण्ड की साधना की और अपने पुत्र सहस्रायुध को युवराज पद पर प्रतिष्ठित किया।

एक बार महाराजा राजसभा में बैठे थे। महामन्त्री, अधिनस्थ राज्यों के सम्बन्धों और समस्याओं पर निवेदन कर रहे थे कि इतने ही में एक विद्याधर युवक भयभीत दशा

में भागता हुआ आया और चक्रवर्ती सम्राट से रक्षा करने की प्रार्थना की। उसके पीछे एक सुन्दर युवती हाथ में ढाल और तलवार ले कर क्रोध में धमधमती हुई आई और सम्राट से कहने कहने लगी—

"महाराज ! आप इस अधमाधम को यहाँ से निकालिये। मैं इस दुष्ट को इसके दुराचरण का मजा चखाने आई हूँ।" वह आगे कुछ और कह रही थी कि यमदूत के समान एक भयंकर विद्याधर हाथ से गदा घुमाता हुआ आया और उसने सम्राट से कहा;—

"महाराजाधिराज ! इस नीच की नीचता देखिये कि—मेरी यह पुत्री, मणिसागर पर्वत पर, भगवती प्रज्ञप्ति विद्या साध रही थी। इस दुष्ट ने उसकी साधना में विघ्न डाला और उसे उस स्थान से उठा लिया। मैं उस समय विद्या की पूजा के लिए सामग्री लेने गया था। पुत्री को विद्या सिद्ध हो गई थी। इसलिए यह कुछ अनिष्ट नहीं कर सका और भयभीत हो कर उसे वहीं छोड़ कर भाग गया। इसे अपनी रक्षा का अन्य कोई स्थान नहीं मिलने से यह आपकी शरण में आया है। इस दुष्ट से बदला लेने के लिए मेरी पुत्री इसके पीछे-पीछे आई। जब मैं पूजा की सामग्री ले कर साधनास्थल पर आया, तो वहाँ पुत्री दिखाई नहीं दी। अन्त में मैंने इनके चरण-चिन्हों का अनुसरण किया और यहाँ तक आया। आप इसे निकाल दीजिये। मेरी यह गदा इसके मस्तक का चूर्ण बनाने के लिए तत्पर है। मैं शुक्ल नगर के शुक्लदत्त नरेश का 'पवनवेग' नाम का पुत्र हूँ। मेरा विवाह किन्नरगीत नगर के दीपचूल नरेश की पुत्री सुकान्ता से हुआ और उसकी कुक्षि से इस शांतिमति का जन्म हुआ।"

महाराज वज्रायुध ने पवनवेग का वृतांत सुन कर अवधिज्ञान का उपयोग लगाया और उनके पूर्वभव का वृतांत जान कर यों कहने लगे;—

"पवनवेग ! शान्त होओ और इस घटना के मूल कारण को देखो। जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र में विंध्यपुर नाम का नगर था। वहाँ विंध्यदत्त नाम का राजा था। उसकी सुलक्षणा रानी से 'नलिनकेतु' नाम का पुत्र हुआ। उसी नगर में धर्ममित्र नाम का एक सार्थवाह था। उसके 'दत्त' नाम का पुत्र था। उस दत्त के 'प्रभंकरा' नाम की अत्यन्त रूपवाली पत्नी थी। एक बार वसंतऋतु में दत्त अपनी पत्नी के साथ उद्यान में क्रीड़ा कर रहा था। उसी उद्यान में राजकुमार नलिनकेतु भी आया और प्रभंकरा को देखते ही मुग्ध हो गया। उसने दत्त को भुलावे में डाल कर प्रभंकरा का हरण कर लिया और उसके साथ स्वच्छन्द हो कर भोग

भोगने लगा। दत्त, प्रभंकरा का वियोग सहन नहीं कर सका। वह उसी के ध्यान में भटकता रहा। कालान्तर में उसे मुनिराज श्रीसुमनजी के दर्शन हुए। उन्होंने उसी दिन घातिकर्मों का क्षय कर के केवलज्ञान प्राप्त किया था। केवली भगवान् की धर्मदेशना सुन कर दत्त ने पत्नी-विरह से उत्पन्न मोह का त्याग किया और शुभ भावों से दान-धर्म करता हुआ काल कर के, जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह में स्वर्णतिलक नगर के नरेश महेन्द्रविक्रम के यहाँ पुत्रपने उत्पन्न हुआ। 'अजितसेन' उसका नाम दिया गया। यौवनवय में अनेक विद्याधर कन्याओं के साथ उसका लग्न हुआ। वह काम-भोग में काल व्यतीत करने लगा।

राजा विंध्यदत्त के मरने पर राजकुमार 'नलिनकेतु' राजा हुआ। प्रभंकरा उसकी प्रिया थी ही। एक बार वे दोनों महल की छत पर चढ़ कर प्रकृति की शोभा देख रहे थे कि अचानक ही आकाश में बादल घिर आये। काली घटा छा गई। गर्जना होने लगी। बिजली चमकने लगी और थोड़ी ही देर में वह सारा ही दृश्य बिखर कर आकाश साफ हो गया। नलिनकेतु को इस दृश्य ने विचार में डाल दिया। उसने सोचा—"जिस प्रकार आकाश में यह मेघ-घटा उत्पन्न भी हो गई और थोड़ी देर में नष्ट भी हो गई, उसी प्रकार संसार में सभी पदार्थ अस्थिर हैं। मनुष्य एक जन्म में ही बचपन, युवावस्था, बुढ़ापा आदि विभिन्न अवस्थाएँ प्राप्त करता है। रोगी-निरोग धनी-निर्धन और सुखी-दुःखी आदि विविध दशाएँ प्राप्त करता है। ऐसे क्षणस्थायी दृश्यों पर मुग्ध होना भूल है—बड़ी भारी भूल है।' इस प्रकार विचार करता हुआ वह विरक्त हो गया और पुत्र को राज्य दे कर क्षेमंकर तीर्थंकर के पास दीक्षित हो गया तथा उग्रतप करते हुए सभी कर्मों को नष्ट कर के अव्यय पद को प्राप्त हुआ।

सरल एवं भद्र स्वभाव वाली रानी प्रभंकरा ने प्रवर्तिनी सती सुव्रता के पास चान्द्रायण तप किया। सम्यक्त्व रहित उस तप के प्रभाव से आयु पूर्ण होने पर वह तुम्हारी पुत्री के रूप में यह शांतिमति हुई। इसके पूर्वभव के पति दत्त का जीव यह अजितसेन है। पूर्वभव के स्नेह के कारण ही इसने इसे उठाई थी। वर्त्तमान की इस घटना के मूल में पूर्व का स्नेह रहा हुआ है। तुम्हें क्रोध त्याग कर बन्धु-भाव धारण करना चाहिए।

उपरोक्त वृत्तांत सुन कर उनका द्वेष दूर हुआ। ज्ञानबल से चक्रवर्ती नरेश ने कहा—"तुम तीनों तीर्थंकर भगवान् क्षेमंकरजी के पास प्रव्रजित होंगे। यह शांतिमति रत्नावली तप करेगी और अनशन कर के आयुपूर्ण होने पर ईशानेन्द्र बनेगी। तुम दोनों कर्म क्षय कर के मुक्ति प्राप्त करोगे। शांतिमति, ईशानेन्द्र का भव पूर्ण कर के मनुष्य भव

प्राप्त करेगी और संयम तप की आराधना कर के मुक्त हो जायगी।"

चक्रवर्ती की बात सुन कर तीनों प्रतिबोध पाये और संसार का त्याग कर संयम स्वीकार किया। साध्वी शांतिमति, ईशानेन्द्र और मनुष्य-भव प्राप्त कर मोक्ष गई और क्षेमंकर तथा अजितसेन मुनि उसी भव में सिद्ध हो गए।

चक्रवर्ती सम्राट के पुत्र सहस्रायुध की रानी जयना ने गर्भ धारण किया। गर्भ के प्रभाव से उसने स्वप्न में प्रकाशमान स्वर्ण-शक्ति देखी। पुत्र का जन्म होने पर 'कनकशक्ति' नाम दिया गया। यौवनवय प्राप्त होने पर सुमन्दिरपुर की राजकुमारी कनकमाला के साथ उसका लग्न हुआ।

श्रीसार नगर में अजितसेन राजा था। उसकी प्रियसेना रानी से वसंतसेना कुमारी का जन्म हुआ। यह कनकमाला की प्रिय सखी थी। उसका पिता उसके लिये किसी योग्य वर की खोज कर रहा था। किन्तु योग्य वर नहीं मिला। उसने पुत्री को कनकशक्ति के पास स्वयंवरा के रूप में भेजी और कनकशक्ति ने उसके साथ भी विधिपूर्वक लग्न किया। इस लग्न से वसंतसेना की बूआ के पुत्र को बड़ा आघात लगा। वह क्रोध से जल उठा।

एक बार कनकशक्ति उद्यान में घूम रहा था कि उसने देखा—एक व्यक्ति मुर्गे की तरह उछलता गिरता-पड़ता भटक रहा था। उसने उसकी ऐसी दशा का कारण पूछा। उसने कहा—'मैं विद्याधर हूँ। मैं कार्यवश अन्यत्र जा रहा था। यहाँ रमणीय उद्यान देख कर रुक गया। यहाँ कुछ समय रुक कर जाने लगा। मैंने अपनी आकाशगामिनी विद्या का स्मरण किया, किन्तु बीच का एक पद मैं भूल गया। इससे मैं पूर्व की तरह उड़ नहीं सका और उछल कर नीचे गिर रहा हूँ।' राज कुमार ने कहा—'यदि आप मेरे समक्ष आपकी विद्या का उच्चारण करें, तो सम्भव है विस्मृत पद जोड़ने में मैं आपकी कुछ सहायता कर सकूँ।" विद्याधर ने विद्या का उच्चारण किया। राजकुमार ने अपनी पदानुसारिणी बुद्धि से भूले हुए पद को पूर्ण कर दिया। विद्याधर प्रसन्न हुआ और उसने राजकुमार को भी वह विद्या दी। दोनों अपने-अपने स्थान पर आये।

वसंतसेना की बूआ का पुत्र अपने क्रोध में ही जलता रहा। वह कनकशक्ति की कुछ भी हानि नहीं कर सका और मृत्यु पा कर देवलोक में गया।

एक बार कनकशक्ति अपनी दोनों रानियों के साथ विद्याधर से प्राप्त विद्या से गगन-विहार करता हुआ हिमवंत पर्वत पर आया। वहाँ विपुलमति नाम के चारणमुनि के दर्शन हुए। उपदेश सुन कर कनकशक्ति त्यागी बन गया। दोनों रानियें भी विमलमती

साध्वीजी के समीप दीक्षित हो गई। कालान्तर में मुनि कनकशक्ति उसी पर्वत पर आ कर एक रात्रि की भिक्षु प्रतिमा का धारण कर के ध्यानस्थ रहे। मुनिवर को ध्यानस्थ देख कर पूर्वभव का द्वेषी वह हिमचूल देव उपसर्ग करने लगा। जब विद्याधरों ने उस देव को उपसर्ग करते देखा, तो उन्होंने उसकी भर्त्सना की। कालान्तर में मुनिराज रत्नसंचया नगरी के बाहर उद्यान में आ कर ध्यानस्थ हुए। वहाँ उनके घातिकर्म नष्ट हो कर केवलज्ञान केवलदर्शन की प्राप्ति हुई।

कालान्तर में तीर्थंकर भगवान् क्षेमंकर महाराज वहाँ पधारे। वज्रायुध ने अपने पुत्र सहस्रायुध को राज्य दे कर दीक्षित हो गया। उसके साथ चार हजार राजा, चार हजार रानियें और सात सौ पुत्रों ने दीक्षा ली। श्री वज्रायुध विविध प्रकार के अभिग्रह युक्त तप करते हुए सिद्धि पर्वत पर पधारे और प्रतिमा धारण कर के ध्यानस्थ हो गए। इस समय अश्वग्रीव प्रतिवासुदेव के पुत्र मणिकुंभ और मणिकेतु भव-भ्रमण करते हुए बाल-तप के प्रभाव के असुरकुमार देव हुए थे। वे उस पर्वत पर आये और ऋषिश्वर को देख कर पूर्वभव के वैर से अभिभूत हो उपद्रव करने लगे। सिंह का रूप धारण कर के अपने वज्र के समान कठोर एवं तिक्ष्ण नख गड़ा कर दोनों देव, दोनों ओर से उन्हें चीर ने लगे। उसके बाद हाथी का रूप धारण कर सूँड, दाँत और पैरों के आघात से महान् वेदना उत्पन्न करने लगे। इसके बाद भयानक भुजंग के रूप में ऋषिवर के शरीर पर लिपट कर शरीर को बलपूर्वक कसने लगे। इसके बाद राक्षसी रूप से भयानक उपद्रव करने लगे। इस प्रकार विविध उपद्रव करने लगे। इतने में इन्द्र की रंभा-तिलोत्तमादि अप्सराएँ जिनेश्वर भगवान् को वंदन करने के लिए उधर हो कर जा रही थी। उन्होंने मुनि पर होता हुआ महान् उपसर्ग देखा। वे बोली—"अरे, ओ पापियों! तुम ऐसे उत्तम और महान् संत के शत्रु क्यों बने हो? ठहरो।" इतना कह कर वे उनके पास पहुँचने लगी। यह देख कर वे दोनों दुष्ट देव भाग गए। अप्सराएँ मुनिराज श्री को वंदन नमस्कार कर के चली गई।

वज्रायुध मुनि वार्षिकी प्रतिमा पूर्ण कर विशिष्ट तप करते हुए विचरने लगे। राजा सहस्रायुध राज्य चला रहे थे। एक बार यहाँ गणधर महाराज पिहिताश्रवजी पधारे। उनके उपदेश से वैराग्य पा कर-सहस्रायुध ने अपने पुत्र शतबल को राज्य का भार सोंप कर दीक्षित हो गया। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए उन्हें ऋषिवर वज्रायुध अनगार से मिलना हो गया। अब दोनों पिता-पुत्र साथ रह कर साधना करने लगे। अन्त में अनशन कर के आयु पूर्ण कर तीसरे ग्रैवेयक में उत्पन्न हुए।

मेघरथ नरेश

जम्बूद्वीप के पूर्व-महाविदेह में पुष्कलावती नाम का विजय था। सीता नदी के तीर पर पुंडरीकिनी नाम की नगरी थी। धनरथ नाम का महाबली राजा वहाँ राज करता था। प्रियमती और मनोरमा ये दो महारानियाँ थीं। वज्रायुध मुनि का जीव, ग्रैवेयक से च्यव कर महादेवी प्रियमती की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। महारानी ने स्वप्नावस्था में गर्जन करता, बरसता और विद्युत् प्रकाश फैलाता हुआ एक मेघ-खण्ड अपने मुँह में प्रवेश करता हुआ देखा। स्वप्न का फल बतलाते हुए महाराज ने कहा—'तुम्हारे गर्भ में कोई उत्तम जीव, आया है। वह मेघ के समान पृथ्वी के ताप को मिटा कर शांति करने वाला होगा।' सहस्रायुद्ध का जीव भी ग्रैवेयक से च्यव कर महादेवी मनोरमा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। इसके प्रभाव से महारानी ने स्वप्न में एक ध्वजापताका से युक्त सुसज्जित रथ, मुँह में प्रवेश करता हुआ देखा। महारानी ने अपने स्वप्न की बात महाराज को सुनाई, तो उन्होंने स्वप्न का फल बतलाते हुए कहा—'आपका पुत्र महारथी—महान् योद्धा होगा। यथासमय दोनों महारानियों ने पुत्र को जन्म दिया। महाराज ने महारानी प्रियमती के पुत्र का नाम 'मेघरथ' और महारानी मनोरमा के पुत्र का नाम 'दृढ़रथ' रखा। दोनों भाई क्रमश: बढ़ने लगे। उनमें आपस में गहरा स्नेह था। वे यौवनवय को प्राप्त हुए। वे रूप, तेज और कला में सर्वोत्तम थे। एक बार सुमन्दिरपुर के महाराजा निहतशत्रु का मन्त्री, महाराजा धनरथ की राजसभा में आया और निवेदन किया—महाराजा निहतशत्रु, आपसे निकट का सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। उनके तीन पुत्रियाँ हैं। वे तीनों ही बड़ी गुणवती, विदुषी एवं देवकन्या के समान हैं। मेरे स्वामी आपसे निवेदन करते हैं कि—मेरी दो पुत्रियाँ राजकुमार मेघरथ के लिए और एक राजकुमार दृढरथ के लिए स्वीकार कीजिए।' महाराजा धनरथ ने सम्बन्ध स्वीकार कर लिया और शुभ मुहूर्त में आगत मन्त्री के साथ अंगरक्षक सेना और मन्त्री आदि सहित दोनों राजकुमारों को भेज दिया। मार्ग में सुरेन्द्रदत्त राजा के राज्य की सीमा पड़ती थी। जब सुरेन्द्रदत्त को दोनों राजकुमारों के सेना सहित राज्य की सीमा में होकर सुमन्दिरपुर जाने की बात मालूम हुई, तो उसने अपने सीमारक्षक को भेज कर उनका प्रवेश रोकना चाहा और अन्य मार्ग से हो कर जाने का निर्देश दिया। राजकुमारों ने कहा—हमारे लिए ही मार्ग अवरुद्ध करना न तो मैत्रीपूर्ण है, न नैतिक ही। यह सार्वजनिक मार्ग है। इसको किसी व्यक्ति विशेष के लिए रोक नहीं की जा सकती।" वे नहीं माने और युद्ध खड़ा हो गया। राजा सुरेन्द्रदत्त और उसका युवराज बड़ी सेना ले कर आ गये। भयानक मारधाड़ प्रारम्भ हो गई। युद्ध की विकरालता बढ़ते

ही राजकुमारों के अंगरक्षकों का टिकना असंभव हो गया। वे युद्ध में ठहर नहीं सके और भाग खड़े हुए। यह देख कर दोनों राजकुमार युद्ध-रत हो गए और शत्रु-सेना का संहार करने लगे। उन दोनों बलवीरों की मार, सुरेन्द्रदत्त की सेना सहन नहीं कर सकीं और युद्ध-स्थल से भाग गई। यह देख कर राजा सुरेन्द्रदत्त और उसका राजकुमार भी मैदान में आ गया। दोनों का जम कर युद्ध हुआ, किन्तु वे सफल नहीं हो सके। दोनों राजकुमारों ने उन्हें हरा कर अपना वन्दी बना लिया और उस राज्य पर अपनी आज्ञा चला कर आगे बढ़ गए। जब वे सुमन्दिरपुर के निकट पहुँचे, तो महाराजा निहतशत्रु, उनके स्वागत के लिए सामने आया और दोनों राजकुमारों का आलिंगन कर के मस्तक पर चुम्बन किया। शुभ मुहूर्त में राजकुमारी प्रियमित्रा और मनोरमा, इन दो बड़ी पुत्रियों का लग्न मेघरथ कुमार के साथ और छोटी पुत्री राजकुमारी सुमति का लग्न राजकुमार दृढ़रथ के साथ किया। दोनों राजकुमार अपनी पत्नियों और विपुल समृद्धि के साथ अपने नगर की ओर चले। मार्ग में उन्होंने पराजित राजा सुरेन्द्रदत्त और उसके पुत्र को राज्याधिकार प्रदान कर दिया और अपने नगर में आये। वे सुखोपभोग पूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे। कालान्तर में राजकुमार मेघरथ की रानी प्रियमित्रा ने नन्दीसेन नामक पुत्र को और रानी मनोरमा ने मेघसेन नामक पुत्र को जन्म दिया। राजकुमार दृढ़रथ की पत्नी सुमति ने भी एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम रथसेन रखा गया।

कुर्कुट कथा

एक दिन महाराजा धनरथ अपने अन्तःपुर में रानियों, पुत्रों और पौत्रों के साथ विविध प्रकार के विनोद कर रहे थे कि सुरसेना नाम की गणिका, हाथ में एक कुर्कुट ले कर आई और निवेदन करने लगी;—

"देव ! मेरा यह मुर्गा अपनी जाति में सर्वोत्तम है, मुकुट के समान है। इसे दूसरा कोई भी मुर्गा जीत नहीं सकता। यदि किसी दूसरे व्यक्ति का मुर्गा, मेरे मुर्गे को जीत ले, तो मैं उसे एक लाख स्वर्ण-मुद्रा देने को तत्पर हूँ। यदि किसी के पास ऐसा मुर्गा हो, तो वह मेरे इस दाव को जीत सकता है।"

गणिका की उपरोक्त प्रतिज्ञा सुन कर युवराज्ञी मनोरमा ने कहा;—"मेरा मुर्गा, सुरसेना के मुर्गे के साथ लड़ेगा।" महाराज ने स्वीकृति दे दी। युवराज्ञी ने दासी को

भेज कर अपना वज्रतुंड नामक कुर्कुट मँगाया। दोनों कुर्कुट आमने-सामने खड़े किये गये। वे दोनों आपस में लड़ने लगे। बहुत देर तक लड़ते रहे, परंतु दोनों में से न तो कोई विजयी हुआ न पराजित। तब महाराज धनरथ ने कहा—'इन दोनों में से कोई एक किसी दूसरे पर विजय प्राप्त नहीं कर सकेगा।"

"क्यों नहीं जीत सकेगा ? क्या कारण है—पिताश्री इसका"—युवराज मेघरथ ने पूछा।

"इसका कारण इनके पूर्व-भव से सम्बन्धित है"—महाराजा धनरथ, अपने विशिष्ट ज्ञान से उन कुर्कुटों के पूर्वभव का वृत्तांत सुनाने लगे;—

"इस जम्बूद्वीप के ऐरवत क्षेत्र में रत्नपुर नाम का समृद्ध नगर था। वहाँ 'धनवसु' और 'दत्त' नाम के दो व्यापारी रहते थे। उनमें परस्पर गाढ़-मैत्री थी। उन दोनों में धनलोलुपता बहुत अधिक थी। वे व्यापारार्थ गाड़ियों में सामान भर कर विदेशों में भटकते ही रहते थे। वे भूखे, प्यासे, शीत, ताप आदि सहते हुए और बैलों पर अधिक भार भर कर उन्हें ताड़ना-तर्जना करते हुए, उनकी पीठ पर शूल भोंकते हुए फिरते रहते थे। वे शांति से भोजन भी नहीं कर सकते थे। चलते-चलते खाते और रूखा सूखा खा कर मात्र धन के लोभ में ही लगे रहते। खोटे तोल-नाप करते। कपट और ठगाई उनके रगरग में भरी रहती थी। वे मिथ्यात्व में रत रहते थे। धर्म की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता था। वे आर्त्तध्यान में ही लगे रहते थे। अपने ऐसे दुष्कर्म से उन्होंने तिर्यंच गति का आयुष्य बांध कर मरे और सुवर्णकूला नदी के किनारे दो हाथी के रूप में पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुए। एक का नाम 'ताम्रकलश' और दूसरे का 'कांचनकलश' था। वे दोनों यौवनवय प्राप्त होने पर नदी किनारे के वृक्षों को तोड़ते-गिराते हुए और अपने यूथ के साथ घूमते-फिरते तथा विहार करते रहते थे। एक दिन दोनों यूथपति गजेन्द्रों का मिलना हो गया। वे दोनों एक दूसरे को देखने लगे। उनके मन में रोष की भावना प्रज्वलित हुई। दोनों आपस में लड़ने लगे और एक दूसरे को मार डालने के लिए प्रहार करने लगे। अन्त में दोनों हाथी लड़ते-लड़ते मर गये। मृत्यु पा कर वे अयोध्या नगरी के पशु-पालक नन्दीमित्र के यहाँ महिषी के गर्भ से उत्पन्न हुए। यौवनवय में वे बलवान और प्रचण्ड भैंसे दिखाई देने लगे। वे विशाल डील-डौल वाले और आकर्षक थे। एक बार वहाँ के राजकुमार धनसेन और नन्दीसेन ने उन यमराज जैसे भैंसे को देखा। उन्होंने दोनों महिषों को लड़ाया। वे दोनों लड़ते-लड़ते मर कर उसी नगरी में मेंढे जन्मे। वहाँ भी वे दोनों आपस में लड़ मरे और कुर्कुट योनि में जन्मे। ये दोनों वे ही मुर्गे हैं।

महाराज की बात पूर्ण होने पर युवराज मेघरथ ने कहा "ये दोनों पूर्वभव के शत्रु तो हैं ही, विशेष में विद्याधरों से अधिष्ठित भी हैं।" राजा ने युवराज को विद्याधरों से अधिष्ठित होने का वृत्तांत कहने का संकेत किया। युवराज कहने लगे; —

"वैताढय पर्वत की उत्तर श्रेणी के स्वर्णनाभ नगर में 'गरुड़वेग' नाम का राजा था, धृतिसेना उसकी रानी थी। उनके चन्द्रतिलक और सूर्यतिलक नाम के दो पुत्र थे। यौवनवय में वे कुमार, वन-विहार करते हुए उस स्थान पर पहुँच गए जहाँ मुनिराज श्रीसागरचन्दजी एक शिला पर ध्यानस्थ बैठे हुए थे। मुनिराज को वंदना नमस्कार कर के दोनों राजकुमार बैठ गए। मुनिराज ने ध्यान पालने के बाद दोनों राजकुमारों को धर्मोपदेश दिया। मुनिराज विशिष्ट ज्ञानी और लब्धिधारी थे। राजकुमारों के अपने पूर्वभव सम्बन्धी पृच्छा करने पर मुनिराजश्री कहने लगे; —

"धातकीखण्ड के पूर्व ऐरवत क्षेत्र में वज्रपुर नगर था। वहाँ अभयघोष नाम का दयालु राजा था। स्वर्णतिलका उसकी रानी थी। विजय और वैजयंत नाम के उसके दो कुमार थे। वे शिक्षित एवं कलाविद हो कर यौवनवय को प्राप्त हुए। उस समय उसी क्षेत्र के स्वर्णद्रुम नगर में शंख राजा की पृथ्वीसेना नाम की पुत्री थी। वह भी रूप गुण और अनेक प्रकार की विशेषताओं से युक्त थी। उसका विवाह महाराज अभयघोष के साथ हुआ। एकबार राजा, रानियों के साथ वन-विहार कर रहे थे। रानी पृथ्वीसेना वन की शोभा देखती हुई कुछ आगे निकल गई। उसने वहाँ एक तपस्वी ज्ञानी मुनि को वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ बैठे देखा। वह उनके समीप गई और भक्तिपूर्वक वंदना की। मुनिराज का उपदेश सुन कर वह संसार से विरक्त हो गई और राजा की आज्ञा ले कर संयम स्वीकार कर लिया।

कालान्तर में महाराज अजयघोष के यहाँ छद्मस्थ अवस्था में विचरते हुए श्रीअनंत अरिहंत पधारे। राजा ने उत्कट भाव-भक्तिपूर्वक आहार दान दिया और अरिहंत ने वहीं अपनी तपस्या का पारणा किया। पंच दिव्य की वृष्टि हुई। कालान्तर में वे ही अरिहंत भगवान् केवली अवस्था में वहाँ पधारे और धर्मोपदेश दिया। महाराज विरक्त हो गए। उन्होंने राजकुमारों को राज्य का भार ग्रहण करने के लिए कहा। किन्तु वे भी प्रव्रजित होने के लिए तत्पर थे। अतएव उन्होंने राज्यभार ग्रहण नहीं किया। अंत में अन्य योग्य व्यक्ति को राज्यभार सौंप कर महाराजा और दोनों राजकुमार निर्ग्रंथ हो गए। मुनिराज श्री अभयघोषजी ने दीक्षित होने के बाद उग्र तप एवं उच्च आराधना प्रारंभ कर दी। उन्होंने भावों की विशिष्ठता से तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध कर लिया और आयु पूर्ण कर

तीनों पिता-पुत्र अच्युतकल्प में २२ सागरोपम की स्थिति वाले देव हुए।

इस जम्बूद्वीप के पूर्वमहाविदेह के पुष्कलावती विजय में पुंडरीकिनी नगरी थी। हेमांगद राजा राज करता था। वज्रमालिनी नामक महारानी उनकी हृदयेश्वरी थी। मुनिराज श्रीअभयघोषजी का जीव, अच्युतकल्प से च्यव कर चौदह महास्वप्न पूर्वक महारानी वज्रमालिनी की कुक्षि में उत्पन्न हुए। जन्म होने पर इन्द्रों ने उनका जन्मोत्सव किया। उनका नाम 'धनरथ' रखा गया। वे द्रव्य-तीर्थंकर अभी गृहवास में विद्यमान हैं। तुम विजय और वैजयंत के जीव, देवलोक से च्यव कर चन्द्रतिलक सूर्यतिलक नाम के विद्याधर हुए हो।

"दोनों राजकुमार अपना पूर्वभव जान कर प्रसन्न हुए और मुनिवर को नमस्कार कर के अपने पूर्वजन्म के पिता (आप) को देखने के लिए भक्तिपूर्वक यहाँ आये। उन्होंने कौतुकपूर्वक इन मुर्गों में प्रवेश कर के युद्ध का आयोजन किया। यह आपके दर्शन के लिये किया है। यहाँ से मुनिश्री भोगवर्द्धनजी के पास जा कर दीक्षा लेंगे और कर्म क्षय कर मोक्ष जावेंगे।"

उपरोक्त वृत्तांत सुन कर वे दोनों विद्याधर कुमार प्रकट हुए और अपने पूर्वभव के पिता महाराजा धनरथजी को नमस्कार कर के अपने स्थान पर चले गये।

दोनों कुर्कुट ने भी उपरोक्त वृत्तांत सुना और विचार करने लगे। उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हुआ। उन्होंने अपने पूर्वभव देखे और सोचने लगे कि;—

"अहो! यह संसार कितना भय और क्लेश से परिपूर्ण है। हमने मनुष्य-जन्म पा कर पापों के संग्रह में ही समाप्त कर दिया और पुनः मनुष्य-भव पाना भी दुर्लभ बना दिया।" उन्हें बहुत पश्चात्ताप हुआ। वे अपनी भाषा में धनरथ महाराज से कहने लगे;—

"हे देव! कृपया बताइये कि हम अपनी आत्मा का उद्धार किस प्रकार करें।"

द्रव्य तीर्थंकर महाराजा धनरथजी ने कहा—

"तुम अरिहंत देव, निर्ग्रंथ गुरु और जिन प्ररूपित दयामय धर्म का शरण ग्रहण करो। इसी से तुम्हारा कल्याण होगा।"

महाराजा धनरथजी का वचन सुन कर वे संवेग को प्राप्त हुए। उनके मन में धर्मभाव उत्पन्न हुआ और उसी समय अनशन कर लिया। वे मृत्यु पा कर भूतरत्ना नाम की अटवी में 'ताम्रचूल' और 'स्वर्णचूल' नाम के दो महर्द्धिक भूतनायक देव हुए। अवधिज्ञान से अपने पूर्वभव को देख कर वे अपने उपकारी महाराजा मेघरथजी के पास

आये और भक्तिपूर्वक प्रणाम कर के कहने लगे;—

"महाराज ! आपकी कृपा से हम तिर्यंच की दुर्गति को छोड़ कर व्यंतर देव हुए हैं। यदि आपकी कृपा नहीं होती, तो हम पाप में ही पड़े रहते और प्रतिदिन हजारों कीड़ों का भक्षण कर के पाप का भार बढ़ाते ही रहते और दुर्गति की परम्परा चलती रहती। आप हमारे परम उपकारी हैं। हमारी प्रार्थना है कि आप हमें कुछ सेवा करने का अवसर प्रदान करें। आप तो ज्ञान से सब जानते हैं, किन्तु हम पर अनुग्रह कर के विमान पर बैठ-कर पृथ्वी के विविध दृश्यों का अवलोकन करें।" युवराज मेघरथ ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और परिवार सहित विमान में बैठ कर रवाना हुए। वे वन, उपवन, पर्वत, नदियाँ, समुद्र, नगर और सभी रमणीय स्थानों को देखते हुए मानुषोत्तर पर्वत तक गये। देवों ने उन्हें प्रत्येक क्षेत्र और स्थान का वर्णन कर के परिचय कराया। वे मनुष्य-क्षेत्र को देख कर अपनी पुंडरीकिनी नगरी में लौट आए।

कालान्तर में लोकान्तिक देवों ने आ कर महाराजा धनरथजी से निवेदन किया—"स्वामिन् ! अब धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करें।" वे तो प्रथम से ही बोधित थे। योग्य अवसर भी आ गया था। अतएव महाराजा ने युवराज मेघरथ को राज्यभार सौंपा और राजकुमार दृढ़रथ को युवराज पद प्रदान कर वर्षीदान दिया और संसार त्याग कर घातिकर्मों को क्षय कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया, तथा तीर्थ-स्थापन कर भव्य जीवों का उद्धार करने लगे।

मेघरथ राजा का वृत्तांत

महाराजा मेघरथ, राज्य का संचालन करने लगे। अनेक राजा उनकी आज्ञा में थे। एक बार वे क्रीड़ा करने के लिए देवरमण उद्यान में गये। वे महारानी प्रियमित्रा के साथ अशोकवृक्ष के नीचे बैठ कर मधुर संगीत सुनने लगे। उस समय उनके सामने हजारों भूत आ कर नृत्य, नाटक और संगीत करने लगे। कोई लम्बोदर बन कर अपना नगाड़े जैसा मोटा पेट हिला कर अट्टहास करने लगा, कोई दुबला-पतला कृशोदर हो कर मिमियाने लगा, कोई ताड़वृक्ष से भी अधिक लम्बतड़ंग हो कर लम्बे-लम्बे डग भरने लगा, किसी की भुजा बहुत लम्बी, तो किसी का सिर मटके से भी बड़ा, कोई गले में साँपों की माला पहने हुए, जिनकी फणें इधर-उधर उठी हुई लपलपा रही है। नेवलों के भुजबन्ध, अजगर का

कन्दोरा पहन कर, बीभत्स रूप धारण कर के उछल-कूद करने लगे। कोई घोड़े के समान हिनहिनाने लगा, तो कोई हाथी-सा चिंघाड़ने लगा, इत्यादि अनेक प्रकार से ताण्डव करने लगे। वे सभी महाराजा का मनोरंजन करने लगे। इतने ही में आकाश में एक उत्तम विमान प्रकट हुआ, जिसमें एक पुरुष और एक युवती स्त्री बैठी थी। वे दोनों कामदेव और रति के समान सुन्दर थे। उन्हें देख कर महारानी ने महाराजा से पूछा—इस विमान में यह युगल कौन है ? महाराज कहने लगे;—

"वैताढ्य पर्वत की उत्तरश्रेणी में अलका नाम की उत्तम नगरी है। वहाँ विद्याधरपति विद्युद्रथ शासक है। मानसवेगा उसकी रानी है। उसके 'सिंहरथ नाम का पराक्रमी पुत्र हुआ। उस राजकुमार के वेगवती युवराज्ञी है। युवराज सिंहरथ, प्रिया के साथ जलाशयों, उपवनों और उद्यानों में क्रीड़ा करने लगा। कालान्तर में विद्युद्रथ राजा, युवराज को राज्यभार दे कर सर्वत्यागी निर्ग्रंथ बन गया और ज्ञान, ध्यान, तप और समाधि से समवहत हो, कर्म काट कर मुक्ति को प्राप्त हुए। सिंहरथ, समस्त विद्याधरों का अधिपति हुआ। कालान्तर में एक रात्रि में महाराजा सिंहरथ की नींद खुलजाने पर विचार हुआ—"मैंने अपना अमूल्य मानव-भव यों ही गँवा दिया। मैंने न तो जिनेश्वर भगवंत के दर्शन किये, न उनका धर्मोपदेश सुना। अब मुझे सब से पहले यही करना चाहिए।" ऐसा सोचकर प्रातःकाल होते ही तय्यारी कर दी और महारानी सहित धातकी-खंड द्वीप के पश्चिम विदेह में सूत्र नाम के विजय में खड्गपुर नगर में गया और वहाँ रहे हुए तीर्थंकर भगवान् अमितवाहन स्वामी के दर्शन किये। धर्मदेशना सुनी और भगवान् को वन्दन नमस्कार कर वापिस लौटा। वह अपनी राजधानी में जा ही रहा था कि यहाँ आते उसके विमान की गति स्खलित हो गई। अपने विमान की गति रुकते देख कर उसने नीचे देखा। मैं उसकी दृष्टि में आया। मुझे देख कर वह क्रोधित हुआ और मुझे उठा कर ले जाने की इच्छा से यहाँ मेरे पास आया। मैंने अपने बायें हाथ से उसके बायें हाथ पर प्रहार किया। इससे वह चिल्लाने लगा। अपने पति को कष्ट में देख कर उसकी पत्नी परिवार सहित मेरी शरण में आई। इसलिए मैंने उसे छोड़ दिया। छुटने के बाद वह विविध रूपों की विकुर्वणा करके यहाँ संगीत करने लगा।"

यह सुन कर महारानी प्रियमित्रा ने पूछा—"प्रियतम ! यह पूर्वभव में कौन था ? इसने कौनसी शुभ करणी की थी कि जिससे इतनी बड़ी ऋद्धि प्राप्त हुई ? महाराजा ने कहा—

" पुष्पकरार्द्ध द्वीप के पूर्व-भरत क्षेत्र में संघपुर नाम का एक बड़ा नगर था। वहाँ राज्यगुप्त नाम का एक गरीब कुलपुत्र रहता था। वह दूसरों की मजदूरी कर के पेट भरता था। उसके शंखिका नाम की पतिभक्ता पत्नी थी। वे दोनों मजदूरी कर के आजीविका चलाते थे। एक बार वे दोनों पति-पत्नी फल लेने के लिए वन में गये। वहाँ उन्हें मुनिराज सर्वगुप्तजी धर्मोपदेश देते हुए दिखाई दिये। वे भी धर्मसभा में बैठ गए और उपदेश सुनने लगे। उपदेश पूर्ण होने के बाद उन्होंने मुनिराज से निवेदन किया कि— 'हम गरीब हैं। हमें ऐसी तप-विधि बताइए कि जिससे हमारे पाप-कर्मों का विच्छेद हो।' मुनिराज ने उन्हें सम्यग् तप का उपदेश दिया। वे घर आ कर तप करने लगे। तप के पारणे के दिन वे किसी उत्तम त्यागी संत की प्रतीक्षा करने लगे। इतने में मुनिश्वर धृतिधरजी भिक्षाचारी के लिए पधारे। उन्होंने उन्हें भावपूर्वक प्रतिलाभित किये। कालान्तर में श्रीसर्वगुप्त मुनिराज वहाँ पधारे। प्रतिबोध पा कर दोनों ने श्रमणदीक्षा स्वीकार कर ली। राजगुप्त मुनि ने गुरु की आज्ञा से आयंबिल वर्द्धमान तप किया और अंत में अनशन कर के ब्रह्मदेवलोक में गए। वहाँ से च्यव कर यह सिंहरथ हुआ और शंखिका भी संयम तप की आराधना कर के ब्रह्मलोक में देव हुई। वहाँ से च्यव कर वह सिंहरथ की पत्नी हुई। अब यहाँ से अपने नगर में जावेंगे और पुत्र को राज्यभार सौंप कर मेरे पिताश्री के पास दीक्षा लेंगे। फिर चारित्र की विशुद्ध आराधना कर के मोक्ष प्राप्त करेंगे।

उपरोक्त वचन सुन कर महाराजा सिंहरथजी ने महाराजा मेघरथजी को नमस्कार किया और राजधानी में आ कर पुत्र को राज्य का भार दिया। फिर भगवान् धनरथजी के पास प्रव्रजित हो कर सिद्धपद को प्राप्त हुए।

यह सब बात देवरमण उद्यान में होती रही। इसके बाद महाराजा मेघरथजी उद्यान में से चल कर राजभवन में आये।

कबूतर की रक्षा में शरीर-दान

एक दिन महापराक्रमी दयासिन्धु महाराजा मेघरथजी पौषधशाला में पौषध अंगीकार कर के बैठे थे और जिनप्ररूपित धर्म का व्याख्यान कर रहे थे। उस समय एक भयभीत कबूतर आ कर उनकी गोद में बैठ गया। वह बहुत ही घबड़ाया हुआ था और काँप रहा था। उसका हृदय जोर-जोर से धड़क रहा था। वह मनुष्यों की बोली में करुणा-

पूर्ण स्वर से बोला—"**मुझे अभयदान दो, मुझे बचाओ,**" इससे आगे वह नहीं बोल सका। यह सुन कर नरेश ने कहा—"**तू निर्भय होजा। यहाँ तुझे किसी प्रकार का भय नहीं होगा।**" इन शब्दों ने परेवे के मन में शांति उत्पन्न कर दी। वह पिता के समान रक्षक नरेश की गोद में, एक बालक के समान बैठा रहा। क्षणभर बाद ही एक बाज़ पक्षी आया और कबूतर को राजा की गोद में बैठा देख कर मानव भाषा में बोला—

"महाराज ! इस कबूतर को छोड़ दीजिये। यह मेरा भक्ष्य है। मैं इसे ही खोजता हुआ आ रहा हूँ।'

"अरे बाज ! अब यह कबूतर तुझे नहीं मिल सकता। यह मेरी शरण में है। क्षत्रीय-पुत्र शरणागत की रक्षा एवं प्रतिपालना करते हैं। तुझे भी ऐसा निन्दनीय कृत्य नहीं करना चाहिए। किसी प्राणी का भक्षण करना कभी हितकर नहीं होता। क्षणिक सुख में लुब्ध हो कर तू मांस-भक्षण करता है, किन्तु यह क्षणिक सुख, भवान्तर में हजारों-लाखों वर्षों पल्योंपमों और सागरोपमों तक नरक के भीषण दुःख का कारण बन जाता है। क्षणिक सुख के लिए निरपराध—अशक्त प्राणियों के प्राण हरण कर के दीर्घकालीन महादुःख का महाभार बढ़ाना मूर्खता है। जैसे तुझे दुःख अप्रिय है, वैसे ही इस कबूतर को भी दुःख अप्रिय है। यदि तेरा एक पंख उखाड़ लिया जाय, तो तुझे कितना कष्ट होगा ? तब बिचारे इस कबूतर का जीवन ही समाप्त करने पर इसे दुःख नहीं होगा क्या ? तू बुद्धिमान है। तुझे विचार करना चाहिए कि पूर्वभव में किये हुए पाप के कारण तो तू देव और मनुष्य जैसी उत्तम गति से वंचित रह कर तिर्यंच की अशुभ गति पाया और अब भी पाप-कर्म करता रहेगा, तो भविष्य में तेरा क्या होगा ? सोच, समझ और दुष्कर्म का त्याग कर, अपने शेष जीवन को सुधार ले।

यदि तुझे क्षुधा मिटाना है, तो दूसरा निर्दोष भोजन तुझे मिल सकता है। पित्ताग्नि का दूध से भी शमन होता है और मिश्री आदि से भी। इसलिए तुझे निर्दयता छोड़ कर अहिंसक वृत्ति अपनानी चाहिए"—महाराजा मेघरथजी ने बाज को समझाते हुए कहा।

"महाराज ! आप विचार करें"—बाज राजा को सम्बोधन कर कहने लगा—"जिस प्रकार यह कबूतर मृत्यु के भय से बचने के लिए आपके पास आया, उसी प्रकार मैं भी क्षुधा से पीड़ित हो कर इसे खाने के लिए आया हूँ। यदि मैं इसे नहीं खाऊँ, तो किसे खाऊँ ? अपने जीवन को कैसे बचाऊँ ? आप कबूतर की रक्षा करते हैं, तो मेरी भी रक्षा कीजिए। मुझे भूख से तड़पते हुए मरने से बचाइए। प्राणी जबतक भूखा रहता है, तबतक

वह धर्म-पुण्य का विचार नहीं कर सकता। क्षुधा शांत होने पर ही धर्मकर्म का विचार होता है। इसलिए धर्माधर्म की बातें छोड़ कर मेरा भक्ष्य—यह कबूतर मुझे दीजिये। मैं क्षुधा मिटाने के बाद आपका धर्मोपदेश अवश्य सुनूंगा। आप एक की रक्षा करते हैं और दूसरे को भूख से मरने का उपदेश करते हैं, यह कैसा न्याय है? यह कबूतर मेरा भक्ष्य है। मैं ताजा मांस ही खाता हूँ। इसीसे मेरी तृप्ति होती है। दूसरी कोई वस्तु मुझे रुचि-कर नहीं होती। इसलिए निवेदन है कि यह कबूतर मुझे सौंप कर मुझ पर उपकार कीजिए।"

"क्या तू मांस ही खाता है? दूसरा कुछ भी नहीं खा सकता? यदि ऐसा ही है, तो ले, मैं तेरी इच्छा पूरी करने को तत्पर हूँ। मैं मेरे शरीर का ताजा मांस इस कबूतर के बराबर तुझे देता हूँ। तू अपनी इच्छा पूरी कर"—महाराजा मेघरथजी ने धैर्य्य और शांतिपूर्वक कहा।

बाज ने नरेश की बात स्वीकार कर ली। छुरी और तराजु मँगवाया। तराजु के एक पल्ले में कपोत को बिठाया और महाराज स्वयं अपने शरीर का मांस काट कर दूसरे पल्ले में रखने लगे। यह देख कर राज्य-परिवार हाहाकार कर उठा। रानियाँ, राजकुमार आदि आक्रन्द करने लगे। मन्त्रीगण, सामन्त और मित्रगण नरेन्द्र से प्रार्थना करने लगे,—

"हे, प्रभो! हे नाथ! आप यह क्या अनर्थ कर रहे हैं। आपका यह देवोपम शरीर, एक क्षुद्र प्राणी का ही रक्षक नहीं है, इससे तो सारी पृथ्वी का रक्षण होता है। आप इस एक के लिए अपने मूल्यवान् प्राणों को क्यों नष्ट कर रहे हैं? सोचो प्रभु! हम सब के दुःख को देखो। हम पर दया करो। हम भी आप से दया की भीख माँगते हैं। हमें आपके इस दुःसाहस से महान् दुःख हो रहा है।"

नरेश ने शांत और गंभीर वाणी से कहा—

"आत्मीयजनों! यह कबूतर मृत्युभय से भयभीत हो कर मेरी शरण में आया। मैंने इसे शरण दी। इसकी रक्षा करना मेरा आवश्यक कर्त्तव्य है। यद्यपि मैं इस बाज की उपेक्षा कर के या बन्दी बना कर भी कबूतर को बचा सकता था, किन्तु यह भी भूखा है और अपना भोजन चाहता है। यदि यह केवल वैर या शत्रुता से ही इसे मारने के लिए आता, तो वह बात दूसरी थी। यह मांसभक्षी है। इसे मांस चाहिए। यदि मैं कबूतर की रक्षा करना चाहता हूँ, तो इसकी भूख को दूर करना भी आवश्यक है। यह मांस के बिना दूसरी कोई वस्तु नहीं खाता। अब इसे भूख से तड़पने देना भी मुझे इष्ट

नहीं है। इसके अतिरिक्त इसका पेट भरने के लिए मैं दूसरे पशु को मार कर उसका मांस खिलाना भी उचित नहीं समझता, तब दूसरा मार्ग ही क्या है ?

आप सब अपने मोह एवं स्नेह से प्रेरित हैं और इसीसे आपको यह दुःख हो रहा है। मैं अपने कर्तव्य का पालन कर रहा हूँ। आप धैर्यपूर्वक मुझे अपने कर्तव्य का पालन करने दें।"

मन्त्रीगण समझ गये कि महाराज अपने कर्त्तव्य से डिगने वाले नहीं हैं। अब क्या करें। वे यह सोच ही रहे थे कि बाज बोल उठा;—

"महाराज ! मेरे पेट में दर्द हो रहा है। शीघ्रता कीजिए। मुझे जोरदार भूख लगी है। विलम्ब होने पर तेज हुई मेरी जठराग्नि, कहीं मेरे जीवन को समाप्त कर देगी। आह !"

मन्त्रीगण बाज को समझाने लगे—"अरे बाज ! तू तो कुछ दया कर—हम सब पर। हम तुझे मेवा-मिष्ठान्न आदि जो कुछ तू माँगे वह देने को तय्यार हैं। तू उत्तम वस्तु खा ले—उम्रभर खाता रह। परन्तु महाराज का मांस खाने की हठ छोड़ दे। हम सब पर तेरा बड़ा उपकार होगा।"

"मुझे तो ताजा मांस चाहिए, फिर चाहे वह कबूतर का हो, दूसरे किसी प्राणी का हो, या महाराज का हो। मांस के अतिरिक्त मेरे लिए कोई भी वस्तु न तो रुचिकर है, न अनुकूल ही। अब आप बातें करना बन्द कर दें। भूख की ज्वाला में मेरा रक्त जल रहा है। आह, महाराज ! बड़ा दर्द हो रहा है पेट में"—बाज भूमि पर लौटने लगा।

महाराजा मेघरथजी अपने हाथ से अपने शरीर का मांस काट कर तराजु में धरते जाते, किन्तु तराजु का पलड़ा ऊँचा ही रहने लगा। कबूतर का पलड़ा ऊपर उठा ही नहीं। वे छुरे से अपना मांस काट कर रखते जाते और जनसमूह आक्रन्द करता जाता, परंतु कबूतर का पलड़ा भारी ही रहा। शरीर के कई भागों का मांस काट-काट कर रख दिया। इससे महाराजा को तीव्र वेदना हुई ही होगी, किन्तु वे निरुत्साह नहीं हुए। उनके भावों में विचलितता नहीं आई। एक मन्त्री बोल उठा—

"महाराज ! धोखा है। कोई मायावी शत्रु देव, षड्यन्त्र रच कर आपका जीवन समाप्त करना चाहता है। यदि ऐसा नहीं होता, तो क्या इतना मांस काट कर रख देने पर भी कबूतर का पलड़ा भारी रह सकता है ?"

मन्त्री यों कह रहा था कि वहाँ एक दिव्य मुकुट-कुंडलादि आभूषणधारी देव प्रकट हुआ और महाराज का जय-जयकार करता हुआ बोला—

"जय हो, शरणागत-रक्षक महामानव नरेन्द्र मेघरथ की जय हो, विजय हो। आपकी गुणगाथा देवाधिपति ईशानेन्द्र महाराज ने दूसरे देवलोक की देव-सभा में गाई। आप देवेन्द्र द्वारा प्रशंसित हैं। मैं भी उस देव-सभा में था। मुझे आपकी प्रशंसा सुन कर, देवेन्द्र की बात पर विश्वास नहीं हुआ। इसलिए परीक्षा करने के लिए यहाँ आया। मार्ग में मैंने इन दोनों पक्षियों को लड़ते हुए देखा, तो मैं उनमें प्रवेश कर आपके पास आया और आपकी महान् अनुकम्पा, शरणागत प्रतिपालकता एवं दृढ़ आत्मबल की परीक्षा की। इससे आपको कष्ट हुआ। मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ। आप मुझे क्षमा करें।"

इस प्रकार देव ने निवेदन किया और राजेन्द्र को स्वस्थ बना कर स्वर्ग में चला गया।

देव के चले जाने के बाद सामंतों ने महाराजा से पूछा—"स्वामिन् ! यह कबूतर और बाज परस्पर वैर क्यों रख रहे हैं ? ये पूर्वभव में कौन थे ?" महाराजा मेघरथ, अवधिज्ञान से उनका पूर्वभव जान कर कहने लगे।

"ये दोनों ऐरवत क्षेत्र के पद्मिनीखंड नगर के सेठ सागरदत्त के पुत्र थे। ये व्यापारार्थ विदेश गये। विदेश में इन्हें एक बहुमूल्य रत्न प्राप्त हुआ। उस रत्न को लेने के लिए वे नदी के किनारे लड़ने लगे। लड़ते-लड़ते वे दोनों नदी में गिर पड़े और मर कर पक्षी हुए। अब भी दोनों आपस में लड़ रहे हैं। अब उस देव का वृत्तांत सुनो।

इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में रमणीय नाम का विजय है। उसमें शुभा नाम की नगरी है। स्तिमितसागर नाम का राजा वहाँ राज करता था। मैं पूर्व के पाँचवें भव में 'अपराजित' नाम का उनका पुत्र था और बलदेव* पद पर अधिष्ठित था। यह दृढ़रथ उस समय मेरा छोटा भाई 'अनन्तवीर्य' नाम का वासुदेव था। उस समय दमितारि नाम का प्रतिवासुदेव था। उसकी कनकश्री कन्या के लिए हमने उसे युद्ध में मारडाला था। वह भव-भ्रमण करता हुआ सोमप्रभ नामक तापस का पुत्र हुआ। वह बाल-तप करता रहा और मर कर सुरूप नाम का देव हुआ। ईशानेन्द्र ने मेरी प्रशंसा की। उस प्रशंसा ने सुरूप-देव की आत्मा में रहा हुआ पूर्वभव का वैर जाग्रत कर दिया। वह देव यहाँ आया और इन पक्षियों में अधिष्ठित हो कर मेरी परीक्षा लेने लगा।"

महाराजा मेघरथ की बात सुन कर बाज और कबूतर को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। वे मूर्च्छित हो कर भूमि पर गिर पड़े। राज-सेवकों ने उन पर हवा की और पानी

* यह वृत्तांत पृष्ट ३१६ पर देखें।

के छिंटे दिये। वे होश में आये और अपनी भाषा में बोले;—

"स्वामिन्! आपने हमें अन्धकार में से निकाला और प्रकाश में ला कर रख दिया। हमारे पूर्वभव के पाप ने ही हमें इस दुर्दशा में डाला था। और यहाँ भी हम नरक में जाने की तय्यारी कर रहे थे। किन्तु आपने हमें नरक की गहरी खाड़ में पड़ने से बचा लिया। अब हमें कुमार्ग से बचा कर सन्मार्ग पर लगाने की कृपा करें, जिससे हमारा उत्थान हो।"

महाराजा ने अवधिज्ञान से उनका आयुष्य और योग्यता जान कर अनशन करने की सूचना की। वे दोनों अनशन कर के मृत्यु पा कर भवनपति देव हुए।

इन्द्रानियों ने परीक्षा ली

महाराजा मेघरथजी कालान्तर में शांत रस में लीन हो कर पौषध युक्त अष्टम तप कर रहे थे। वे धर्मध्यान में निमग्न थे। उनकी परम वैराग्यमय दशा की ओर ईशानेन्द्र का ध्यान गया। वे तत्काल बोल उठे—'हे भगवन्! आपको मेरा नमस्कार हो"—यों कहते हुए नमस्कार करने लगे। यह देख कर इन्द्रानियों ने पूछा—"स्वामिन्! आपके सम्मुख असंख्य देव नमस्कार करते हैं, फिर ऐसा कौन भाग्यशाली है कि जिन्हें आप नमस्कार कर रहे हैं?"

—"वे महापुरुष कोई देव नहीं, किन्तु एक भाग्यशाली मनुष्य है। तिरछे लोक में पुण्डरीकिनी नगरी के नरेश मेघरथजी को मैंने नमस्कार किया है। वे अभी धर्मध्यान में लीन हैं। ये महापुरुष आगामी मानव-भव में तीर्थंकर पद प्राप्त करेंगे। उनका ध्यान इतना निश्चल, अडोल एवं दृढ़ है कि उन्हें चलायमान करने में कोई भी देव समर्थ नहीं है। वे महापुरुष विश्वभर के विए वंदनीय है।"

इंद्र की बात सुन कर अन्य देवांगनाओं के मन में भी भक्ति उत्पन्न हुई, किन्तु सुरूपा और प्रतिरूपा नाम की दो इन्द्रानियों को यह बात नहीं रुचि। वे मेघरथजी को चलायमान करने के लिये उनके पास आई। उन्होंने वैक्रेय से परम सुन्दरी एवं देवांगना जैसी कुछ युवतियां तय्यार की। वे हाव-भाव, तथा कामोद्दीपक विकारी-चेष्टाएँ करने लगीं। किंतु महान् आत्मा मेघरथजी अपने ध्यान में अडोल ही रहे। अन्त में दोनों इन्द्रानियाँ हारी और वन्दना-नमस्कार कर के चली गई। कालान्तर में तीर्थंकर भगवान् घनरथजी ग्रामानुग्राम विहार करते वहाँ पधारे। महाराजा मेघरथजी सपरिवार भगवान् को वन्दन

करने गए। भगवान् की धर्मदेशना सुन कर उनकी विरक्ति विशेष बलवती हुई। वे युवराज दृढ़रथ को शासन का भार सौंपने लगे, किन्तु वह भी संसार से विरक्त हो गया था। उसने भी उन के साथ ही प्रव्रजित होने की इच्छा व्यक्त की। छोटे राजकुमार मेघसेन को शासन का भार दिया और युवराज दृढ़रथ के पुत्र रथसेन को युवराज पद दिया। इसके बाद राजा मेघसेन ने, मेघरथ नरेश का निष्क्रमणोत्सव किया। श्री मेघरथजी के साथ उनके भाई दृढ़रथ, सात सौ पुत्र और चार हजार राजाओं ने भी निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या ग्रहण की। विशुद्ध संयम और उग्र तप करते हुए उन्होंने एक लाख पूर्व तक चारित्र का पालन किया तथा विशुद्ध भावों से आराधना करते हुए तीर्थंकर नामकर्म को निकाचित किया। वे अनशन युक्त आयु पूर्ण कर के सर्वार्थसिद्ध महाविमान में ३३ सागरोपम की स्थिति वाले देव हुए। मुनिराज श्री दृढ़रथजी भी वहीं उत्पन्न हुए।

भगवान् शान्तिनाथ का जन्म

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में कुरुदेश में हस्तीनापुर नाम का नगर था। वह विशाल नगर उच्च भवनों और ध्वजा-पताकाओं से सुशोभित था। सुशोभित बाजारों, बाग-बगीचों, उद्यानों और स्वच्छ जलाशयों की शोभा से दर्शनीय था और धन-धान्य से परिपूर्ण था।

उस नगर पर इक्ष्वाकु वंश के महाराजा 'विश्वसेनजी' का राज्य था। वे प्रतापी, शूरवीर, न्यायप्रिय और राजाओं के अनेक गुणों से युक्त थे। उनके प्रखर तेज के आगे अन्य राजा और शक्तिमान् ईर्षालु सामन्त, दबे रहते और नत-मस्तक हो कर उनकी कृपा के इच्छुक रहते थे। उनके आश्रय में आये हुए लोक, निर्भय और सुखी रहते थे। महाराजा विश्वसेनजी के 'अचिरादेवी' नाम की रानी थी। वह रूप लावण्य एवं सुलक्षणों से युक्त तो थी ही, साथ ही सद्गुणों की खान भी थी। वह सती शीलवती अपने उच्च राजवंश को सुशोभित करती थी। महाराजा और महारानी में प्रगाढ़ प्रीति थी। उन दोनों का समय सुखपूर्वक व्यतीत हो रहा था। उस समय अनुत्तर विमानों में मुख्य ऐसे सर्वार्थसिद्ध महाविमान में मेघरथजी का जीव अपनी तेतीस सागरोपम की सुखमय आयु पूर्ण कर चुका था। वह वहाँ से भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को भरणी नक्षत्र में च्यव कर महारानी अचिरादेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। महारानी ने स्वप्नों की बात

महाराजा से कही। स्वप्न सुन कर महाराज बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'महादेवी! आपकी कुक्षि में कोई लोकोत्तम महापुरुष आया है। वह त्रिलोक-पूज्य और परम रक्षक होगा।' प्रातःकाल भविष्यवेत्ता—स्वप्न-शास्त्रियों को बुलाया गया। उन्होंने स्वप्न-फल बतलाते हुए कहा—

"महाराज! आपके इक्ष्वाकु वंश को पहले आदि जिनेश्वर और आदि चक्रवर्ती, आदि लोकोत्तम महापुरुषों ने सुशोभित किया। अब फिर कोई चक्रवर्ती सम्राट अथवा धर्म-चक्रवर्ती—तीर्थंकर पद को सुशोभित करने वाली महान् आत्मा का पदार्पण हुआ है। आप महान् भाग्यशाली हैं—स्वामी!"

स्वप्न पाठकों का सत्कार कर के और बहुत-सा धन दे कर बिदा किया। उस समय पहले से ही कुरुदेश में महामारी फैल रही थी। उग्र रूप से रोगातंक फैल चुका था। उस व्यापक महामारी का शमन करने के लिए बहुत-से उपाय किये, किन्तु सभी उपाय व्यर्थ गये। महारानी अचिरादेवी की कुक्षि में आये गर्भस्थ उत्तम जीव के प्रभाव से महामारी एकदम शान्त हो गई। सर्वत्र ही शान्ति व्याप्त हो गई।

गर्भ स्थिति पूर्ण होने पर ज्येष्ठ मास के कृष्णपक्ष की त्रयोदशी के दिन भरणी नक्षत्र में—जब सभी ग्रह उच्च स्थान पर थे, पुत्र का जन्म हुआ। उस समय तीनों लोक में उद्योत हुआ और नारकी जीवों को भी कुछ देर के लिए सुख का अनुभव हुआ। दिशा-कुमारियें आई, इन्द्र आये और मेरुगिरि पर जन्मोत्सव किया। महाराजा विश्वसेनजी ने भी जन्मोत्सव मनाया। पुत्र के गर्भ में आते ही महामारी एकदम शांत हो गई। इसलिए पुत्र का नाम 'शांतिनाथ' दिया गया। यौवनवय प्राप्त होने पर राजकुमार शांतिनाथ का अनेक राजकन्याओं के साथ विवाह किया। राजकुमार पचीस हजार वर्ष की वय में आये, तब महाराजा विश्वसेनजी ने राज्य का भार पुत्र को दे दिया और आप अपना आत्महित साधने लगे। श्री शांतिनाथजी यथाविधि राज्य का संचालन करने लगे और निकाचित कर्मों के उदय से रानियों के साथ भोग भोगने लगे। सभी रानियों में अग्र स्थान पर महा-रानी यशोमती थी। उसने एक रात्रि में स्वप्न में सूर्य के समान तेजस्वी ऐसे एक चक्र को आकाश से उतर कर मुख में प्रवेश करते हुए देखा। दृढ़रथ मुनि का जीव, अनुत्तर विमान से च्यव कर उनकी कुक्षि में उत्पन्न हुआ। महारानी ने स्वप्न की बात स्वामी से निवेदन की। महाराजा शांतिनाथजी अवधिज्ञान से युक्त थे। उन्होंने कहा;—'देवी! मेरे पूर्वभव का दृढ़रथ नाम का मेरा छोटा भाई सर्वार्थसिद्ध महाविमान से च्यव कर तुम्हारी कुक्षि में आया है।' गर्भकाल पूर्ण होने पर पुत्र का जन्म हुआ। स्वप्न में चक्र देखा था, इसलिए

पुत्र का नाम 'चक्रायुध' रखा। यौवन वय प्राप्त होने पर अनेक राजकुमारियों के साथ राजकुमार का विवाह किया।

पाँचवें चक्रवर्ती सम्राट

न्याय एवं नीतिपूर्वक राज्य का संचालन करते हुए महाराजा शांतिनाथजी को पचीस हजार वर्ष व्यतीत होने पर, अस्त्रशाला में चक्ररत्न का प्रादुर्भाव हुआ। महाराजा ने चक्ररत्न का अठाई महोत्सव किया। इसके बाद एक हजार देवों से अधिष्ठित चक्ररत्न, अस्त्रशाला से निकल कर पूर्व-दिशा की ओर चला। उसके पीछे महाराजा शांतिनाथजी सेना सहित दिग्विजय करने के लिए रवाना हुए। समुद्र के किनारे सेना का पड़ाव डाला गया। महाराजा मागध-तीर्थ की दिशा की ओर मुंह कर के सिंहासन पर बैठे। मागधदेव का आसन चलायमान हुआ। अवधिज्ञान से देवने महाराजा को देखा और भावी चक्रवर्ती तथा धर्मचक्रवर्ती जान कर हर्षयुक्त, बहुमूल्य भेंट ले कर सेवा में उपस्थित हुआ और प्रणाम कर भेंट अर्पण करता हुआ बोला;—"प्रभो। मैं मागधदेव हूँ। आपने मुझ पर कृपा की। मैं आपका आज्ञाकारी हूँ और पूर्व दिशा का दिग्पाल हूँ। मैं आपकी आज्ञा का पालन करता रहूँगा।"। महाराजा शांतिनाथजी ने देव की भेंट स्वीकार की और योग्य सत्कार कर के विदा किया। वहाँ से चक्ररत्न दक्षिण-दिशा की ओर गया। वहाँ वरदाम तीर्थ के देव ने भी उसी प्रकार आज्ञा सिरोधार्य की। उसी प्रकार पश्चिम-दिशा का प्रभास तीर्थ-पति देव भी आज्ञाधीन हुआ। इस प्रकार चक्रवर्ती परम्परानुसार दिग्विजय करते हुए और किरातों के उपद्रव का सेनापति द्वारा युद्ध से पराभव करते और आज्ञाकारी बनाते हुए सम्पूर्ण छह खंड की साधना की। दिग्विजय का कार्य आठ सौ वर्षों में पूर्ण कर के महाराजा हस्तिनापुर पधारे। आपको चौदह रत्न और नवनिधान की प्राप्ति हुई। देवों और राजाओं ने महाराजा का चक्रवर्तीपन का उत्सव किया और महाराजा शांतिनाथजी को इस अव-सर्पिणी काल के पाँचवें चक्रवर्ती घोषित किया। इसके बाद आठ सौ वर्ष कम पचीस हजार वर्ष तक आपने चक्रवर्ती पद का पालन किया।

अब चक्रवर्ती सम्राट श्री शांतिनाथजी के संसार त्याग का समय निकट आ रहा था। लोकान्तिक देव आपकी सेवा में उपस्थित हो कर अपने कल्प के अनुसार निवेदन करने लगे;—"हे भगवन्! अब धर्मतीर्थ का प्रवर्त्तन करिये," इतना कह कर और प्रणाम

कर के वे चले गए। इसके बाद प्रभु ने वर्षीदान दिया और अपने पुत्र राजकुमार चक्रायुध को राज्य का भार सौंप कर प्रव्रजित होने के लिए तत्पर हो गए। इन्द्रादि देवों और महाराजा चक्रायुध आदि मनुष्यों ने दीक्षा-महोत्सव किया और ज्येष्ट-कृष्णा चतुर्दशी के दिन भरणी नक्षत्र में दिन के अंतिम प्रहर में, बेले के तप से, एक हजार राजाओं के साथ, सिद्ध को नमस्कार कर के प्रव्रज्या ग्रहण की। उसी समय भगवान् को मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हुआ।

महर्षि शांतिनाथजी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए एक वर्ष बाद हस्तिनापुर पधारे और सहस्राम्र वन उद्यान में ठहरे। वहाँ नन्दी वृक्ष के नीचे बेले के तप से प्रभु शुक्लध्यान में लीन थे। पौष मास के शुक्ल पक्ष की नौमी का दिन था। चन्द्र भरणी नक्षत्र में आया था कि भगवान् के अनादिकाल से लगे आये घाती-कर्म सर्वथा नष्ट हो गए और प्रभु को केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हो गया। प्रभु सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गए। इन्द्रों ने प्रभु का केवल महोत्सव किया। समवसरण की रचना हुई। भगवान् ने धर्मदेशना दी। यथा—

धर्मदेशना—इन्द्रिय-जय

जीवों के लिए अनेक प्रकार के दुखों का मूल कारण यह चतुर्गति रूप संसार है। जिस प्रकार विशाल भवन के लिए स्तंभ आधारभूत होते हैं, उसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय रूपी चार स्तंभ भी चतुर्गति रूप संसार के आधार के समान हैं। मूल सूख जाने पर वृक्ष अपने-आप सूख जाता है, उसी प्रकार कषायों के क्षीण होते ही संसार अपने-आप क्षीण हो जाता है। किन्तु इन्द्रियों पर अधिकार किये बिना कषायों का क्षय होना अशक्य है। जिस प्रकार सोने का शुद्धिकरण, बिना प्रज्वलित अग्नि के नहीं हो सकता, उसी प्रकार इन्द्रिय-दमन के बिना कषायों का क्षय नहीं हो सकता।

इन्द्रिय रूपी चपल एवं दुर्दान्त अश्व, प्राणी को बलपूर्वक खींच कर नरक की ओर ले जाता है। इन्द्रियों के वश में पड़ा हुआ प्राणी, कषायों से भी हार जाता है। ये इन्द्रियाँ, प्राणी को वश में कर के उसका पतन, बन्धन, वध और घात करवा देती है। इन्द्रियों के आधीन बना हुआ ऐसा कौन पुरुष है जो दुःख-परम्परा से बच गया हो?

बहुत से शास्त्रों और शास्त्र के अर्थों को जानने वाला भी इन्द्रियों के वश हो कर

गायन सुनने में लुब्ध हुआ हिरन, शिकारी के बाण से घायल हो कर जीवन से हाथ धो बैठता है। इस प्रकार एक-एक इन्द्रिय के विषय में लुब्ध बनने से मृत्यु को प्राप्त होना पड़ता है, तो एक साथ पांचों इन्द्रियों के वश में हो जाने वाले का तो कहना ही क्या ? इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि मन को विषय के विष से मुक्त रख कर इन्द्रियों का दमन करना चाहिये। बिना इन्द्रिय-दमन के यम-नियम और तपस्या के द्वारा शरीर को कृश करना व्यर्थ ही है। जो इन्द्रियों के समूह को नहीं जीतता, उसका प्रतिबोध पाना कठिन है। इसलिए समस्त दु:खों से मुक्त होने के लिए इन्द्रियों का दमन करना चाहिए।

इन्द्रिय जय करने का मतलब यह नहीं कि इन्द्रियों की सभी प्रवृत्ति को सर्वथा बन्द कर देना। ऐसा करने से इन्द्रियों का जय नहीं होता। अतएव इन्द्रिय की स्वाभाविक प्रवृत्ति में होने वाले राग-द्वेष से मुक्त रहना चाहिए। इससे इन्द्रियों की प्रवृत्ति भी उनके जय के लिए होती है। ऐसी स्थिति में इन्द्रियों के पास, उनके विषय रहते हुए भी स्पर्श करना अशक्य हो जाता है। बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि इन्द्रियों के विषय में राग-द्वेष का त्याग कर दे।

संयमी योगियों की इन्द्रियें सदा पराजित एवं दबी हुई ही रहती है। इन्द्रियों के विषय नष्ट हो जाने से आत्मा का हित नहीं मारा जाता, बल्कि अहित मारा जाता है। इन्द्रियों को जीतने का परिणाम मोक्ष रूप होता है और इन्द्रियों के वश में होना संसार के लिए है। इन्द्रियों के विषय और इनके वश में पड़ने से होने वाले परिणाम का विचार कर के उचित एवं हितकारी मार्ग को ग्रहण करना चाहिए। रुई, मक्खन आदि कोमल और पत्थर आदि कठोर स्पर्श में जो प्रीति और अप्रीति होती है, वह हेय है। ऐसा सोच कर राग-द्वेष का निवारण कर के स्पर्शनेन्द्रिय को जीतना चाहिए। भक्ष्य पदार्थों के स्वादिष्ट रस और कटु रस में रुचि और अरुचि का त्याग कर के रसना इन्द्रिय को जीतना चाहिए। घ्राणेन्द्रिय में सुगन्ध और दुर्गन्ध प्रवेश होते, वस्तु के परिणाम का विचार कर के राग-द्वेष रहित होना। मनोहर सुन्दर रूप अथवा कुरूप को देख कर, होते हुए हर्ष और विषाद को रोक कर चक्षु इन्द्रिय को जीतना चाहिए। वीणादि के मधुर स्वर में और गधे आदि के कर्ण-कटु स्वर में, रति-अरति नहीं करने से श्रोतेन्द्रिय वश में होती है।

इन्द्रियों का ऐसा कोई अच्छा या बुरा विषय नहीं है—जिसका जीव ने अनेक बार उपभोग नहीं किया हो। जीव सभी विषयों का पहले अनेक बार भोग कर चुका और भोग कर दु:खी हुआ, तो अब इनकी अधीनता त्याग कर स्वाधीनतापूर्वक वीतराग भाव

का सेवन क्यों नहीं किया जाय ? शुभ विषय, कभी अशुभ हो जाते हैं और अशुभ विषय शुभ हो जाते हैं, फिर राग और द्वेष किस पर करना ?

भले ही कोई विषय रुचिकर लगे या अरुचिकर, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से देखने पर पदार्थों में कभी शुभत्व अथवा अशुभत्व नहीं होता * । इसलिए जो प्राणी मन को शुद्ध रख कर इन्द्रियों को जीतता है और कषायों को क्षीण करता है, वह स्वल्पकाल में ही अक्षीण सुख के स्थान ऐसे मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।"

महाराजा चक्रायुध, अपने पुत्र कुरुचन्द्र को राज्य दे कर अन्य पैंतीस राजाओं के साथ दीक्षित हुए । इस देशना के बाद भगवान् के चक्रायुध आदि ९० गणधर हुए और भी बहुत से नर-नारी दीक्षित हुए । बहुतों ने श्रावक व्रत ग्रहण किये और बहुत-से सम्यग्-दृष्टि हुए ।

महाराजा कुरुचन्द्र का पूर्वभव

कालान्तर में भगवान् विचरते हुए पुनः हस्तिनापुर पधारे । महाराजा कुरुचन्द्र प्रभु के दर्शनार्थ आये । धर्मदेशना सुनने के बाद महाराजा ने जिनेश्वर भगवान् से पूछा;—

"भगवान् ! मैं पूर्वभव के किस पुण्य के उदय से यहाँ राजा हुआ ? यह किस कर्म का फल है कि मुझे प्रतिदिन पाँच वस्त्र और फल आदि भेंट स्वरूप प्राप्त होते हैं और मैं इन वस्तुओं का उपभोग नहीं कर के अन्य प्रियजनों को देने के लिए रख छोड़ता हूँ, परन्तु दूसरों को दे भी नहीं सकता ? यह किस कर्म का उदय है—प्रभो !"

भगवान् ने फरमाया—'कुरुचन्द्र ! पूर्वभव में किये हुए मुनि-दान का फल यह राज्य-लक्ष्मी है । नित्य पाँच वस्तु की भेंट भी इसी का परिणाम है, किन्तु तुम इसका

---

* जो पदार्थ लोक दृष्टि से शुभ माने जाते हैं, वेही परिस्थिति विशेष में अशुभ माने जाते हैं । विवाहोत्सव के समय मंगलगान, वादिन्त्र और कुंकुमादि शुभ माने जाते हैं, किन्तु मृत्यु प्रसंग पर ये ही वस्तुएँ अप्रिय एवं त्याज्य होती है । स्वस्थ और बलवान् मनुष्य के लिए पौष्टिक मिष्टान्न शुभ और चिरायता तथा कुनैन अशुभ होता है, किन्तु ज्वर पीडित के लिए चिरायता और कुनैन शुभ और गरिष्ट भोजन अशुभ हो जाता है । तीर्थस्थल का जल पवित्र माना जाता हैं, किन्तु वही जल अस्पृश्य स्थल में अस्पृश्य समझा जाता है । पर्याय परिवर्तन से शुभ वस्तु स्वयं अशुभ बन जाती है और अशुभ, शुभ के रूप आ जाती है । अतएव तात्त्विक दृष्टि से शुभत्व अशुभत्व नहीं है ।

उपभोग नहीं करते—यह साधारण पुण्य का फल है। जो वस्तु बहुतजनों के उपभोग के योग्य हो, उसका एक व्यक्ति से भोग नहीं हो सकता। इसीसे तुझे विचार होता रहता है कि 'मैं यह वस्तु दूसरों को दूंगा।' अब तुम अपना पूर्वभव सुनो।"

इसी जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में, कोशल देश के श्रीपुर नगर में चार वणिक-पुत्र रहते थे। उनके नाम थे—सुधन, धनपति, धनद और धनेश्वर। चारों में गाढ़ मैत्री-भाव था। एकबार चारों मित्र धनोपार्जन के लिए रत्नद्वीप की ओर चले। उनके साथ 'द्रोण' नाम का एक सेवक था। वह भोजन सामग्री उठा कर चलता था। मार्ग में एक महावन पड़ता था। अटवी का बहुतसा भाग लांघ जाने पर इनके पास की भोजन-सामग्री कम हो गई। चलते-चलते वृक्ष के नीचे एक ध्यानस्थ मुनि दिखाई दिये। उनके मन में भक्ति उत्पन्न हुई। उन्होंने सोचा—"इन महात्मा को कुछ आहार देना चाहिए"—यह सोच कर उन्होंने द्रोण से कहा—"भद्र ! इन मुनिजी को कुछ आहार दे दो।" द्रोण ने श्रद्धापूर्वक उच्च भावों से मुनि को प्रतिलाभित किये और महा भोग-फल वाला पुण्य उपार्जन किया। वहाँ से सभी लोग रत्नद्वीप गए और व्यापार से बहुतसा धन संग्रह कर के लौट कर अपने घर आ गए। वे सुखपूर्वक रहने लगे। उन चारों मित्रों में धनेश्वर और धनपति मायावी थे और द्रोण की भावना उन चारों से विशेष शुद्ध थी। वह द्रोण, आयु पूर्ण कर के तू कुरूचन्द्र हुआ। सुधन मर कर कम्पिलपुर में 'वसंतदेव' नामक वणिक-पुत्र हुआ, धनद, कृतिकापुर में 'कामपाल' नाम का व्यापारी हुआ, धनपति, शंखपुर में 'मदिरा' नाम की वणिक-कन्या हुई और धनेश्वर, जयंती नगरी में 'केसरा' नाम की कन्या हुई।

सुधन का जीव वसंतदेव, यौवन वय में व्यापार के लिए जयंती नगरी में आया। एकबार चन्द्रोत्सव के समय, केसरा को देख कर वह मोहित हो गया। केसरा भी उस पर मोहित हुई। दोनों में पूर्वभव का स्नेह जाग्रत हुआ। वसंतदेव ने केसरा के भाई जयंतदेव से मैत्री सम्बन्ध जोड़ा और दोनों का एक दूसरे के घर आना-जाना और खाना-पीना होने लगा। एकबार वसंतदेव को, कामदेव की पूजा करती हुई केसरा दिखाई दी। जयंतदेव ने स्नेह सहित वसंतदेव को पुष्पमाला अर्पण की। यह देख कर केसरा पुलकित हो गई। उसने इसे अच्छा शकुन समझा। केसरा के चेहरे पर के भाव वहाँ खड़ी हुई धायपुत्री प्रियंकरा ने देखा और केसरा से कहा—

"तेरे भाई, मित्र का सत्कार करते हैं, तो तू भी उनका सत्कार कर।" यह सुन कर केसरा हर्षित होती हुई बोली,—"तूही सत्कार कर ले।"

बरात ले कर आ गया है। यह देख कर वह एकदम निराश हो गया और शीघ्रता से भाग कर नगर के बाहर एक उद्यान में आया। वह एक वृक्ष पर चढ़ गया और उसकी डाल पर रस्सी बांध कर, गले में फन्दा डालना ही चाहता था कि लतागृह में से एक मनुष्य निकला और फन्दा काटते हुए बोला;—

"अरे ओ साहसी ! यह क्या कर रहे हो ? मरने से क्या होगा ? ऐसा दुष्कृत्य कर के मनुष्य भव को समाप्त नहीं करना चाहिए। शान्त होओ और समझबूझ से काम लो।"

वसंतदेव चौंका। उसने कहा—"महानुभाव ! मैं हताश हो गया हूँ। मेरी प्रिया मुझे प्राप्त नहीं हो कर दूसरे को दी जा रही है। अपने मनोरथ में सर्वथा विफल रहने के बाद जीवित रहने का सार ही क्या है ? मृत्यु से तो मैं इस दुःख से मुक्त हो जाऊँगा। दुःख से मुक्त होने के लिए ही मैं मर रहा था। आपने इसमें विघ्न खड़ा कर दिया।" इस प्रकार कह कर उसने अपने मरने का कारण बताया। वसंतदेव की बात सुन कर वह पुरुष बोला—

"भद्र तेरा दुःख तो गहरा है, किन्तु मरना उचित नहीं है। मर कर तू क्या प्राप्त कर लेगा ? यदि जीवित रहेगा, तो इच्छित कार्य की सिद्धि के लिए कुछ प्रयत्न कर सकेगा। यदि प्रयत्न सफल नहीं हो, तो भी मरना उचित नहीं है। इस प्रकार मरने से बुरे कर्मों का बन्ध होता है और दूसरी गति में चले जाने से प्रिय के दर्शन से भी वंचित हो जाता है। मैं स्वयं भी दुःखी हूँ। मेरी इच्छित वस्तु प्राप्त होने योग्य होते हुए भी उपाय के अभाव में भटक रहा हूँ—इसी आशा पर कि जीवित रहा, तो कभी सफल हो सकूँगा। मैं अपनी बात तुझे सुनाता हूँ।"

"मैं कृतिकापुर का रहने वाला हूँ और मेरा नाम कामपाल है। मैं देशाटन के लिए निकला था। घूमता हुआ शंखपुर आया। वहाँ यक्ष का उत्सव हो रहा था। मैं भी उत्सव देखने गया। वहाँ मुझे एक सुन्दर युवती दिखाई दी। मैं उसके सौन्दर्य को स्नेहयुक्त निरखता ही रहा। उस युवती ने भी मुझे देखा। वह भी मुझे देख कर मुग्ध हो गई। उसने मेरे लिए अपनी सखी के साथ पान भेजा। पान ले कर बदले में कुछ देने की बात मैं सोच ही रहा था कि इतने में एक उन्मत्त हाथी, स्तंभ तुड़ा कर भागता हुआ उस कन्या की ही ओर आया। भयभीत हो कर उस सुन्दरी का सारा परिवार भाग गया। वह युवती भयभ्रान्त एवं दिग्मूढ़ हो कर वहीं खड़ी रही। हाथी उसे सूंड से पकड़ने ही वाला था कि मैंने हाथी के मर्मस्थान पर लकड़ी से चोट की। उस चोट से वह हाथी मेरी ओर घूमा। किन्तु मैं तत्काल चतुराई से हाथी को भुलावे में डाल कर और उस

—"म अपन बचाव का युक्त निकाल लूगा। मुझे आशा है कि तुम्हारा का सफल होते ही मेरा काम भी बन जायगा। फिर तुम भी तो मुझे सहायता करोगे?"

दोनों प्रसन्न हो कर वहां से बाजार में आ गए और संध्या के समय कामदेव के मन्दिर में जा कर छुप गए। थोड़ी देर में केसरा भी गाजे-बाजे के साथ वहाँ आई। नियम के अनुससार उसकी सखियां मन्दिर के बाहर ही रुक गई और वह अकेली पूजा की थाल ले कर मन्दिर में आई। उसने द्वार बन्द कर दिए और देव को नमस्कार करती हुई बोली;—

"देव! यह मेरे साथ कैसा अन्याय करते हो? आप तो सभी प्रेमियों के मनोरथ पूरे करने वाले हो, फिर मैं ही निराश क्यों रहूँ? मैंने आपका क्या अपराध किया? यदि आप मुझ पर अप्रसन्न ही हैं, तो मैं अपनी खुद की बलि आपके चरणों में चढ़ाती हूँ। इससे प्रसन्न हो कर मुझे अगले भव में वसंतदेव की अर्धांगना बनाना।"

इतना कह कर वह गले में पाश डालने लगी। यह देख कर छुपे हुए वसंतदेव और कामपाल बाहर निकले। केसरा यह देख कर चौंकी और स्तब्ध रह गई। किन्तु क्षणभर के बाद ही वह हर्षातिरेक से उत्फुल्ल हो गई। उसने अपना वेश उतार कर कामपाल को दिया। कामपाल केसरा का वेश पहन कर बाहर निकला और पालकी में जा बैठा।

वसंतदेव पुरुषवेशी केसरा के साथ वहां से निकल कर एक ओर चल दिया। कामपाल मौनयुक्त आ कर लग्नमंडप में बैठ गया। प्रियंकरा ने कहा—"वहिन केसरा! अब चिन्ता छोड़ कर भगवान् अनंगदेव का ध्यान करती रहो, जिससे सुखमय जीवन व्यतीत हो।"

केसरा के विवाह में उसके मामा की पुत्री 'मदिरा' भी आई हुई थी। वह केसरा के प्रेम सम्वन्ध की बात सुन चुकी थी। उसने केसरा-वेशी कामपाल के कान में कहा;—

"वहिन! तेरा मनोरथ सफल नहीं हुआ। इसका मुझे दुःख है। मैं भी हतभागिनी हूँ। मेरा प्रिय भी मेरे मन में स्नेहामृत का सिंचन कर के ऐसा गया कि फिर देखा ही नहीं। भाग्य की बात है।"

कामपाल ने देखा—यह तो वही मदिरा है कि जिसके वियोग में वह भटक रहा था। उसने संकेत कर के मदिरा को एकान्त में बुलाया। वे दोनों प्रच्छन्न द्वार से निकल कर चले गये और वसंतदेव और केसरा के साथ दूसरे नगर में रहने लगे।

"राजन्! वसंतदेव और कामपाल—ये दोनों पूर्व-भव के स्नेह से तुम्हें पाँच वस्तुएँ भेंट करते हैं। ये वस्तुएँ तुम प्रियजनों के साथ भोगने में समर्थ बनोगे। इतने दिन तुम प्रियजन को नहीं जानते थे, इसलिए उन वस्तुओं का भोग नहीं कर सके।"

प्रभु की वाणी सुन कर राजा को और उन सम्बन्धियों को जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। राजा भगवान् को वन्दना कर के पूर्वभव के उन सम्वन्धियों के साथ राजभवन में आया। भगवान् अन्यत्र विहार कर गए।

भगवान् का निर्वाण

केवलज्ञान उत्पन्न होने के वाद भगवान् २४९९९ वर्ष तक विचरते रहे। निर्वाण समय निकट आने पर प्रभु सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे और ९०० मुनियों के साथ अनशन किया। एक मास के अन्त में ज्येष्ठ-कृष्णा १३ को, भरणी नक्षत्र में उन मुनियों के साथ भगवान् मोक्ष पधारे। भगवान् का कुल आयुष्य एक लाख वर्ष का था। इसमें से कुमार अवस्था, मांडलिकराजा, चक्रवर्तीपन और व्रतपर्याय में पच्चीस-पच्चीस हजार वर्ष व्यतीत

हुए। श्रीधर्मनाथ जिनेश्वर के बाद पौन पल्योपम कम तीन सागरोपम बीतने पर भ० शांतिनाथजी हुए।

भगवान् शांतिनाथजी के चक्रायुध आदि ९० गणधर हुए ‡। ६२००० साधु ६१६०० साध्वियाँ, ८०० चौदह पूर्वधर, ३००० अवधिज्ञानी, ४००० मनःपर्यवज्ञानी, ४३०० केवलज्ञानी, ६००० वैक्रेय लब्धिवाले, २४०० वादी विजयी, २९०००० श्रावक और ३९३००० श्राविकाएँ थीं।

सोलहवें तीर्थंकर

भगवान्

॥ शांतिनथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

---

‡ ग्रंथकार ३६ गणधर होना लिखते हैं, किन्तु समवायांग सूत्र में ९० लिखे हैं।

भ० कुंथुनाथजी

इस जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह के आवर्त्त विजय में खड्गी नामक नगरी में सिंहावह राजा राज करता था। वह उत्तम गुणों से सम्पन्न, धर्मधुरन्धर, धर्मियों का आधार, न्याय का रक्षक, पापमर्दक और समृद्धियों का सर्जक था। उसका प्रभाव इन्द्र के समान था। वह धर्म-भावना से युक्त हो संसार व्यवहार चलाता था। कालान्तर में श्री संवराचार्य के उपदेश से प्रभावित हो कर उसने श्रमण दीक्षा स्वीकार कर ली और उत्तम आराधना से तीर्थंकर नामकर्म को निकाचित कर लिया। काल के अवसर उत्तम भावों में मृत्यु पा कर सर्वार्थसिद्ध महाविमान में अहमिन्द्र हुआ।

जम्बूद्वीप के इस भरत-क्षेत्र में हस्तिनापुर नाम का महानगर था। महाराजा शूरसेन वहाँ के प्रभावशाली नरेश थे। वे धर्मात्मा, उच्च मर्यादा के धारक, न्याय और नीति के पालक, पोषक और रक्षक थे। 'श्रीदेवी' उनकी महारानी थी। वह भी कुल, शील, सौन्दर्य एवं औदार्यादि उत्तम गुणों से सुशोभित थी। महाराजा और महारानी का जीवन सुखपूर्वक व्यतीत हो रहा था।

सभी देवलोकों में उत्तमोत्तम सर्वार्थसिद्ध नामक महाविमान का तेतीस सागरोपम का आयुष्य पूर्ण कर के सिंहावह मुनिराज का जीव, श्रावण मास के कृष्ण पक्ष की नौमी को, कृतिका नक्षत्र में महारानी श्रीदेवी के गर्भ में उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर वैशाख-कृष्णा चतुर्दशी को कृतिका नक्षत्र के योग

में, उच्च ग्रहों की स्थिति में पुत्र का जन्म हुआ। इन्द्रादि देवों ने और छप्पन कुमारिका आदि देवियों ने जन्मोत्सव किया।

गर्भ के समय माता ने कुंथु नाम का रत्न-सचय देखा, इसलिए पुत्र का नाम 'कुंथुनाथ' दिया। यौवनवय प्राप्त होने पर अनेक राजकन्याओं के साथ कुमार का विवाह किया गया। जन्म से २३७५० वर्ष तक राजकुमार रहे। इसके बाद महाराजा ने अपना राज्यभार राजकुमार कुंथुनाथ को दिया। २३७५० वर्ष तक कुंथुनाथजी मांडलिक राजा रहे। इसके बाद आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ। आपने भी पूर्व के चक्रवर्तियों के समान दिग्विजय कर के विधिपूर्वक चक्रवर्ती सम्राट हुए। दिग्विजय में छह सौ वर्ष का काल लगा। आपने २३७५० वर्ष तक चक्रवर्ती पद का भोग किया। इसके बाद वर्षीदान दे कर वैशाख-कृष्णा पंचमी को दिन के अन्तिम प्रहर में, कृतिका नक्षत्र के योग में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हुए। दीक्षा लेने के बाद लगभग सोलह वर्ष छद्मस्थ अवस्था में रहे। आप विहार करते हुए पुनः हस्तिनापुर के सहस्राम्र वन उद्यान में पधारे और तिलक वृक्ष के नीचे बेले के तपयुक्त ध्यान करने लगे। घातीकर्म जर्जर हो चुके थे। ध्यान की धारा वेगवती हुई और धर्मध्यान से आगे बढ़ कर शुक्लध्यान में प्रवेश कर गई। जर्जर बने हुए घातीकर्मों की जड़ें, शुक्लध्यान के महाप्रवाह से हिलने लगी। मोह का महा विषवृक्ष डगमगाने लगा। महर्षि के महान् आत्मबल से शुक्ल-ध्यान की महाधारा ने बाढ़ का रूप ले लिया। अब विचारा मोह महावृक्ष कहां तक टिक सकता था? आत्मा के अनन्त बल के आगे उस जड़ की क्या हस्ति थी? उखड़ गयी उसकी जड़ और फिंक गया मुर्दे की तरह एक ओर। मोह महावृक्ष के नष्ट होते ही ज्ञानावरणादि तीन घातीकर्म भी उखड़ गए। चैत्र मास की शुक्ला तृतीया का दिन था और कृतिका नक्षत्र का योग था। प्रभु सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गए। केवलज्ञान महोत्सव हुआ। तीर्थ की स्थापना हुई। प्रभु ने अपनी प्रथम धर्मदेशना में फरमाया; —

धर्मदेशना—मनःशुद्धि

"वह संसाररूपी समुद्र, चौरासी लाख योनीरूप जलभँवरियों * से महान् भयंकर है। भवसागर को तिरने के लिए मनःशुद्धि रूपी सुदृढ़ जहाज ही समर्थ है। मनःशुद्धि मोक्ष

* पानी का चक्राकार फिरना, जिसमें पड़ कर जहाज भी डूब-टूट कर नष्ट हो जाते हैं।

मार्ग को बताने वाली ऐसी दीप-शिखा है, जो कभी नहीं बुझती। जहाँ मनःशुद्धि है, वहाँ अप्राप्त गुण भी अपने-आप प्राप्त हो जाते हैं और प्राप्त गुण स्थिर रहते हैं। इसलिए बुद्धिमान् मनुष्यों को चाहिये कि अपने मन को सदैव शुद्ध रखे। जो लोग मन को शुद्ध किये बिना ही मुक्ति के लिए तपस्या करते हैं, वे सफल नहीं होते। जिस प्रकार जहाज छोड़ कर, भुजबल से ही महासमुद्र को पार करना अशक्य है, उसी प्रकार मनःशुद्धि के बिना मुक्ति पाना सर्वथा अशक्य है। जिस प्रकार अन्धे के लिए दर्पण व्यर्थ है, उसी प्रकार मन को दोष-रहित किये बिना तपस्वियों की तपस्या व्यर्थ हो जाती है। जोरदार बवंडर (चक्राकार वायु) राह चलते प्राणियों को उड़ा कर दूसरी ओर फेंक देती है, उसी प्रकार मोक्ष के ध्येय से किया हुआ तप भी, चपलचित्त तपस्वी को ध्येय के विपरीत ले जाता है अर्थात् सिद्धगति में नहीं ले जा कर दूसरी गति में ले जाता है।

मन रूपी निशाचर, निरंकुश एवं निःशंक हो कर तीनों लोक के प्राणियों को संसार के अत्यन्त गहरे गड्ढे में डाल देता है। मन का अवरोध किये बिना ही जो मनुष्य, योग पर श्रद्धा रखता है, तो उसकी श्रद्धा उस पंगु की तरह व्यर्थ एवं हास्यास्पद है जो अपने पाँवों से अटवी लांघ कर, नगर-प्रवेश करना चाहता है।

मन का निरोध करने से सभी कर्म का निरोध (संवर) हो जाता है और मन का निरोध नहीं करने वाले के सभी कर्म बहुत बड़ी मात्रा में आते रहते हैं। यह मन रूपी बन्दर बड़ा ही लम्पट है। यह एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता और विश्वभर में भटकता ही रहता है। जिन्हें मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा है, उन्हें चाहिए कि मन रूपी मर्कट को यत्नपूर्वक अपने अधिकार में रखे और दोषों को दूर कर मन को शुद्ध बना ले। बिना मनःशुद्धि के तप, श्रुत, यम और नियमों का आचरण कर के कायाक्लेश उठाना— काया को दण्डित करना व्यर्थ है। मन की शुद्धि के द्वारा राग-द्वेष को जीतना चाहिए, जिससे भावों की मलिनता दूर होती है और स्वरूप में स्थिरता आती है।

'केवलज्ञान के बाद' २३७३४ वर्ष तक प्रभु, तीर्थंकरपने विचर कर भव्य जीवों का उपकार करते रहे। निर्वाण का समय निकट आने पर प्रभु एक हजार मुनिवरों के साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे और एक हजार मुनिवरों के साथ अनशन किया। वैशाख-कृष्णा प्रतिपदा को कृतिका नक्षत्र के योग में, एक मास के अनशन से सभी मुनियों

निर्वाण के बाद अर्ध पल्योपम काल व्यतीत होने पर भ. कुंथुनाथजी मोक्ष पधारे ।

प्रभु के स्वयंभू आदि सेंतीस * गणधर हुए । ६०००० साधु, ६०६०० साध्वियाँ, ६७० चौदह पूर्वधर, २५०० अवधिज्ञानी, ३३४० मन:पर्ययज्ञानी, ३२०० केवलज्ञानी, ५१०० वैक्रिय-लब्धिवाले, २००० वाद-लब्धिवाले, १७९००० श्रावक और ३८१००० श्राविकाएँ हुईं ।

सतरहवें तीर्थंकर

भगवान्

॥ कुंथुनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

---

* ग्रंथकार ३५ गणधर होना लिखते हैं, परन्तु समवायांग में ३७ लिखे हैं ।

भ० अरनाथ स्वामी

जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह में 'वत्स' नाम का विजय है। उसमें सुसीमा नाम की नगरी थी। 'धनपति' नरेश वहाँ के शासक थे। वे दयालु, नम्र और शांत स्वभाव वाले थे। उनके राज्य में सर्वत्र शान्ति और सुख व्याप्त थे। उन उदार हृदय नरेश के मन-मन्दिर में जिनधर्म का निवास था। नरेश ने संसार से विरक्त हो कर संवर नाम के संयती के समीप प्रव्रज्या स्वीकार कर ली। साधना करते हुए उन्होंने तीर्थंकर नाम कर्म को निकाचित कर लिया और समाधिभाव में काल कर के सर्वोपरि ग्रैवेयक में अहमेन्द्र के रूप में उत्पन्न हुए।

जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में हस्तीनापुर नाम का नगर था। वहाँ के नगर निवासी भी समृद्ध और राजसी ठाठ से युक्त थे। राजाधिराज 'सुदर्शन' उस नगर के अधिपति थे। 'महादेवी' उनकी पटरानी थी। वह महिलाओं के उत्तमोत्तम गुणों और लक्षणों से युक्त थी।

मुनिराज श्री धनपतिजी के जीव ने ऊपर के ग्रैवेयक का आयु पूर्ण कर के फाल्गुन शुक्ला द्वितिया को रेवती नक्षत्र में च्यव कर, राजमहिषी महादेवी की कुक्षी में उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर सुकुमार पुत्र का जन्म हुआ। जन्मोत्सव आदि सभी कार्य तीर्थंकर जन्म के अनुसार हुए। माता ने स्वप्न में चक्र के आरे देखे थे, इसलिए पुत्र का नाम 'अर' रखा गया। यौवनवय प्राप्त होने पर अनेक राजकुमारियों के साथ विवाह किया गया। जन्म से २१००० वर्ष व्यतीत होने पर, महाराज

सुदर्शनजी ने सारा राज्यभार कुमार अरनाथ को दे दिया। २१००० वर्ष तक आप मांडलिक राजा के पद पर रहे। उसके बाद चक्ररत्न की प्राप्ति हुई और छह खंड पर विजय प्राप्त करने में ४०० वर्ष लगे। इसके बाद आप २०६०० वर्ष तक चक्रवर्ती सम्राट के रूप में राज करते रहे। इसके बाद वर्षीदान दे कर और अपने पुत्र अरविंद को राज्य का भार सौंप कर मार्गशीर्ष-शुक्ला एकादशी को रेवती नक्षत्र में दिन के अन्तिम प्रहर में, एक हजार राजाओं के साथ, बेले के तप से प्रव्रजित हुए। तीन वर्ष तक आप छद्मस्थ विचरते रहे। फिर उसी नगर के सहस्राम्रवन में, आम्रवृक्ष के नीचे ध्यान धर के खड़े रहे। कार्तिक-शुक्ला द्वादशी को रेवती नक्षत्र में प्रभु को केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हुआ। समवसरण की रचना हुई। प्रभु ने अपने प्रथम धर्मोपदेश में कहा;—

धर्मदेशना—राग-द्वेष त्याग

"संसार में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों में एक मोक्ष पुरुषार्थ ही ऐसा है कि जिसमें सुख से लबालब भरा हुआ सागर हिलोरें ले रहा है। उसमें एकान्त सुख ही सुख है, दुःख का एक सूक्ष्म अंश भी नहीं है। यह मोक्ष पुरुषार्थ, ध्यान की साधना से सिद्ध होता है, किन्तु ध्यान की साधना तभी हो सकती है, जब कि मन अनुकूल हो। मन की अनुकूलता के बिना ध्यान नहीं हो सकता। जो योगी पुरुष हैं, वे तो मन को आत्मा के अधिकार में रखते हैं, किन्तु रागादि शत्रु ऐसे हैं, जो मन को अपनी ओर खींच कर पुद्गलाधीन कर देते हैं। यदि सावधानीपूर्वक मन का निग्रह कर के शुभ परिणति में लगाया हो, तो भी किंचित् निमित्त पा कर, रागादि शत्रु पिशाच की तरह बारम्बार छल करते हुए अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न करते हैं। राग-द्वेष रूपी अन्धकार से अन्धे बने हुए जीव को अज्ञान, अधोगति में ले जा कर नरक रूपी खड्डे में गिरा देता है। द्रव्यादि में प्रीति और रति (आसक्ति) राग है और अप्रीति और अरति (अरुचि—घृणा) द्वेष है। यह राग और द्वेष ही सभी प्राणियों के लिए दृढ़ बन्धन रूप है। यही सभी प्रकार के दुःखों का मूल है। संसार में यदि राग-द्वेष नहीं हो, तो सुख में कोई विस्मय नहीं होता और दुःख में कोई कृपण नहीं होता, तथा सभी जीव मुक्ति प्राप्त कर लेते। राग के अभाव में द्वेष और द्वेष के अभाव में राग रहता ही नहीं। इन दोनों में से एक का त्याग कर दिया जाय, तो दोनों का त्याग हो जाता है। कामादि दोष, राग के परिवार में हैं और

—"मैं कैसा बताऊँ ? सर्वगुण सम्पन्न। बस, तुम्हारे जैसा, जिसे पा कर मैं संतुष्ठ हो जाऊँ।"

—"मेरे जैसा ? क्या आप मुझे सर्व गुण-सम्पन्न एवं पूर्ण योग्य मानती हैं ?"

—"अरे वीरमती ! यदि तू पुरुष होती, तो मैं तुझी को पति वरण करती। परन्तु अब मैं तुझे अपने साथ ही रखना चाहती हूँ।"

—"राजकुमारीजी ! यदि आपकी यही इच्छा है, तो मैं आपके लिए पुरुष बन जाऊँ। फिर तो आप प्रसन्न होंगी न ?"—वीरभद्र ने हँसते हुए कहा।

—"चल हट ! वेश बदलने से ही कोई पुरुष हो सकता है ?"—राजकुमारी ने हँसते हुए कहा।

—"अरे, आप क्या समझती हैं मुझे ? मैं वह कला जानती हूँ कि जिस के प्रयोग से सदा के लिए पुरुष बन जाऊँ। पूर्ण पुरुष।"

—"हँसी मत कर ! जन्म से स्त्री हुई, तो अब पुरुष कैसे बन सकती है ?"

—"मै आपके लिए अपना जीवन पूर्णरूप से अभी परिवर्तित कर सकती हूँ—यहीं !

अनंगसुन्दरी को आश्चर्य हुआ। वह सोच रही थी कि रूप परिवर्त्तन कर के स्त्री, पुरुष का वेश तो धारण कर सकती है, किन्तु वह स्वयं पूर्णरूप से पुरुष कैसे बन सकती है ? उसे विश्वास नहीं हो रहा था। राजकुमारी को असमंजस में पड़े देख कर वीर-भद्र ने कहा—

"महाभागे ! अविश्वास क्यों करती हो। मै अभी पुरुष बन कर तुम्हें दिखा देता हूँ। आवश्यकता मात्र पुरुष के कपड़ों की है। यह शरीर तो जन्म से ही पुरुष है। मैं पुरुष रूप ही जन्मा और पुरुष रूप में ही पहिचाना जाता हूँ। मेरा नाम 'वीरमती' नहीं, 'वीरभद्र' है। मैं विनयवती की बहिन नहीं, भाई हूँ। तुम्हें देखने के लिए मैंने स्त्रीवेश धारण किया है।"

वीरभद्र की बात सुन कर राजकुमारी अत्यंत हर्षित हुई। वीरभद्र ने कहा—"अब मैं तुम्हारे पास नहीं आऊँगा। अब तुम महाराज से कहला कर अपना वैवाहिक सम्बन्ध जुड़े वैसा प्रयत्न करना।"

राजकुमारी ने वीरभद्र को प्रसन्नता पूर्वक बिदा किया। इसके बाद राजकुमारी ने अपनी सखी के द्वारा, अपनी माता के पास (सखी के परामर्श के रूप में) सन्देश भेजा। महारानीजी ने भी महाराज से वीरभद्र की प्रशसा सुनी थी। जब राजकुमारी की सखी

का भी वैसा ही विचार जाना और उसमें राजकुमारी की इच्छा का संकेत मिला, तो महारानी ने महाराज को बुला कर कहा। महाराज ने सेठ को बुला कर सम्बन्ध जोड़ लिया और धूमधाम से वीरभद्र के लग्न, राजकुमारी अनंगसुन्दरी के साथ हो गये। वीरभद्र ने राजकुमारी को जैनधर्म का स्वरूप समझा कर जिनोपासिका बना ली। कालान्तर में वीरभद्र, पत्नी सहित अपने घर आने के लिए रवाना हुआ। समुद्र मार्ग से चलते हुए महावायु के प्रकोप से वाहन टूट गया और सभी यात्री समुद्र के जल में डूबने-उतराने लगे। कई डूब भी गये। अनंगसुन्दरी के हाथ में जहाज का टूटा हुआ पटिया आ गया। वह पटिये के सहारे तैरती हुई किनारे लग गई। वह भूखी प्यासी और थकी हुई मूर्च्छित अवस्था में कितारे पर पड़ी थी। समुद्र के निकट किसी तापस का आश्रम था। घूमते हुए तापस-कुमार को किनारे पर पड़ी हुई अनंगसुन्दरी दिखाई दी। उसने उसे सावचेत की और अपने आश्रम पर ले आया। आश्रम के कुलपति ने अनंगसुन्दरी को सान्तवना दी और पुत्री के समान तपस्विनियों के साथ रहने की व्यवस्था कर दी। थोड़े ही दिनों में अनंगसुन्दरी स्वस्थ हो गई। उसके आकर्षक रूप एवं लावण्य को देख कर, कुलपति ने विचार किया कि—'इस युवती का आश्रम में रहना हितकर नहीं होगा। आश्रम के तपस्वियों की समाधि को स्थिर रखने के लिए, इस सुन्दरी को यहाँ से हटाना आवश्यक है।' उसने अनंगसुन्दरी को बुला कर कहा;—

"वत्से ! यहाँ से थोड़ी ही दूर पर 'पद्मिनीखंड' नगर है। वहाँ बहुत-से धनवान् लोग रहते हैं। उस नगर का सम्बन्ध भारत के दूर-दूर के प्रांतों से है। वहाँ रहने से तुझे तेरे पति का समागम अवश्य होगा। इसलिए तुम वहाँ जाओ।"

अनंगसुन्दरी एक वृद्ध तापस के साथ पद्मिनिखंड नगर के निकट आई। तापस उसे नगर के बाहर छोड़ कर चला गया। वह नगर में प्रवेश करने के लिये आगे बढ़ी, तो उसे स्थंडिलभूमि जाती हुई साध्वियाँ दिखाई दीं। अनंगसुन्दरी ने सोचा—'ये साध्वियाँ तो वैसी ही है, जैसी मेरे पति ने मुझे बताई थी।' वह साध्वियों के निकट आ ई। उसने प्रवर्तिनी महासती सुव्रताजी आदि को नमस्कार किया और उनके साथ उपाश्रय में पहुँची। वहाँ तुम्हारी पुत्री प्रियदर्शना ने उसे देखी। अनंगसुन्दरी ने सुव्रताजी और प्रियदर्शना को अपना वृत्तांत सुनाया। उसकी कथा सुन कर प्रियदर्शना ने कहा—

"सखी ! तेरे पति वीरभद्र की वय और कला आदि की सभी विशेषताएँ मेरे पति वीरभद्र से बराबर मिलती हैं। किंतु मात्र वर्ण में अन्तर है। तेरे पति का वर्ण श्याम है और मेरे पति का गौर वर्ण है। बस, यही अंतर है, शेष सभी बातें मिलती हैं।"

सुव्रताजी ने कहा—'प्रियदर्शना ! यह तुम्हारी धर्म-बहिन है। इसको धर्म साधना में साथ दो।'

उधर वीरभद्र भी समुद्र में लहरों के साथ बहता हुआ एक पटिये को पकड़ कर अथड़ाता रहा। इस प्रकार बहते हुए, उसे रतिवल्लभ नाम के विद्याधर ने देखा और समुद्र से निकाल कर अपने आवास में ले गया। उस विद्याधर के पुत्र नहीं था, केवल एक पुत्री ही थी। उसका नाम रत्नप्रभा था। वीरभद्र को अनंगसुन्दरी की चिन्ता सता रही थी। उसने विद्याधर को अपना वृत्तांत सुनाया। विद्याधर ने 'आभोगिनी' विद्या के बल से जान कर कहा—"अनंगसुन्दरी तुम्हारी पूर्व पत्नी प्रियदशना के साथ पद्मिनीखंड में, सुव्रताजी के उपाश्रय में रह कर धर्म-क्रिया कर रही है।" यह सुन कर वीरभद्र प्रसन्न हुआ। विद्याधर ने वीरभद्र को उपयुक्त वर जान कर अपनी पुत्री रत्नप्रभा का पाणिग्रहण कराया। यहाँ वीरभद्र, 'बुद्धदास' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कुछ काल वहाँ रहने के बाद दक्षिण-भरत देखने के बहाने, रत्नप्रभा को साथ ले कर, आकाश मार्ग से पद्मिनीखंड नगर में आया। रत्नप्रभा को उपाश्रय के बाहर बिठा दिया और बोला—"मैं अभी देहचिन्ता से मुक्त हो कर आता हूँ। तुम यहीं बैठना।"

वीरभद्र वहाँ से चल कर एक गली में छुप गया और चुपके से देखने लगा। बड़ी देर तक प्रतीक्षा करने पर भी जब वीरभद्र नहीं आया, तो रत्नप्रभा घबड़ा गई। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों उसकी धीरज कम होती गई और अनिष्ट की आशंका ने उसे रुला दिया। उसका रुदन सुन कर एक साध्वी बाहर आई और उसे सान्त्वना दे कर उपाश्रय के भीतर ले गई। रत्नप्रभा उपाश्रय में गई, तब तक वीरभद्र उसे गुप्त रह कर देखता रहा। फिर वह निश्चित हो कर चला गया और अपना वामन रूप बना कर जादूगरी करता हुआ नगर में घूमने लगा। उसकी कला ने नगरभर को मोह लिया। वहाँ के नरेश ईशानचन्द्र भी उसकी कला पर मुग्ध हो गया।

उपाश्रय में पहुँचने के बाद अनंगसुन्दरी और प्रियदर्शना ने रत्नप्रभा को देखा। उसका वृत्तांत सुनने के बाद उन्होंने रत्नप्रभा से उसके पति का वर्ण आदि पूछा। रत्नप्रभा ने कहा—"वे सिंहलद्वीप के निवासी, गौर वर्ण, समस्त कलाओं में पारंगत और कामदेव के समान रूप वाले मेरे पति हैं। उनका नाम 'बुद्धदासजी' हैं।" यह सुन कर प्रियदर्शना बोली—"नाम और सिंहलद्वीप निवास के अतिरिक्त अन्य सभी बातें मेरे पति से, पूर्ण रूप से मिलती है।", अनंगसुन्दरी ने भी कहा—"मेरे पति के साथ भी नाम और वर्ण के

अतिरिक्त सभी विशेषताएँ मिलती है।" अब रत्नप्रभा भी उन दोनों के साथ, सगी तीन बहिनों जैसी रहने लगी। वामन बना हुआ वीरभद्र प्रतिदिन उपाश्रय में आ कर अपनी तीनों पत्नियों को देख जाता था। उन तीनों को साथ हिलमिल कर रहते देख कर वह प्रसन्न होता था।

एक बार राजा के सामने किसी सभासद ने कहा—"नगर के किसी उपाश्रय में तीन अपूर्व सुन्दरी युवतियाँ आई हुई हैं। वे तीनों पवित्र हैं। वे किसी पुरुष से नहीं बोलती। यदि कोई उनसे बोले, तो भी वे पुरुष से नहीं बोलती।" यह सुन कर वामन बने हुए वीरभद्र ने कहा—"मैं उनमें से एक-एक को अपने से बोला सकता हूँ।" वह बड़े-बड़े अधिकारियों और मुख्य नागरिकों के साथ उपाश्रय में आया। उसने एक मुख्य अधिकारी को पहले ही कह दिया कि "उपाश्रय में बैठने के बाद मुझे 'कोई कथा कहने' के लिए कहना।" उपाश्रय में प्रवेश कर के प्रवर्तिनी महासती और अन्य सतियों को वन्दना की और उपाश्रय के द्वार के निकट बैठ गया। वामन को देखने के लिए साध्वीजी के साथ तीनों महिलाएँ भी आ गईं। वामन ने कहा—"मैं थोड़ी देर के लिए बैठता हूँ, फिर राजेन्द्र के पास जाने का समय होने पर में चला जाऊँगा।" यह सुन कर साथियों में से एक ने कहा—"इतने में कोई आश्चर्यकारक कथा ही सुना दो।" वामन ने कहा—"सुनी हुई कथा कहूँ, या बीती हुई हकीकत कहूँ?" उत्तर मिला—"बीती हुई ही सुना दो।" अब वामन कहने लगा;—

"ताम्रलिप्ति नामकी नगरी में ऋषभदत्त सेठ रहते हैं। वे एक बार व्यापारार्थ पद्मिनीखंड में आये। उन्होंने सागरदत्त सेठ की सुपुत्री प्रियदर्शना के साथ अपने पुत्र वीरभद्र के लग्न कर दिये। वीरभद्र, प्रियदर्शना के साथ सुखपूर्वक रहने लगा। एक दिन प्रियदर्शना कपट-निद्रा में सोई हुई थी। वीरभद्र उसे जगाने लगा, तब प्रियदर्शना ने कहा;—

—" मैं अपने कुल गौरव एवं शील की रक्षा के लिए स्त्रियों से बात नहीं करता।"

—" कुलीन व्यक्ति का प्रथम गुण दाक्षिण्यता है। आप दाक्षिण्यता से ही मुझे बताइए।"

—"अभी तो समय हो चुका है। अब मैं कल बतलाऊँगा।" इतना कह कर वह चला गया। दूसरे दिन उसने आगे की बात इस प्रकार कही;—

"वीरभद्र मन्त्रगुटिका से श्यामवर्ण वाला बन कर देशाटन करता हुआ सिंहलद्वीप पहुँचा।" इस प्रकार वह अनंगसुन्दरी सम्बन्धी वृत्तांत, समुद्री संकट तक कह कर रुक गया। अनंगसुन्दरी ने आग्रह पूर्वक पूछा—" भद्र! अब वीरभद्र कहाँ है?" "अब मेरे दरबार में जाने का समय हो गया है। शेष बात कल कहूँगा।"—इतना कह कर चला गया। तीसरे दिन उसने विद्याधर द्वारा बचाये जाने और रत्नप्रभा के साथ उपाश्रय तक आने की बात कही। रत्नप्रभा वे पूछा—" अब बुद्धदास कहाँ है?" वामन ने कहा—" शेष बात कल कही जायगी," और चला गया। तीनों महिलाओं को विश्वास हो गया कि हमारा पति एक ही है।"

महर्षि ने इतनी कथा कहने के बाद सागर सेठ से कहा—" यह वामन ही तुम्हारा जामाता है और यही उन तीनों स्त्रियों का पति है। अभी यह कला-प्रदर्शन की इच्छा से वामन बना हुआ है।" सागर सेठ, महात्मा को वन्दना कर के वामन के साथ उपाश्रय में आये। उन्होंने साध्वियों को वन्दना करने के बाद तीनों स्त्रियों से कहा—" तुम तीनों का पति यह वामन ही है।" एकान्त में जा कर वामन ने अपना रूप बदला। पहले वह श्याम वर्ण हो कर आया। अगंगसुन्दरी ने उसे पहिचान लिया। उसके बाद वह अपने मूल गौरवर्ण में आ गया। सेठ ने पूछा—"तुमने इतना प्रपंच क्यों किया?" वीरभद्र ने कहा—' मैं तो सैर-सपाटे और कला-प्रदर्शन के लिए ही घर से चला था।"

दूसरे दिन भगवान् अरनाथ स्वामी ने वीरभद्र के पूर्वभव का वृत्तांत कहते हुए बताया कि—" मैं पूर्व के तीसरे भव में पूर्व-विदेह में राज्य का त्याग कर दीक्षित हो कर विचर रहा था। चार मास के तप का पारणा मैंने रत्नपुर के सेठ जिनदास के यहाँ किया था। जिनदास आयु पूर्ण कर ब्रह्म देवलोक में गया। वहाँ से च्यव कर मनुष्य-भव में समृद्धिवान् श्रावक हुआ। वहाँ धर्म की आराधना कर के अच्युत देवलोक में गया और वहाँ से च्यव कर वीरभद्र हुआ है। पुण्यानुबन्धी-पुण्य का यह फल है।" भगवान् विहार कर गए। वीरभद्र ने चिरकाल तक भोग जीवन व्यतीत किया और संयम पालकर स्वर्ग में गया।

भगवान् अरनाथ स्वामी के कुंभ आदि ३३ गणधर, ५०००० साधु, ६०००० साध्वियाँ, ६१० चौदह पूर्वधर, २६०० अवधिज्ञानी, २५५१ मनःपर्यायज्ञानी, २८०० केवलज्ञानी, ७३०० वैक्रिय लब्धि वाले, १६०० वाद लब्धि वाले, १८४००० श्रावक और ३७२००० श्राविकाएँ हुईं।

भगवान् अरनाथ स्वामी २०९९७ वर्ष केवलज्ञानी तीर्थंकरपने विचरे। निर्वाण समय निकट जान कर एक हजार मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे और अनशन किया। एक मास के पश्चात् मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को रेवती नक्षत्र में मोक्ष प्राप्त हुए।

भगवान् अरनाथ स्वामी २१००० वर्ष कुमार अवस्था में, इतने ही मांडलिक राजा, इतने ही वर्ष चक्रवर्ती सम्राट और इतने ही वर्ष व्रत-पर्याय में रहे। कुल आयु ८४००० वर्ष का था। इन्द्रादि देवों ने भगवान् का निर्वाण-महोत्सव किया।

अठारहवें तीर्थंकर

भगवान्

॥ अरनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

छठे वासुदेव-बलदेव

भगवान् अरनाथ के तीर्थ में छठे वासुदेव, बलदेव और प्रतिवासुदेव हुए। उनका चरित्र इस प्रकार है।

विजयपुर नाम के नगर में सुदर्शन नाम का राजा था। उसने दमधर नाम के मुनिराज से धर्मोपदेश सुन कर दीक्षा ग्रहण करली और चारित्र तथा तप की आराधना कर के सहस्रार नाम के देवलोक में देव हुआ।

इस भरत क्षेत्र में पोतनपुर नाम का नगर था। प्रियमित्र नाम का राजा वहाँ राज करता था। उस राजा की अत्यंत सुन्दरी एवं प्रिय रानी का, सुकेतु नाम के दूसरे बलवान् राजा ने हरण कर लिया था। इस असह्य आघात से प्रियमित्र राजा अत्यंत दुखी हुआ। संसार की भयानक स्थिति का विचार कर वह विरक्त हो गया और संयमी बन कर, कठोर तप करने लगा। वह चारित्र और तप की आराधना तो करता था, किन्तु उसके हृदय में सुकेतु के प्रति वैर का काँटा खटक रहा था। जब उसे वह याद आता, तो वह द्वेष पूर्ण स्थिति में कुछ समय सोचता ही रहता। उसने अपने शरीर की उपेक्षा कर के कठोर साधना अपना ली, किन्तु साथ ही आत्मा की भी उपेक्षा कर दी और वैरभाव की तीव्रता में यह निश्चय कर लिया;—"मैं इस समय तो भौतिक साधनों से हीन हूँ। किन्तु इस कठोर साधना के फलस्वरूप आगामी भव में विपुल एवं अमोघ साधनों का स्वामी बन कर, इस सुकेतु के सर्वनाश का करण बनूं‡। इस प्रकार का संकल्प कर के मन में एक गांठ बाँधली और जीवन पर्यन्त इस वैर की गाँठ को बनाये रखा। साधना उनकी चलती रही। किन्तु अध्यवसायों में रही हुई अशुद्धि ने उस साधना को मैली बना दिया। वे जीवन की स्थिति पूर्ण कर माहेन्द्र नामक चौथे देवलोक में देव हुए।

वैताढ्यगिरि पर अरिंजय नगर में मेघनाद नाम का विद्याधर राजा था। सुभूम चक्रवर्ती ने उसे विद्याधर की दोनों श्रेणियों का राज्य दिया था। वह सुभूम चक्रवर्ती की रानी पद्मश्री का पिता था। प्रियमित्र की रानी का हरण करने वाला सुकेतु राजा भवभ्रमण करता हुआ मेघनाद के वंश में 'बलि' नाम का प्रतिवासुदेव हुआ। वह तीन खण्ड पृथ्वी का अधिपति था।

---

‡ पाठक सोच सकते हैं कि निदान करने वाले आगामी भव की अनुकूलता का ही निदान क्यों करते हैं। इसी भव का क्यों नहीं करते? उत्तर है--यदि इसी भव में वैर लेना चाहें, तो उन्हें साधुता से पतित हो कर लोकनिन्दित होना पड़े। वे सोचते हैं कि हमने आजीवन संयमी रहने की प्रतिज्ञा ली। अतएव प्रतिज्ञा का भंग हम नहीं कर सकते। अन्यथा तेजोलेश्या आदि शक्ति प्राप्त कर, वे इसी भव में बदला ले सकते थे।

इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध में चक्रपुर नाम का नगर था। वहाँ महाशिर नाम का महाप्रतापी राजा राज करता था। वह बुद्धि, कला और प्रतिभा में उस समय के अन्य राजाओं में सर्वोपरि था। उस राजा के 'वैजयंती' और 'लक्ष्मीवती' नाम की दो रानियाँ थीं। वे रूप, गुण और अन्य विशेषताओं से विभूषित थीं। मुनिराज सुदर्शनजी का जीव, सहस्रार देवलोक से च्यव कर महारानी वैजयंती के गर्भ में आया। महारानी ने चार महा-स्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। योग्य वय में राजकुमार 'आनन्द' विद्या, कला एवं न्याय-नीति में पारंगत हुआ।

प्रियमित्र मुनि का जीव, चौथे माहेन्द्र स्वर्ग से च्यव कर महारानी लक्ष्मीवती की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। महारानी ने सात महास्वप्न देखे। जन्म होने पर पुत्र का नाम 'पुरुषपुंडरीक' दिया गया। वह भी विद्या और कला आदि में प्रवीण हो गया। आनन्द और पुरुषपुंडरीक में घनिष्ठ स्नेह था। दोनों अतिशय योद्धा और महान् शक्तिशाली थे। राजेन्द्रपुर के राजा उपेन्द्रसेन की अनुपम सुन्दरी कन्या राजकुमारी पद्मावती का विवाह राजकुमार पुरुषपुण्डरीक के साथ हुआ। त्रिखण्डाधिपति महाराजा बलि के पुण्य का उतार प्रारंभ हो कर पापोदय प्रकट होने वाला था। उसने पद्मावती के अनुपम रूप की प्रशंसा सुनी और उसे प्राप्त करने के लिए वह चढ़ आया। बलि को अनीतिपूर्वक आक्रमण करने के लिए आता हुआ जान कर राजकुमार आनन्द और पुरुषपुण्डरीक भी उसके सामने चढ़ आये। इन दोनों बन्धुओं के पुण्य का उदयकाल था। देवों ने राजकुमार आनन्द को हल आदि तथा पुरुषपुण्डरीक को शारंग धनुष आदि शस्त्र अर्पण किये। दोनों ओर की सेनाओं में युद्ध छिड़ गया। घमासान युद्ध में बलि की सेना ने भीषण प्रहार कर के शत्रु-सेना के छक्के छुड़ा दिए। अपनी सेना को हताश हो कर मरती-कटती और भागती हुई देख कर दोनों वीर योद्धा अपने शस्त्र ले कर आगे आये। राजकुमार पुरुषपुण्डरीक ने पांचजन्य शंख का नाद किया। उस महानाद के भीषण स्वर ने बलि की सेना के साहस को नष्ट कर दिया और भय भर दिया। आगे के सैनिक पीछे खिसकने लगे। पुरुषपुंडरीक ने इसके बाद शारंग धनुष का टंकार दिया। टंकार सुनते ही बलि की सेना भाग गई। अपनी सेना को रण-क्षेत्र छोड़ कर भागती हुई देख कर, बलि स्वयं रणक्षेत्र में आया और भीषण बाण-वर्षा करने लगा। उधर बलि की बाण-वर्षा से अपना बचाव करते हुए राजकुमार पुरुषपुण्डरीक भी बलि पर बाणों की मार चला रहे थे। अपने बाणों और विशिष्ट अस्त्रों का उचित प्रभाव नहीं देख कर बलि ने चक्र धारण किया और उसे घुमा कर जोर से अपने शत्रु पर

फेंक मारा। चक्र के प्रहार को राजकुमार सह नहीं सके और नीचे गिर कर मूर्च्छित हो गए। थोड़ी ही देर में सावधान हो कर उन्होंने उसी चक्र को उठाया और बलि से—"ले अब सम्भाल अपने इस चक्र को"—कहते हुए उन्होंने फेंका। बलि का पुण्य एवं आयुष्य समाप्त था। चक्र के प्रहार से उस का सिर कट गया और वह मर कर नरक में गया। प्रतिवासुदेव पर विजय पा कर पुरुषपुण्डरीक वासुदेव और ज्येष्ठ-भ्राता आनन्द बलदेव हो गए। उन्होंने दिग्विजय के लिए प्रयाण किया। अपने पेंसठ हजार वर्ष के आयुष्य तक राज्य-ऋद्धि और भोग-विलास में गृद्ध हो कर और निदान का फल भोग कर, मृत्यु पा छठी नरक का महा दुःख भोगने के लिए चले गए।

अपने छोटे भाई की मृत्यु से आनन्द बलदेव को बड़ा धक्का लगा। वे संसार का त्याग कर पूर्ण संयमी बनगए और चारित्र का पूर्ण शुद्धता के साथ पालन करते हुए मोक्ष पधार गए।

सुभूम चक्रवर्ती

भगवान् अरनाथ स्वामी के तीर्थ में ही 'सुभूम' नाम के आठवें चक्रवर्ती हुए। उनका चरित्र इस प्रकार है—

इस भरतक्षेत्र में एक विशाल नगर था। भूपाल नाम का राजा वहाँ राज करता था। वह महापराक्रमी या। किन्तु एक बार अनेक शत्रु राजाओं ने मिल कर एक साथ उस पर आक्रमण कर के उसे हरा दिया। अपनी पराजय से खिन्न हो कर, भूपाल विरक्त हो गया और 'संभूति' मुनिराज के पास निर्ग्रंथ प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। संयम के साथ उग्र तप करते हुए वे विचरने लगे। कालान्तर में उनके मन में भोग-लालसा उत्पन्न हुई। मोह की दबी और मुरझाई हुई विष-लता भी बड़ी विषैली होती है। इसे थोड़ासा भी अनुकूल निमित्त मिला कि क्षिणप्रायः दिखाई देने वाली लता पुनः हरीभरी हो कर अपना प्रभाव बताने लगती है। मोह को नष्ट करने के लिए तत्पर बने हुए राजर्षि पुनः मोह के चक्कर में पड़ गए और निदान कर लिया कि "मेरी उच्च साधना के फल स्वरूप, आगामी भव में में काम-भोग की सर्वोत्तम एवं प्रचुर सामग्री का भोक्ता बनूं।" इस प्रकार अपनी साधना से (—जो चिन्तामणि रत्न से भी महान् फल देने वाली थी) किंपाक फल के समान दुःख-दायी विषफल प्राप्त कर लिया। वे मृत्यु पा कर महाशुक्र नाम के आठवें स्वर्ग में देव हुए।

भरतक्षेत्र के वसंतपुर नगर में अपने वंश का उच्छेद करने वाला एक 'अग्निक' नाम का लड़का था। एक बार वह विदेश गया। वह अकेला भटकता हुआ तापसों के आश्रम में चला गया। आश्रम के वृद्ध कुलपति ने उसे अपने पुत्र के समान रखा और उसे तापस बनाया। वह 'जमदग्नि' के नाम से प्रख्यात हुआ। उग्र तप करते हुए वह स्वयं अपने दुःसह तेज से विशेष विख्यात हुआ।

परशुराम की कथा

वैश्वानर नाम का देव पूर्वभव में श्रावक था और धन्वन्तरी नाम का देव, तापस-भक्त था। दोनों देवों में परस्पर वाद छिड़ गया। वैश्वानर कहता था कि 'आर्हत धर्म यथार्थ एवं सत्य है' और धन्वन्तरी कहता था 'तापस धर्म उत्तम है।' दोनों ने परीक्षा करने का निश्चय किया। वैश्वानर ने कहा—'तू किसी नवदीक्षित निर्ग्रंथ की भी परीक्षा करेगा, तो वह सच्चा उतरेगा। किंतु तेरे किसी प्रौढ़ साधक की परीक्षा ली जायगी, तो वह टिक नहीं सकेगा।' पहले दोनों देव निर्ग्रंथ की परीक्षा करने आये। मिथिलानगरी का पद्मरथ राजा भाव-यति था। वह प्रव्रज्या ग्रहण करने के उद्देश्य से मिथिलानगरी से पादविहार कर चम्पानगरी में, भ० वासुपूज्य स्वामी के पास जा रहा था। दोनों देव उसके पास आये और उसके सामने भोजन और पानी के पात्र रख कर, भोजन करने का निवेदन किया। यद्यपि पद्मरथ भूख और प्यास से पीड़ित था, तथापि अकल्पनीय होने के कारण भोजन और पानी ग्रहण नहीं किया। देवों ने मार्ग में कंकरों को इतने तीक्ष्ण बना दिये कि मार्ग चलना कठिन हो गया और मुनि के कोमल पाँवों में से रक्त बहने लगा किन्तु वे विचलित नहीं हुए। थोड़ी दूर चलने पर उन्हें एक सिद्धपुत्र* का रूप धारण किया हुआ देव सामने आ कर कहने लगा;—"हे महाभाग ! अभी तो तुम्हारा जीवन बहुत लम्बा है और खाने-पीने, भोग भोगने और संसार सुख का आस्वादन करने के दिन है। अभी से योग लेने की क्या आवश्यकता हुई ? जब भोग से तृप्त होजाओ और इन्द्रियाँ निर्बल हो जाय, तब साधु बनना। भरपूर युवावस्था में साधु बन कर, प्राप्त मनुष्य-भव को व्यर्थ गँवाना बुद्धिमानी नहीं है।" भावमुनि पद्मरथजी ने कहा;—"भाई ! जीवन का क्या भरोसा ? साधना में विलम्ब करना बुद्धिमानी नहीं है। यदि जीवन लम्बा हुआ, तो धर्म-साधना बहुत होगी।

* संयम से गिरा हुआ—पड़वाई।

यह तो विशेष लाभ की बात है। कल के भरोसे निश्चित रहना तो मूर्खता है।"

देवों ने उसकी दृढ़ता देख ली। अब वे किसी तापस की परीक्षा करने के लिए चले। चलते-चलते वे दोनों उस जमदग्नि तपस्वी के आश्रम में आये।

दोनों देव जमदग्नि के पास आये। वह विशाल वट वृक्ष के नीचे बैठा था। उसकी बढ़ी हुई जटाएँ भूमि को स्पर्श कर रही थी। वह ध्यानारूढ़ था। दोनों देवों ने चिड़िया के जोड़े का रूप बनाया और जमदग्नि की दाढ़ी के झुरमुट में बैठ गए। चीड़े ने चिड़िया से कहा;—

"प्रिये ! मैं हिमालय की ओर जाऊँगा।"

"फिर कब लौटेगा"—चिड़िया ने पूछा।

"बहुत जल्दी"—चिड़े ने कहा—

"यदि तू वहीं किसी सुन्दर चिड़िया में लुब्ध हो कर मुझे भूल जाय तो"—चिड़िया ने आशंका व्यक्त की।

"नहीं, मैं वहां नहीं रुकूंगा। यदि मैं अपने वचन से मुकर जाऊँ, तो मुझे गो-हत्या का पाप लगे"—चिड़े ने शपथपूर्वक कहा।

"नहीं, इस साधारण शपथ पर मैं तुझे नहीं छोड़ती। यदि तू यह शपथ ले कि 'मैं काम कर के वापिस नहीं लौटुं और वहीं किसी चिड़िया में फँस जाऊँ तो, मुझे इस तपस्वी का पाप लगे।' इस शपथ पर मैं तुझे छोड़ सकती हूँ"—चिड़िया ने अपनी शर्त रखी और चिड़े ने स्वीकार करली।

यह बात जमदग्नि सुन रहा था। जब उसने चिड़िया की शर्त सुनी, तो क्रोधित हो गया और दोनों पक्षियों को हाथों में पकड़ कर पूछा;—

"बोल, मैंने कोनसा पाप किया ? मैं चिरकाल से ऐसा कठोर तप कर रहा हूँ और कभी कोई पाप नहीं किया, फिर भी तुम मुझे गो-घातक से भी महापापी बतला रहे हो ? बताओ मैंने कब और कोनसा महापाप किया ?"

चिड़िया ने कहा;—"ऋषिश्वर ! क्रोध क्यों करते हैं, क्या आप इस श्रुति को नहीं जानते—"**अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च,**" जब आप अपुत्र हैं, तो आपकी सद्गति कैसे होगी और आपकी यह तपस्या किस काम आएगी ? विना गृहस्थ-धर्म का पालन किये, विना पत्नी और पुत्र को तृप्त कर, पितृ ऋण का भार उतारे और बिना गृहस्थ धर्म सञ्चालक उत्तराधिकारी छोड़े, यह व्यर्थ का पाप प्रपञ्च क्यों किया ? जो

अवस्था गृहस्थ-धर्म पालन करने की थी, उसे नष्ट कर के और कर्त्तव्य-भ्रष्ट हो कर आपने पाप नहीं किया क्या ? जरा शांति से विचार कर देखिये।"

तपस्वी विचार में पड़ गया। उसने सोचा "बात तो ठीक कहता है—यह पक्षी। धर्म-शास्त्र में लिखा है कि पुत्र-विहीन मनुष्य की सद्गति नहीं होती। मैं इस सिद्धांत को तो भूल ही गया। इस भूल से मेरा इतने वर्षों का जप, तप, ध्यान और साधना व्यर्थ गई। बिना स्त्री और पुत्र के मेरा उद्धार नहीं हो सकता।"

इस प्रकार जमदग्नि को विचलित हुआ जान कर धनवन्तरी देव आर्हत् हो गया और दोनों देव अदृश्य हो गए।

मिथ्या विचारों से भ्रमित जमदग्नि ने अपना आश्रम छोड़ दिया और 'नेमिक कोष्टक' नगर में आया। वहाँ के राजा जितशत्रु के बहुत-सी कन्याएँ थीं। उनमें से एक कन्या की याचना करने के लिए जमदग्नि राजा के पास आये। राजा ने उनका सत्कार किया और आने का प्रयोजन पूछा। जमदग्नि ने कहा—"मैं आप से एक कन्या की याचना करने आया हूँ।" राजा उसकी शक्ति से डरता था। उसने कहा—"मेरे सौ कन्या हैं। इनमें से जो आपके साथ आना चाहे, उसे आप ले सकते हैं।" जमदग्नि अंतःपुर में गये और राजकुमारियों से कहा—"तुम में से कोई एक मेरी धर्मपत्नी हो जाओ।" राजकुमारियों ने यह बात सुन कर तिरस्कार पूर्वक कहा;—"अरे ओ जोगड़े ! भीख माँग कर पेट भरता है, जटाधारी ऋषि बना हुआ है, तुझे राजकुमारी को पत्नी बनाने का मनोरथ करते लज्जा नहीं आती ?" इस प्रकार सभी ने उससे घृणा की और उसकी इस अनहोनी बात पर 'थू थू' कर के मुंह बिगाड़ने लगी। जमदग्नि इस अपमान से क्रोधित हो गया और अपनी शक्ति से उन सब को कुबड़ी बना दिया। उस समय एक छोटी कन्या रेणु धूल के ढेर के साथ खेल रही थी। जमदग्नि ने उसे पुकारा—"रेणुका ! बच्ची ने जमदग्नि की ओर देखा। उसने एक बिजोरे का फल दिखाते हुए कहा—"ले, रेणुका ! यह लेना है ?" बालिका ने फल लेने के लिए हाथ बढ़ाया। उसके बढ़े हुए हाथ को स्वीकृति मान कर उसे उठा लिया। राजा ने उस बालिका को गाय आदि के साथ विधिपूर्वक दे दी। संतुष्ट हुए जमदग्नि ने सभी राजकुमारियों को स्वस्थ किया। रेणुका को जमदग्नि अपने आश्रम में लाया और यत्नपूर्वक उसका पालन-पोषण करने लगा। कालान्तर में रेणुका यौवन वय को प्राप्त हुई और जमदग्नि ने उसे पत्नी रूप में स्वीकार की। ऋतुकाल होने पर जमदग्नि ने रेणुका से कहा—"मैं तेरे लिए एक ऐसे चरु (हवन के लिए पकाया हुआ

अन्न) की साधना करूँगा कि जिससे तेरे गर्भ से ऐसा पुत्र उत्पन्न हो, जो सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण हो।" इस पर से रेणुका ने कहा—"हस्तिनापुर के महाराज अनंतवीर्य की रानी मेरी बहिन है। उसके लिए भी आप ऐसा चरु साधें कि जिससे उसके गर्भ से एक क्षत्रियोत्तम पुत्र का जन्म हो।" जमदग्नि ने दोनों चरु की साधना की और दोनों चरु रेणुका को दे दिये। रेणुका के मन में विचार उत्पन्न हुआ—'मैं तो वनवासिनी हुई। किन्तु मेरा पुत्र भी यदि ऐसा ही वनवासी ब्राह्मण हो, तो इससे क्या लाभ होगा। यदि मेरा पुत्र क्षत्रिय-शिरोमणि हो, तो मैं धन्यभागा हो जाऊँगा।" उसने क्षत्रिय चरु खा लिया और ब्राह्मण चरु अपनी बहिन को दे दिया। दोनों के एक-एक पुत्र हुआ। रेणुका के पुत्र का नाम 'राम' और उसकी बहिन के पुत्र का नाम 'कृतवीर्य' हुआ।

एक बार एक विद्याधर आकाश मार्ग से जा रहा था। वह मार्ग में ही अतिसार रोग से आक्रान्त हो गया और अपनी आकाशगामिनी विद्या भूल गया। वह उस आश्रम के पास उतरा—जहाँ जमदग्नि, रेणुका और राम रहते थे। राम ने उस विद्याधर की सेवा की और निरोग बनाया। सेवा से प्रसन्न हो कर विद्याधर ने राम को परशु विद्या प्रदान की। राम ने उस विद्या को सिद्ध कर ली और परशु (फरसा—कुल्हाड़ी जैसा शस्त्र) ग्रहण करने लगा। इससे उसका नाम 'परशुराम' प्रसिद्ध हो गया।

कालान्तर में रेणुका अपनी बहिन को मिलने के लिए हस्तिनापुर गई। महाराज अनन्तवीर्य रेणुका को देख कर मोहित हो गए और उसके साथ कामक्रीड़ा करने लगे। इस व्यभिचार से रेणुका के एक पुत्र का जन्म हुआ और उस जारज पुत्र के साथ वह आश्रम में पहुँची। जमदग्नि ने तो उसे स्वीकार कर लिया, किन्तु परशुराम को माता का कुकर्म सहन नहीं हुआ। उसने अपने फरसे से रेणुका और उसके पुत्र को मार डाला। यह समाचार अनन्तवीर्य ने सुना, तो वह क्रोधित हो कर परशुराम पर चढ़ आया और जमदग्नि के आश्रम को नष्ट कर दिया। तापसों को मार पीट कर उनकी गायें आदि ले कर लौट गया। जब परशुराम ने तापसों की दुर्दशा का हाल सुना, तो अत्यन्त क्रुद्ध हो गया और फरसा लेकर राजा के पीछे पड़ा। परशुराम, अपने विद्या-सिद्ध फरसे से अनन्तवीर्य की सेना को काटने लगा। राजा सहित सेना मारी गई। अनन्तवीर्य के मरने के बाद उसके पुत्र कृतवीर्य का राज्याभिषेक हुआ। कृतवीर्य अपनी रानी तारा के साथ भोग भोगता हुआ सुखपूर्वक काल बिताने लगा।

भूपाल मुनि ‡ का जीव, महाशुक्र देवलोक से च्यव कर महारानी तारा के गर्भ में

---

‡ देखो पृ. ३७७।

आया। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे।

कृतवीर्य ने अपनी माता से, पिता की मृत्यु का हाल सुना, तो पितृघातक से वैर लेने पर उद्यत हो गया। वह सेना ले कर जमदग्नि के आश्रम में आया और जमदग्नि को मार डाला। जब परशुराम ने सुना, तो वह हस्तिनापुर आया और कृतवीर्य को मार कर स्वयं हस्तिनापुर का राजा बन गया। परशुराम की क्रूरता से भयभीत हो कर महारानी तारा निकल भागी और वन में जा कर एक तापस के आश्रम में पहुँची। कुलपति ने परिस्थिति का विचार कर तारा को भूमिगृह में रखी। वहाँ उसके पुत्र का जन्म हुआ। भूमिगृह में जन्म होने के कारण बालक का नाम 'सुभूम' रखा।

क्रोध की मूर्ति के समान परशुराम ने क्षत्रियों का संहार करना प्रारंभ किया। एक बार वह विनाशमूर्ति उस आश्रम में पहुँची और क्षत्रिय को खोजने लगी। तापसों ने कहा—"हम तपस्या करने वाले क्षत्रिय हैं।' परशुराम ने सात बार पृथ्वी को क्षत्रियों से रहित कर दी और मारे हुए क्षत्रिय योद्धाओं की दाढ़ाओं से थाल भर कर प्रदर्शन के लिए रख दिया।

एक बार परशुराम ने किसी भविष्यवेत्ता से पूछा—"मेरी मृत्यु किस निमित्त से होगी ?" उत्तर मिला—"जिस पुरुष के प्रताप से ये दाढ़ाएँ क्षीर रूप मे परिणत हो जायगा और जो इस सिंहासन पर बैठ कर उस खीर को पी जायगा, वही तुम्हारी मृत्यु का कारण बनेगा।" यह सुन कर परशुराम ने एक दानशाला स्थापित की और उसके सामने एक उच्चासन पर दाढ़ाओं से परिपूर्ण वह थाल रखवाया और उस पर पहरा लगा दिया।

सुभूम बढ़ते-बढ़ते युवावस्था में आया।

वैताढय पर्वत पर रहने वाले विद्याधर मेघनाद ने किसी भविष्यवेत्ता से पूछा—"मेरी पुत्री पद्मश्री का पति कौन होगा ?" भविष्यवेत्ता ने सुभूम को बताया। मेघनाद, पुत्री को ले कर सुभूम के पास आया और उसके साथ पुत्री के लग्न कर के स्वयं उसकी सहायता के लिए उसके पास रह गया।

एक बार सुभूम ने अपनी माता से पूछा—"क्या पृथ्वी इतनी ही बड़ी है, जहाँ हम रहते हैं ?" माता ने कहा—"पुत्र ! पृथ्वी तो असंख्य योजन लम्बी व चौड़ी है। इस पर हस्तिनापुर नगर है, जिस पर तुम्हारे पिता राज करते थे। किन्तु दुष्ट परशुराम ने उन्हें मार डाला और खुद राजा बन गया। उस समय तुम गर्भ में थे। मैं तुम्हें ले कर यहाँ चली आई और गुप्त रूप से तुम्हारा पालन किया।" यह सुनते ही सुभूम का क्रोध भड़का

वह उसी समय हस्तिनापुर के लिए चल दिया। उसका श्वशुर मेघनाद भी साथ हो गया। वह हस्तिनापुर की दानशाला में आया। उसके आते ही थाल में रही हुई दाढ़ें गल कर क्षीर रूप में हो गई। सुभूम उस क्षीर को पी गया। यह देख कर वहाँ रहे हुए रक्षक ब्राह्मण युद्ध करने को तत्पर हो गए। मेघनाद ने उन सब को मार डाला। यह सुन कर परशुराम दौड़ा आया और सुभूम पर अपना फरसा फेंका। किंतु उसका निशाना चूक गया। परशुराम के पुण्य समाप्त हो गए थे और सुभूम के पुण्य का उदय हो रहा था। सुभूम ने वह क्षीर की खाली थाली परशुराम पर फेंकी। थाली ने चक्र के समान परशुराम का सिर काट डाला। परशुराम के मरने पर सुभूम राज्याधिपति हो गया। उसने इक्कीस बार पृथ्वी को ब्राह्मण-विहीन कर डाली और छह खंड को साध कर चक्रवर्ती सम्राट हो गया। उसने मेघनाद को वैताढ्य पर्वत की दोनों श्रेणियों का राज्य दिया।

भोगगृद्ध और हिंसादि महारंभ तथा रौद्रध्यान की तीव्रता युक्त अपनी साठ हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर सुभूम नाम का आठवाँ चक्रवर्ती सातवीं नरक में गया।

दत्त वासुदेव चरित्र

भगवान् श्री अरनाथ स्वामी के तीर्थ में 'दत्त' नाम का सातवाँ वासुदेव, 'नन्दन' बलदेव और 'प्रल्हाद' प्रतिवासुदेव हुआ।

जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह में सुसीमा नाम की नगरी थी। वसुंधर नाम के नरेश वहाँ के अधिपति थे। उन्होंने सुधर्म अनगार के समीप दीक्षा ली और चारित्र का पालन कर पाँचवें देवलोक में देव हुए।

जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध में शीलपुर नगर था। मन्दरधीर राजा राज करते थे। उसके ललितमित्र नाम का गुणवान् ज्येष्ठ पुत्र था। राजा के खल नाम के मन्त्री ने बड़े राजकुमार की निन्दा कर के राजा को अप्रसन्न कर दिया और छोटे पुत्र को युवराज बना दिया। इससे अप्रसन्न हो कर ललितमित्र ने घोषसेन मुनिजी के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। उग्र तप करते हुए उसने निदान कर लिया कि—"मैं आगामी भव में दुष्ट खल मन्त्री का वध करने वाला बनूं।" निदान-शल्य सहित काल कर के वह प्रथम देवलोक में ऋद्धि सम्पन्न देव हुआ। खल मन्त्री चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करता हुआ जम्बूद्वीप के वैताढ्य पर्वत की उत्तर श्रेणी के तिलकपुर नगर में विद्याधरों का अधिपति

'प्रह्लाद' नाम का प्रतिवासुदेव हुआ।

जम्बूद्वीप के दक्षिण भरत में वाराणसी नगरी थी। अग्निसिंह नाम का इक्ष्वाकु वंशी राजा था। उसके रूप एवं सौन्दर्य से भरपूर जयंती और शेषवती नाम की दो रानियाँ थीं। वसुंधर मुनि का जीव, पाँचवें स्वर्ग से च्यव कर चार महास्वप्न के साथ महारानी जयंती के गर्भ में आया। जन्म होने पर पुत्र का नाम 'नन्दन' दिया। ललितमित्र का जीव, महारानी शेषवती के गर्भ में सात महास्वप्न के साथ आया। जन्म होने पर पुत्र का नाम 'दत्त' रखा। दोनों भाई युवावस्था में समानवय के मित्र के समान लगते थे। वे महापराक्रमी योद्धा थे।

प्रतिवासुदेव प्रह्लाद को समाचार मिले कि—अग्निसिंह राजा के पास ऐरावत के समान उत्तम हाथी है। उसने हाथी की माँग की, किन्तु राजकुमारों ने उस माँग को अस्वीकार कर दी। प्रह्लाद क्रोधित हो कर युद्ध के लिए चढ़ आया और अन्त में उसी के चक्र से मारा गया। उसके समस्त राज्य पर राजकुमार दत्त ने अधिकार कर लिया और वासुदेव पद पर प्रतिष्ठित हुआ। राजकुमार नन्द बलदेव हुए। राज्य एवं भोग में गृद्ध एवं दुर्ध्यान में लीन रहते हुए दत्त वासुदेव अपनी ५६००० वर्ष की आयु पूर्ण कर के पाँचवीं नरक में गए। नन्दन बलदेव संसार से विरक्त हो कर दीक्षित हो गए और चारित्र की आराधना कर मोक्ष प्राप्त हुए।
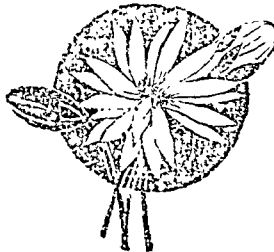
भ० मल्लिनाथजी

जम्बूद्वीप के अपर-विदेह के सलिलावती विजय में वीतशोका नाम की नगरी थी। 'बल' नाम के महाराजा वहाँ राज करते थे। वे बड़े पराक्रमी और योद्धा थे। उनके 'धारणी' नाम की महारानी थी। 'महाबल उनका राजकुमार था। वह भी पूर्ण पराक्रमी था। उसका कमलश्री आदि पाँचसौ राजकुमारियों के साथ विवाह हुआ था। राजकुमार महाबल के—अचल, धरण, पूरण, वसु, वैश्रमण और अभिचन्द्र नाम के छह राजा बाल-मित्र थे। एक बार उस नगरी के बाहर इन्द्रकुब्ज उद्यान में कुछ मुनि आ कर ठहरे। महाराज बल ने धर्मोपदेश सुना और युवराज महाबल को राज्यभार दे कर प्रव्रजित हो गए। तप-संयम की विशुद्धता पूर्वक आराधना करते हुए महाराजा ने मुक्ति प्राप्त की।

महाबल नरेश की कमलश्री महारानी से बलभद्र नामका पुत्र हुआ। यौवनवय प्राप्त होने पर राजकुमार बलभद्र को युवराज पद पर प्रतिष्ठित किया और आप अपने छः मित्र राजाओं के साथ जिनधर्म का श्रवण करने लगे। महाराजा महाबलजी ने वैराग्य में सराबोर हो कर एक बार अपने मित्रों से कहा;—

"मित्रों ! मैं तो संसार से उद्विग्न हुआ हूँ और शीघ्र ही निग्रंथ-प्रव्रज्या लेना चाहता हूँ। तुम्हारी क्या इच्छा है ?"

—"मित्र ! जिस प्रकार अपन सब सांसारिक सुख-भोग में साथ रहे, उसी प्रकार त्याग-मार्ग में भी साथ रहेंगे। हमारी योग-साधना भी साथ ही होगी। हम एक-दूसरे से भिन्न नहीं रह सकते। हम मुक्ति में भी साथ ही पहुँचेंगे।"

महाबल नरेश ने युवराज बलभद्र को राज्याधिकार दिया। इसी प्रकार अन्य राजाओं ने भी अपने कुमारों को राज्य दिया। इसके बाद महाबल नरेश अपने छः मित्र-राजाओं के साथ महात्मा वरधर्म मुनिजी के पास दीक्षित हुए।

महाबल मुनि का मायाचार

प्रव्रजित होने के बाद सातों मुनिराजों ने यह प्रतिज्ञा की कि—"हम सातों ही एक ही प्रकार की तपस्या करते रहेंगे। किसी एक की इच्छा जो तप करने की होगी, वही तप हम सब करेंगे।" इस प्रकार निश्चय कर के सभी साधना में प्रवृत्त हो गए। साधना करते हुए महाबल मुनिराज के मन में विचार उत्पन्न हुआ—

"मैं संसार में सब से ऊँचा था। मेरे मित्र-राजाओं में मेरा दर्जा ऊँचा रहा और यहाँ भी ये मेरा विशेष आदर करते हैं। अब यदि मैं तपस्या भी सब के समान ही करूँगा, तो आगे पर समान कक्षा मिलेगी। इसलिए मुझे इन छहों मुनियों से विशेष तप करना चाहिए, जिससे स्वर्ग में भी मैं इनसे ऊँचे पद पर रहूँ।"

इस प्रकार विचार कर वे गुप्त रूप से अपना तप बढ़ाने लगे। जब पारणे का समय आता और अन्य मुनि पारणा ला कर श्री महाबल मुनिराज को पारणा करने का कहते, तो वे मायापूर्वक कहते—"आज तो मुझे भूख ही नहीं है, आज मेरे मस्तक में पीड़ा हो रही है। आज मेरे पेट में दर्द है"—इत्यादि बहाने बना कर पारणा नहीं करते और तपस्या बढ़ा लेते। इस प्रकार मायाचार से वे अपने छहों मित्र मुनिवरों को ठगते। इस मायाचार से उन्होंने 'स्त्रीवेद' का बन्ध कर लिया। इस माया के अतिरिक्त उनकी साधना उच्च प्रकार की थी। उच्च परिणाम, उग्रतप एवं अरिहंत आदि २० पदों की आराधना करते हुए उन्होंने तीर्थंकर नाम कर्म का निकाचित बन्ध भी कर लिया। उनकी संयम और तप की आराधना बढ़ती ही गई। अंत समय निकट जान कर सातों ही मुनिवरों ने अनशन किया। उनका संथारा दो मास तक चला और अप्रमत्त अवस्था में ही आयु पूर्ण कर 'जयंत'❀ नाम के तीसरे अनुत्तर विमान में अहमिन्द्रपने उत्पन्न हुए। उन सब की आयु बत्तीस सागरोपम प्रमाण हुई।

❀ आचार्य श्री हेमचन्द्रजी ने 'त्रिशष्ठीशलाका पुरुष चरित्र' में 'वैजयन्त' नामक दूसरा अनुत्तर विमान बतलाया। किन्तु ज्ञातासूत्र में 'जयन्त' ही लिखा है।

तीर्थंकर जन्म

इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध में 'मिथिला' नामकी प्रसिद्ध नगरी थी। वह धन-धान्यादि उत्तमताओं से समृद्ध थी। महाराजा कुंभ वहाँ के पराक्रमी शासक थे। वे उत्तम कुल-शील एवं राज-तेज से शोभायमान थे। रूप, लावण्य, सद्‌गुण एवं उत्तम महिलाओं की सभी प्रकार की विशेषताओं से विभूपित महारानी प्रभावती, महाराजा कुंभ की अर्द्धांगिना थी।

महात्मा महाबलजी का जीव, जयंत नामक अनुत्तर विमान से च्यव कर, फाल्गुन-शुक्ला चतुर्थी को अश्विनी नक्षत्र से चन्द्रमा का योग होने पर, महारानी प्रभावती के गर्भ में आया। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। गर्भ के तीसरे महीने बाद महारानी को दोहद (विशेष इच्छा) उत्पन्न हुआ कि 'पाँच वर्ण के सुन्दर एवं सुगन्धित पुष्पों से सजी हुई शय्या का उपभोग करूँ और उत्तम श्रीदामगंड (गुच्छे) को सूँघती हुई सुखपूर्वक रहूँ।' महादेवी के इस दोहद को निकट रहे हुए वाणव्यंतर देवों ने जाना और तद्‌नुसार पूरा किया। गर्भकाल पूर्ण होने पर मार्गशीर्ष-शुक्ला ११ को अश्विनी नक्षत्र में चन्द्रमा का योग होने पर और उच्च स्थान पर रहे हुए ग्रहों के समय, आधी रात में सभी शुभ लक्षणों से युक्त उन्नीसवें तीर्थंकर पद को प्राप्त होने वाली पुत्री को जन्म दिया।

सभी तीर्थंकर पुरुष ही होते हैं। स्त्री-शरीर से कोई जीव तीर्थंकर नहीं होता। यह नियम है। किन्तु उन्नीसवें तीर्थंकर का स्त्री-शरीर से जन्म लेना, एक आश्चर्यजनक घटना है। श्री महाबल मुनि ने संयम की साधना करते हुए भी माया कषाय का उतनी तन्मयता से सेवन किया कि जो संज्वलन से निकल कर अनन्तानुबन्धी की सीमा में पहुँच गया और उस समय स्त्री-वेद का बन्ध कर लिया। फिर साधना की उग्रता में तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध भी कर लिया। इस प्रकार बाँधा हुआ कर्म उदय में आया और स्त्री-पर्याय में उत्पन्न होना पड़ा।

दिक् कुमारियों, देवीदेवताओं और इन्द्रों ने जन्मोत्सव किया। माल्य की शय्या पर शयन करने के दोहद के कारण पुत्री का नाम "मल्लि" दिया गया। आपका रूप अनुपम, अलौकिक एवं सर्वश्रेष्ठ था। यौवनावस्था में आपका शरीर अत्यन्त एवं उत्कृष्ट शोभायमान हो रहा था।

निमित्त निर्माण

आप देवलोक से ही अवधिज्ञान ले कर आये थे। आपने उस अवधिज्ञान से अपने

पूर्व-भव के मित्रों को देखा और भविष्य का विचार कर के अपने सेवकों को आज्ञा दी कि—"अशोक वाटिका में एक भव्य मोहनगृह का निर्माण करो। वह अनेक खंभों से युक्त हो। उसके मध्यभाग में छः कमरे हों। प्रत्येक कमरे में एक जालगृह (जाली लगा हुआ बैठक का छोटा कमरा) हो और उसमें एक उत्तम सिंहासन रखा हो। यह मोहनघर अत्यंत रमणीय एवं मनोहर बनाओ।"

राजकुमारी मल्लि की आज्ञा होते ही काम प्रारम्भ हो गया और थोड़े ही दिनों में उनकी इच्छानुसार भव्य मोहनघर तय्यार हो गया। उसके बाद राजकुमारी ने ठीक अपने ही अनुरूप और अपने ही समान रूप-लावण्यादि उत्तमताओं से युक्त एक पोली स्वर्ण प्रतिमा बनवाई और एक पीठिका पर स्थापित करवा दी। उस प्रतिमा के मस्तक पर एक छिद्र बनवा कर कमलाकार ढक्कन लगवा दिया। वह प्रतिमा इस कौशल से बनवाई थी कि देखने वाला व्यक्ति उसे प्रतिमा नहीं समझ कर, साक्षात् प्रसन्नवदना राजकुमारी ही समझे।

प्रतिमा बनवाने के बाद भगवती मल्लिकुमारी, जो उत्तम भोजन करती, उसका एक ग्रास उस प्रतिमा के मस्तक पर रहे हुए छिद्र में डाल कर ढक्कन लगा देती। इस प्रकार वे प्रतिदिन करती रहती। वह भोजन का ग्रास प्रतिमा में पड़ा हुआ सड़ता रहता। उसमें असह्य दुर्गन्ध उत्पन्न होती रहती। वह सड़ांध दिनोदिन तीव्रतम होती गई। इस प्रकार यह निमित्त तय्यार होने लगा। मातापितादि इस क्रिया को देख कर विचार करते—'यह राजदुलारी, अपनी उत्तमोत्तम प्रतिमा में भोजन डाल कर क्यों सड़ा रही है ?' फिर वे सोचते—'अवश्य इसमें कुछ-न-कुछ रहस्य है। हमारी बेटी ऐसी नहीं, जो व्यर्थ ही ऐसा काम करे। यह अलौलिक आत्मा है। इसमें अवश्य ही कोई उत्तम उद्देश्य है। इसके द्वारा भविष्य में कोई उलझी हुई गुत्थी सुलझने वाली है। यथासमय इसका परिणाम सामने आ जयगा।" इस प्रकार सोच कर वे संतोष कर लेते।

पूर्वभव के मित्रों का आकर्षण

(१) महात्मा महाबलजी के साथी 'अचल' अनगार का जीव, अनुत्तर विमान से च्यव कर इसी भरत क्षेत्र में कौशल देश के साकेतपुर नगर के शासक के पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ और 'प्रतिबुद्धि' नाम का इक्ष्वाकुवंशीय नरेश हुआ। महाराज प्रतिबुद्धि के पद्मा-

वती महारानी थी और सुबुद्धि नाम का प्रखर बुद्धिशाली मन्त्री था।

साकेतपुर नगर के बाहर नागदेव का मंदिर था। महारानी पद्मावती, नागदेव का उत्सव कर रही थी। प्रतिबुद्ध नरेश के साथ महारानी उस उत्सव में गई। राजाज्ञा से वहाँ राजकुटुम्ब के लिए एक 'पुष्प-मण्डप' तय्यार किया गया। वह इस प्रकार कलापूर्ण ढंग से सुन्दर बनाया गया था कि देखने वालों को उसकी सुन्दरता अपूर्व लगे। उस 'कुसुमगृह' में विविध प्रकार के सुन्दर पुष्पों से बनाया हुआ एक मनोहर गेंद (अथवा मुद्गर) रक्खा गया था। जब प्रतिबुद्ध नरेश, पुष्प-मंडप में आये और विविध पुष्पों से बने हुए उस मनोहर श्रीदामगंड को देखा, तो चकित रह गये। इस प्रकार का उत्तम और कलापूर्ण श्रीदामगंड उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था। उनकी दृष्टि उसी पर स्थिर हो गई। उन्होंने अपने महामात्य 'सुबुद्धि' से पूछा—'देवप्रिय ! तुम मेरे आदेश से अनेक राज्यों में गये और अनेक उत्सवों में शरीक हुए। तुमने अन्य किसी स्थान पर इस प्रकार का उत्तम श्रीदामगंड देखा है ?" सुबुद्धि ने कहा—"स्वामिन् ! आपकी आज्ञा से एक बार मैं मिथिला गया था। उस समय वहाँ राजकन्या मल्लि की वर्ष-गाँठ मनाई जा रही थी। वहाँ मैंने जो श्रीदामगंड देखा, वह अपूर्व था। आपका यह श्रीदामगंड तो उसके लाखवें अंश में भी नहीं आता।" महामात्य की यह बात सुन कर राजा ने पूछा—'देवप्रिय ! जिस राजकुमारी का श्रीदामगंड इतना उत्तम है, तो वह स्वयं कैसी है ?" "स्वामिन् ! राजकुमारी मल्लि, विश्वभर में अपूर्व एवं अनुपम सुन्दरी है। उसकी सुन्दरता की बराबरी विश्व की कोई भी सुन्दरी नहीं कर सकती।" महामात्य के शब्दों ने प्रतिबुद्ध के मोह को जाग्रत कर दिया। उसका पूर्व स्नेह जाग्रत हुआ। उसने अपने दूत को, राजकन्या मल्लि की याचना करने के हेतु मिथिला नरेश के पास भेजा। उसने दूत को इतना अधिकार दे दिया था कि 'यदि मल्लि के बदले राज्य भी देना पड़े, तो देदे।' इस प्रकार पूर्वभव का प्रथम मित्र आकर्षित हुआ।

अरहन्नक श्रावक की दृढ़ता

(२) महात्मा धरणजी के अवतरण और आकर्षण की कथा इस प्रकार है। अंगदेश की चम्पानगरी में 'चन्द्रच्छाया' राजा राज करता था। वहाँ अरहन्नक आदि अनेक व्यापारी रहते थे। वे सभी सम्मिलित रूप से नौका द्वारा विदेशों में व्यापार करते थे। अर-

हन्नक श्रमणोपासक, जीव अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञाता और निर्ग्रन्थ-प्रवचन का रसिक था। उसकी रग-रग में जिनधर्म के प्रति पूर्ण अनुराग बसा हुआ था। किसी समय वे व्यापारी जहाज में माल भर कर विदेश जाने के लिए रवाना हुए। जब उनका जहाज सैकड़ों योजन चला गया, तब वहाँ एक उपद्रव खड़ा हुआ। अकाल में गर्जना, विद्युत् चमत्कार आदि कुलक्षणों के बाद वहाँ एक काले वर्ण वाला भयंकर पिशाच प्रकट हुआ। उसका शरीर बहुत लम्बा था। उसके अंगोपांग डरावने थे। उसकी देह पर सर्पादि भयंकर जंतु लिपटे हुए थे। उसका भयानक रूप देख कर जहाज के यात्री, मारे भय के धूजने लगे और एक दूसरे से चिपटने लगे। वे अपनी रक्षा के लिए इन्द्र, स्कन्ध, रुद्र, वैश्रमण, नाग, भूत, यक्षादि को मानने लगे। उनमें एक मात्र अरहन्नक श्रमणोपासक ही ऐसा था—जो उस पिशाच से बिलकुल नहीं डरा, किंतु सावधान हो कर मृत्यु सुधारने की तय्यारी शुरू कर दी। उसने अरिहंत भगवान् को नमस्कार कर के सागारी अनशन कर लिया और ध्यान लगा कर बैठ गया। वह ताल जैसा लम्बा पिशाच, अरहन्नक श्रावक के पास आया और उसे सम्बोधते हुए बोला—"अरहन्नक ! मैं आज इस जहाज को ऊँचा आकाश में ले जाऊंगा और वहाँ से ओंधा कर दूंगा, जिससे तुम सभी यात्री समुद्र में डूब कर अकाल में ही मौत के शिकार बन जाओगे और आर्त्तध्यान करते हुए दुर्गति में जाओगे। इस महा संकट से बचने का केवल एक ही रास्ता है और वह यह है कि 'तू अपने धर्म, अपने व्रत और अपनी प्रतिज्ञा छोड़ दे।" महानुभाव अरहन्नक समझ गया कि 'यह कोई दुष्टमति देव है।' उसने अपने मन से ही उत्तर दिया कि—"मैं श्रमणोपासक हूँ। चाहे पृथ्वी ही उलट जाय, सागर रसातल में चला जाय, या मेरा यह शरीर छिन्न-भिन्न कर दिया जाय, मैं धर्म से भिन्न नहीं हो सकता—मुझ से धर्म नहीं छोड़ा जा सकता। तू तेरी इच्छा हो सो कर।" इस प्रकार मन से ही उत्तर दे कर वह ध्यानस्थ हो गया। पिशाच ने उसी प्रकार दूसरी और तीसरी बार कहा, किन्तु अरहन्नक ने उधर ध्यान ही नहीं दिया। अपने प्रश्न का उत्तर नहीं पा कर पिशाच क्रुद्ध हुआ और जहाज को उठा कर अन्तरिक्ष में ले गया। आकाश में अपनी उंगलियों पर जहाज रखे हुए पिशाच ने फिर वही प्रश्न किया, किन्तु वह वंदनीय श्रमणोपासक, सर्वथा अचल रहा। देव ने समझ लिया कि अरहन्नक पूर्ण दृढ़ एवं अचल है। यह कदापि चलित नहीं हो सकता। उसने धीरे-धीरे जहाज को नीचे उतारा और समुद्र पर रख दिया। पिशाच का रूप त्याग कर देव, अपने असली रूप में आ कर अरहन्नक श्रावक के पैरों में पड़ा और कहा कि "देवप्रिय ! तुम धन्य हो। देवाधिपति इन्द्र ने तुम्हारी दृढ़ता की प्रशंसा की थी, किन्तु मुझे उस पर विश्वास नहीं हुआ। अब मैंने प्रत्यक्ष

देख लिया है। वास्तव में आप दृढ़-धर्मी हैं। मैं आपसे अपने अपराध की क्षमा मांगता हूँ।" इस प्रकार प्रशंसा कर और दो जोड़ी दिव्य कुण्डल दे कर देव चला गया।

कालान्तर में व्यापारियों का वह सार्थ, मिथिला आया और कुंभराजा को दिव्य कुण्डल सहित मूल्यवान् नजराना (भेंट) किया। मिथिलेश ने वे दिव्य कुण्डल, राजकुमारी मल्लि को उसी समय दे दिये और अरहन्नकादि व्यापारियों का संमान किया, तथा उनके व्यापार पर का कर माफ कर दिया। वहाँ बेचने योग्य वस्तुएँ बेच कर और नया माल खरीद कर वे व्यापारी लौट कर चम्पानगरी में आये और "चन्द्रछाया" नरेश को दूसरे दिव्य कुण्डल की जोड़ी सहित नजराना किया। अंगदेशाधिपति ने अरहन्नकादि से पूछा—"आप कई देशों में घुम आये। कहीं कोई ऐसी वस्तु देखी कि जो अन्यत्र नहीं हो और आश्चर्यकारी हो?" अरहन्नक ने कहा—"स्वामिन्! हमने मिथिला नगरी में राजकुमारी मल्लि को देखा है। वास्तव में वह त्रिलोक-सुन्दरी है। वैसा रूप, विश्व की किसी भी सुन्दरी में नहीं है।" व्यापारियों के निमित्त से चन्द्रछाया का मोह जाग्रत हुआ और उसने भी अपना दूत, मल्लिकुमारी की याचना के लिए मिथिला भेजा।

(३) भगवान् मल्लिनाथ के पूर्वभव के मित्र महात्मा पूरणजी, जयन्त नाम के अनुत्तर विमान से च्यव कर, कुणाल देश की सावत्थी नगरी में, 'रूपी' नाम के कुणालाधिपति नरेश हुए। उनके 'सुबाहु' नाम की सुन्दरी नवयौवना पुत्री थी। एक बार राजकुमारी सुबाहु के चातुर्मासिक स्नान का उत्सव मनाया गया। शहर के मध्य में एक भव्य पुष्प-मंडप तय्यार किया और उसके मध्य में एक पुष्प निर्मित श्रीदामगण्ड' (गेंद या मुद्गर) रखा गया। उत्सव बड़े ही आडम्बरपूर्वक मनाया गया। राजा, बड़े भारी जुलूस से, अन्तःपुर व राजकुमारी के साथ, उस भव्य मण्डप में आया और राजकुमारी का स्नानोत्सव किया। राजा की दृष्टि में वह उत्सव बहुत ही महत्वपूर्ण एवं अपूर्व था। उसने अपने वर्षधर = अन्तःपुर रक्षक से पूछा—'देवप्रिय! तुम मेरी आज्ञा से अनेक देशों और राजधानियों में गये और अनेक उत्सव देखे, किन्तु जैसा स्नानोत्सव यहाँ हो रहा है, वैसा अन्यत्र कहीं तुम्हारे देखने में आया?' वर्षधर ने कहा—"स्वामिन्! एक बार मैं आपकी आज्ञा से मिथिला गया था। वहाँ विदेह राजकुमारी मल्लि का स्नानोत्सव मैंने देखा था। वह उत्सव इतना भव्य और उत्कृष्ट था कि जिसके आगे आपका यह उत्सव बिलकुल फीका और निस्तेज लगता है।" बस, राजा के स्नेह को जाग्रत करने का निमित्त मिल गया। उसने भी अपना दूत मिथिलाधिपति के पास, मल्लि की याचना के लिए भेजा।

(४) अरहन्नक श्रमणोपासक ने जो दिव्य कुण्डल जोड़ी, मिथिलेश को भेंट की थी और जिसे भगवती मल्लि कुमारी धारण करती थी, उस कुण्डल की संधी टूट गई। स्वर्णकारों ने उसे जोड़ने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु वह जुड़ नहीं सकी। क्योंकि वह देव-निर्मित्त कुण्डल था। उसको जोड़ने की शक्ति मनुष्य में कहाँ? उन्होंने महाराजा से निवेदन किया—'यदि आज्ञा हो, तो हम इस कुण्डल जैसे ही दूसरे कुण्डल बना सकते हैं, किन्तु इसे जोड़ने की शक्ति हम में नहीं है। हमने बहुत परिश्रम किया, किन्तु यह हम से नहीं जुड़ सका।" नरेन्द्र कुपित हुए। उन्होंने क्रोधपूर्वक कहा—"तुम कैसे कलाकार हो! तुम से एक कुण्डल की संधी भी नहीं जुड़ सकी। इस प्रकार के कलाविहीन लोग हमारे देश के लिए कलंक रूप हैं। जाओ निकलो—इस राज्य से! तुम्हारे जैसे ढोंगियों की (जो कलाविहीन हो कर भी अपने को उत्कृष्ट कलाकार बतलाते हैं) यहाँ जरूरत नहीं है। हमारा देश छोड़ कर निकल जाओ।" स्वर्णकारों को देश निकाला हो गया। वे अपने-अपने कुटुम्ब और सर-सामान ले कर और विदेह देश छोड़ कर काशी देश की वाराणसी नगरी में आये। उस समय वहाँ 'शंख' नाम का नरेश राज करता था। वह सम्पूर्ण काशी देश का अधिपति था। ये शंख नरेश, महामुनि महाबलजी के अनुगामी 'वसु' नाम के महात्मा थे और अनुत्तर विमान से च्यव कर आये थे। स्वर्णकारों का संघ, बहुमूल्य भेंट ले कर काशी नरेश की सेवा में उपस्थित हुआ। उन्होंने भेंट समर्पित कर के निवेदन किया—

"स्वामिन्! हमें विदेह देश से निकाला गया है। हम आपकी शरण में आये हैं। हमें आश्रय प्रदान कीजिए।"

"विदेहराज ने तुम्हें देश निकाला क्यों दिया"—राजेन्द्र ने पूछा।

"नराधिपति! विदेहराजकुमारी मल्लि के कुंडलों की संधी टूट गई थी। हम उस संधी को जोड़ नहीं सके। इसलिए कुपित हो कर मिथिलेश ने हमें देश निकाला दिया।"

"स्वामिन्! हम कलाकार हैं। अपनी कला में हम निष्णात हैं। किन्तु वह कुंडल जोड़ी ही अलौकिक थी। उसका निर्माण मनुष्य द्वारा नहीं हुआ था। उसकी संधी को मिला देना किसी भी मनुष्य के लिए असंभव है। फिर हम उसे कैसे जोड़ सकते थे? बस यही हमारा अपराध था"—स्वर्णकार संघ के प्रमुख ने कहा।

"ऐसी अपूर्व कुंडल की जोड़ी है वह? अच्छा यह बताओ कि उन दिव्य कुंडलों को धारण करने वाली विदेहराज-कन्या कैसी है"—राजा का प्रश्न।

"स्वामिन्! विदेहराज-कन्या मल्लिकुमारी के रूप, लावण्य और यौवन का हम क्या

वर्णन करें। वह तो अलौकिक सुन्दरी है। उसके समान सौन्दर्य, इस सृष्टि पर दूसरा हो ही नहीं सकता। उसकी बराबरी तो देव-कन्याएँ भी नहीं कर सकती"—स्वर्णकारों ने कहा।

राजा का मोह भड़का। स्वर्णकारों को बिदा करने के बाद राजा ने अपने दूत को बुला कर मल्लिकुमारी की याचना के लिए, मिथिला नरेश के पास भेजा।

(५) भगवती मल्लिकुमारी के एक छोटा भाई था, जिसका नाम "मल्लिदिन्न" था। उसने एक चित्रशाला (रंगशाला = विलास-भवन) बनवाया। कलाकारों ने उसमें अनेक प्रकार के विलासजन्य सुन्दर चित्र बनाये। एक चित्रकार को चित्रकारी की लब्धि प्राप्त थी। उस लब्धि के प्रभाव से उसमें ऐसी शक्ति उत्पन्न हुई थी कि किसी के शरीर का जरासा भी हिस्सा देख लेता, तो वह उसके सारे शरीर का यथातथ्य चित्र बना सकता था। उसने एक बार मल्लिकुमारी का पर्दे की जाली में से पाँव का अंगूठा देख लिया था। उस पर से मल्लिकुमारी का पूरा रूप उसके ध्यान में आ गया। उसने सोचा कि ऐसी अपूर्व सुन्दरी का चित्र बनाने से राजकुमार बहुत प्रसन्न होंगे। इस प्रकार मिथ्या अनुमान लगा कर उसने राजकुमारी मल्लि का चित्र बना दिया। जब चित्रशाला पूर्ण रूप से तय्यार हो गई, तो मल्लिदिन्न युवराज, अपनी रानियों के साथ उसे देखने को आया। उसकी धात्रि-माता भी साथ ही थी। वह हावभाव और विलास पूर्ण चित्र देखता हुआ जब मल्लिकुमारी के चित्र के पास आया और उस पर उसकी दृष्टि पड़ी, तो एक बारगी वह पीछे हट गया। उसे आश्चर्य हुआ कि "पूज्य बहिन यहाँ क्यों आई ?" युवराज को विस्मयपूर्वक पीछे हटता हुआ देख कर धायमाता ने पूछा—'पुत्र ! पीछे क्यों हटे ?' युवराज ने कहा—माता ! यह लज्जा की बात है कि मेरे देव और गुरु के समान पूज्या ज्येष्ठ भगिनी यहाँ उपस्थित है।' धात्रि ने कहा—'पुत्र ! तुम भ्रम में हो, यहाँ मल्लिकुमारी नहीं है। यह तो उनका चित्र है।' मल्लिदिन्नकुमार सावधान हुआ, उसे विश्वास हो गया कि वास्तव में यह चित्र ही है। अब वह चित्रकारों पर क्रुद्ध हुआ। उसने कहा—'ऐसा कौन नीच चित्रकार है, जिसने मेरे विलास-भवन में मेरी देव-गुरु तुल्य पूजनीय बहिन का चित्र बनाया।' उसने क्रोध में ही उस चित्रकार के वध की आज्ञा दे दी। युवराज की कठोर आज्ञा सुन कर सभी चित्रकार उपस्थित हुए और उस चित्रकार के प्राणों की याचना करने लगे। राजकुमार ने उसके वध के बदले उसका अंगूठा कटवा कर देश निकाला दे दिया। देश-निकाला पाया हुआ, वह अंगुष्ठ-विहीन चित्रकार, कुरु जनपद के हस्तिनापुर नगर में आया और विदेह राजकुमारी मल्लि का साक्षात् सदृश चित्र बना कर वहाँ के 'अदीनशत्रु' राजा को भेंट

किया और निवेदन किया—

"स्वामिन् ! मैं चित्रकार हूँ । मुझे चित्रकारी की ऐसी विद्या प्राप्त है कि किसी भी वस्तु का कोई भी हिस्सा देख लूँ तो उसका पूरा—साक्षात्-सदृश्य रूप बना दूँ। इसी चित्र के कारण विदेह के युवराज ने मेरा अंगूठा कटवा कर मुझे निर्वासित किया है। अब मुझे आप अपनी छत्र-छाया में शरण दीजिए।" महाराज अदीनशत्रु भी, राजकुमारी मल्लि के पूर्वभव के मित्र, मुनिराज वैश्रमणजी थे और विजय नाम के अनुत्तर विमान की कुछ कम ३२ सागरोपम प्रमाण आयुष्य पूर्ण कर के आये थे। राजकुमारी मल्लि के उस चित्र ने राजा को आकर्षित किया और उसने भी अपना दूत मिथिला की ओर भेजा।

चोक्खा का पराभव

(६) मिथिला में एक 'चोक्खा' नाम की परिव्राजिका थी। वह चारों वेद और अनेक शास्त्रों में पंडिता थी। दान, तीर्थाभिषेक और शुचि मूल धर्म का प्रचार करती हुई विचरती थी। एक बार वह अपनी शिष्याओं के साथ विदेह-राजकन्या के पास आई और भूमि पर पानी छिड़क कर उस पर अपना आसन बिछा कर बैठ गई। परिव्राजिका ने अपने दानादि धर्म का उपदेश दिया। भगवती मल्लिकुमारी ने परिव्राजिका से पूछा—

"तुम्हारे धर्म का मूल क्या है ?"

"हमारे धर्म का मूल शुचि है। शौच मूल धर्म का पालन करने से जीव स्वर्ग में जाता है"—परिव्राजिका ने कहा।

"चोक्खे ! रक्त रंजित वस्त्र यदि रक्त से ही धोया जाय, तो उसकी शुद्धि नहीं होती, उसी प्रकार प्राणातिपातादि अठारह पाप करने से आत्मा के कर्म-बन्धन नहीं छूटते। तुम्हारा मार्ग, आत्मा की शुद्धि का नहीं, किन्तु बन्ध का है। तुम्हारे ऐसे प्रचार से कोई लाभ नहीं होता।"

इस प्रकार भगवती मल्लिकुमारी के प्रभावशाली एवं अर्थ-गांभीर्य वचनों से चोक्खा निरुत्तर हो कर प्रभावहीन बन गई। उसका चेहरा उतर गया। उसकी ऐसी दशा देख कर राजकन्या की दासियाँ, चोक्खा का उपहास करने लगी। चोक्खा अपने इस अपमान को सहन नहीं कर सकी। उसके मन में राजकुमारी के प्रति वैरभाव उत्पन्न हो गया। वह वहाँ से निकल कर पांचाल देश के कंपिलपुर नगर में आई। वहाँ जितशत्रु राजा राज करता था।

वह पांचाल जनपद का अधिपति था। जितशत्रु नरेश भी भगवती मल्लिकुमारी के पूर्वभव के मित्र थे। उनका नाम अभिचन्द्र मुनि था। वे भी अनुत्तर-विमान से च्यव कर आये थे। चोक्खा वहाँ अपने धर्म का प्रचार करने लगी। एकदा राजा, अपनी एक हजार रानियों के साथ अन्तःपुर में था, तब चोक्खा परिव्राजिका वहाँ पहुँची। राजा और रानियों ने उसका आदर-सत्कार किया। धर्मोपदेश के पश्चात् राजा ने चोक्खा से पूछा—"आप अनेक राजाओं के अन्तःपुर में जाती हैं, किन्तु मेरे अन्तःपुर की रानियों के समान रूप-सौन्दर्य आपने और कहीं देखा है ?" राजा की बात सुन कर चोक्खा हँसी और बोली—

"राजन् ! तुम कूप-मंडुक के समान हो। जिस प्रकार कूएँ में रहा हुआ मेंढक, अपने कूएँ को ही सबसे बड़ा मान कर समुद्र की बड़ाई नहीं जानता, उसी प्रकार तुम अपनी रानियों में ही संसार का समस्त सौन्दर्य देखते हो। किन्तु तुम्हें मालूम नहीं है कि मिथिलेशनन्दिनी राजकुमारी मल्लि के सौन्दर्य के सामने तुम्हारी सभी रानियाँ फीकी हैं। ये उसकी दासी के तुल्य भी नहीं हैं। वह त्रिलोक-सुन्दरी है। कोई देवी भी उसके रूप की समानता नहीं कर सकती।"

चोक्खा, राजा के मोह को भड़का कर चली गई। राजा ने शीघ्र ही दूत को बुलाया और मिथिला भेजा।

छहों दूत मिथिला पहुँचे और विनयपूर्वक मल्लिकुमारी की याचना की। किन्तु मिथिलेश ने सब की माँग ठुकराते हुए उन दूतों से कहा—

"तुम्हारे राजा नादान हैं, मूर्ख हैं। वे नहीं समझते कि हम पामर प्राणी किस अलौकिक आत्मा पर अपना मन बिगाड़ रहे हैं। जो महान् आत्मा, इन्द्रों से भी पूज्य है, उसके प्रति उन राजाओं का मोहभाव धिक्कार के योग्य है। तुम जाओ और अपने स्वामियों से कहो कि वे अपना दुःसाहस छोड़ दें।"

युद्ध और अवरोध

इतना कहकर दूतों को अपमानपूर्वक निकाल दिया। वे दूत अपनी-अपनी राजधानी पहुँच कर अपने स्वामियों को मिथिलेश का उत्तर सुनाया। दूतों की बात सुन कर छहों राजा क्रोधित हुए और एक-दूसरे से दूत द्वारा परामर्श कर के मिथिलेश से युद्ध करने को तत्पर हो गये। छहों राजाओं की विशाल सेनाएँ विदेह देश की ओर बढ़ीं। उधर विदेहा-

धिपति भी शत्रु-सैन्य का आगमन सुन कर, अपनी सेना के साथ, अपने देश की सीमा पर आ धमके। भीषण युद्ध हुआ। इस युद्ध में छहों राजा एक ओर थे। उनकी शक्ति भी विशाल थी और कुंभराजा अकेले थे। मिथिलेश की हार हुई ‡। उन्होंने विदेह का मोर्चा छोड़ दिया और मिथिला नगरी में आ कर उसके किले के द्वार बन्द करवा दिये। छहों राजाओं ने मिथिला के बाहर घेरा डाल दिया।

मित्रों को प्रतिबोध

कुंभ राजा, छहों राजाओं से बचाव के उपाय ढूंढने लगे। उन्हें कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। वे इसी चिंता में बैठे थे कि भगवती मल्लिकुमारी ने आ कर पिता की चरण-वंदना की। राजा चिंतातुर थे। उन्होंने कुमारी का आदर नहीं किया। पूछने पर राजेन्द्र ने कहा—"पुत्री ! तेरे ही कारण यह संकट उत्पन्न हुआ है। इस संकट से बचने का मुझे कोई उपाय दिखाई नहीं देता। मैं इसी चिंता में बैठा हूँ।"

पिता की बात सुन कर राजकुमारी ने कहा—

"तात ! आप चिंता नहीं करें और छहों राजाओं को भिन्न-भिन्न दूत के द्वारा कहलाइये कि "हम अपनी कन्या आपको देंगे। आप चुपचाप रात के समय यहाँ आ जावें।" इस प्रकार छहों राजाओं को गर्भ-गृह में पृथक्-पृथक् रखिये और मिथिला के द्वार बन्द ही रख कर, उस पर कड़ा पहरा रख दीजिए। इसके बाद मैं सब सम्हाल लूंगी।"

मिथिलेश को यह सलाह अच्छी लगी। उन्होंने सोचा होगा—"राजकुमारी कितनी चतुर है। इस प्रकार सहज ही में छहों शत्रुओं को अधिकार में कर लिया जायगा। फिर तो संकट टला ही समझो।" उन्होंने शीघ्र ही प्रबन्ध किया। छहों नृपति, कुंभ नरेश का सन्देश पा कर बहुत प्रसन्न हुए और समझे कि "हमें ही राजकन्या मिलेगी"। वे प्रसन्नता पूर्वक चले आये *।

---

‡ ज्ञातासूत्र में युद्ध होने का उल्लेख है, किन्तु 'त्रिशष्ठि-शलाका पुरुष चरित्र' में केवल मिथिला नगरी को घेरा डालने का ही उल्लेख है।

* इससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय शत्रु की बात पर भी विश्वास किया जाता था। व्यवहार में झूठ ने इतना स्थान नहीं बना लिया था—जितना वर्तमान में है। आज सत्य-प्रियता बहुत घट गई है।

प्रातःकाल छहों राजाओं ने अपने-अपने कमरों में से जालघर में स्थापित की हुई राजकन्या की स्वर्णमयी प्रतिमा देखी। उन्हें विश्वास हो गया कि 'यही राजकन्या है।' वे उसके सौन्दर्य पर मोहित हो गए और एकटक देखते रहे। इधर मल्लिकुमारी वस्त्राभूषण से सज्ज हो कर, अपनी दासियों और अंतःपुर-रक्षकों के साथ जालघर में आई और प्रच्छन्न रह कर मूर्ति के मस्तक का ढक्कन खोल दिया। फिर क्या था, उसमें से घिरी हुई महान् असह्य दुर्गन्ध एकदम बाहर निकली और सारे भवन को भर दिया। वे मदान्ध राजा, उस दुर्गन्ध को सहन नहीं कर सके और अपनी नाक बन्द कर ली। उनकी यह दशा देख कर भगवती मल्लिकुमारी ने उनसे पूछा—

"अहो विषयान्ध प्रेमियों! थोड़ी देर के पहले तो आप सब एकटक मेरी प्रतिमा को देख रहे थे। अब नाक बन्द कर के घृणा क्यों कर रहे हो?"

—"हमें आपका सौन्दर्य तो प्रिय है, किन्तु इस असह्य दुर्गन्ध को हम सहन नहीं कर सकते। इससे बचने के लिए हमने अपनी नासिका बन्द की है। हम घबड़ा रहे हैं"— छहों राजाओं ने कहा।

"हे मोहाभिभूत नरेशों"—भगवती मल्लिकुमारी ने उन मोहान्ध राजाओं को सम्बोधित करते हुए, उनके मोह के नशे को उतारने के उद्देश्य से कहा—"यह प्रतिमा मेरे ही रंग रूप जैसी है, फिर भी यह स्वर्ण निर्मित्त है—हाड़, मांस और रक्तादि इसमें नहीं है। मैंने इसमें उसी सुस्वादु और उत्तम भोजन के निवाले डाले हैं, जिन्हें मैं खाती थी। जब उत्तम स्वर्णमयी प्रतिमा में भी आहार का ऐसा अशुभतर परिणाम होता है, तो हाड़, मांस, रक्त, वात, पित्त, कफ और विष्ठादि अशुभ पुद्गलों वाले सड़न, पड़न और विध्वंशन शील, इस देह का क्या परिणाम हो सकता है?"

"महानुभावों! सोचो, समझो और कामभोग की आसक्ति को छोड़ो। ये भोग तुम्हें अच्छे लगते हैं, किन्तु इनका परिणाम महान् भयानक होता है। भोग, रोग, शोक और दुर्गति का देने वाला तथा जन्ममरण बढ़ाने वाला होता है।"

"आत्म बन्धुओं! अज्ञान को छोड़ो और विचार करो। अपन सभी पूर्वभव के साथी हैं। इस भव से पूर्व तीसरे भव में, हम सब अपर महाविदेह के 'सलीलावती विजय' में 'महाबल' आदि सात बाल-मित्र थे। बचपन से साथ ही रहे थे। हम सभी ने साथ ही संसार छोड़ कर संयम स्वीकार किया था। किन्तु मैं मायापूर्वक तप बढ़ाती रही। इस मायाचारिता के कारण मैंने स्त्री नाम-कर्म का बन्ध किया। वहां से हम सभी आयुष्य पूर्ण

कर के जयंत विमान में उत्पन्न हुए। हम सब ने वहाँ अपने मन से ही आपस में संकेत किया था कि "मनुष्य होने पर एक दूसरे को प्रतिबोध देंगे। बन्धुओं! याद करो, अपनी स्मृति को एकाग्रता पूर्वक पिछले भव की ओर लगाओ। तुम्हें सब प्रत्यक्ष दिखाई देगा।"

—वे सभी एकभवावतारी, हलुकर्मी एवं संकेत मात्र से समझने वाले थे। भगवती मल्लिकुमारी का उद्बोध, उन सब के हृदय में पैठ गया। सब ने शुभ परिणाम से उपयोग लगाया। कमजोर आवरण खिसक गये और जातिस्मरण ज्ञान प्रकट हो गया। उन सब राजाओं ने अपने पूर्वभव और पारस्परिक सम्बन्ध देखे। गर्भगृह का द्वार खुल गया। छहों नरेन्द्र, द्रव्य अरिहंत भगवान् मल्लिनाथ के समीप उपस्थित हुए—पूर्वभव के सातों मित्र मिले। भगवान् मल्लिनाथ ने अपने मित्रों से कहा।

'मैं तो संसार का त्याग करना चाहती हूँ। तुम्हारी क्या इच्छा है?"

—"हम भी आपके साथ ही संसार छोड़ेंगे। अब संसार में रह कर हम क्या करेंगे। हमें भी संसार में कोई रुचि नहीं है। जिस प्रकार पिछले तीसरे भव में आप हमारे नेता थे, उसी प्रकार अब भी हमारे नेता ही रहेंगे"—सभी मित्रों ने कहा।

—"अच्छा तो पहले अपने पुत्रों को राज्य पर स्थापित करो, फिर यहाँ आओ। अपन सब एक साथ ही दीक्षित होंगे"—अरिहंत ने कहा।

छहों राजा, कुंभराजा के पास आये और उनके चरणों में झुके। कुंभराज ने सभी का आदर-सत्कार कर के विदा किया।

वर्षीदान

लोकान्तिक देवों का आसन कम्पायमान हुआ और उन्होंने अपने ज्ञान में देखा कि अर्हन्त मल्लिनाथ के निष्क्रमण का समय निकट आ गया है। वे भगवान् के पास आये और परम विनीत एवं मृदु शब्दों में निवेदन किया—

"बुज्झाहि भगवं! लोगणाहा, पवत्तेहि धम्मतित्थं।
जीवाणं हियसुहणिस्सेयस करं भविस्सई।"

—"भगवन्! बूझो। हे लोकनाथ! जीवों के हित-सुख और मुक्ति-दायक धर्म-तीर्थ का प्रवर्त्तन करो।"

इस प्रकार दो-तीन बार निवेदन कर के और भगवान् को प्रणाम कर के लौट गये।

अरिहंत मल्लिनाथ भगवान् ने निश्चय किया कि 'मैं एक वर्ष बाद संसार का त्याग कर दूंगा।' भगवान् का अभिप्राय जान कर प्रथम स्वर्ग के अधिपति देवेन्द्र शक्र ने 'वर्षीदान' की व्यवस्था करवाई। अर्हन्त भगवान्, नित्य प्रातःकाल एक करोड़ आठ लाख सोने के सिक्कों का दान करने लगे। उधर मिथिलेश ने भी दानशाला चालू कर दी, जिसमें याचकों को सम्मानपूर्वक आहारादि का दान दिया जाने लगा। इस प्रकार एक वर्ष में तीन अरब, अठासी करोड़ अस्सी लाख सोने के सिक्कों का दान किया।

भगवान् ने मातापिता के सामने अपने महाभिनिष्क्रमण की इच्छा व्यक्त की। मातापिता तो जानते ही थे। उन्होने सहर्ष आज्ञा प्रदान कर दी और महोत्सव प्रारंभ किया। भगवान् के महाभिनिष्क्रमण महोत्सव में देवेन्द्र भी उपस्थित हुए। भव्य महोत्सव मनाया गया। भगवान् की शिविका को उठाने में बलेन्द्र, चमरेन्द्र, शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र ने भी योग दिया।

भगवान् ने पौष † शुक्ला एकादशी को अश्विनी नक्षत्र में, दिन के पूर्व-भाग में तेले के तप सहित स्वयं पंच-मुष्टि लोच किया और सिद्धों को नमस्कार कर के स्वयं सामायिक चारित्र ग्रहण किया। आपके साथ ३०० स्त्रियों, ३०० पुरुषों और ८ राजकुमारों ने दीक्षा ली। भगवान् को उसी समय 'विपुलमति मनःपर्यज्ञान' उत्पन्न हो गया और उसी दिन शाम को उन्हें केवलज्ञान एवं केवलदर्शन भी प्राप्त हो गया ❀। वे द्रव्य-तीर्थंकर से भाव-तीर्थंकर हो गये। इसके बाद भगवान् ने अपनी प्रथम धर्मदेशना इस प्रकार चालू की—

धर्मदेशना—समता

भगवान् ने केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद अपने प्रथम उपदेश में 'समता' का महत्व बतलाते हुए फरमाया कि—

"यह संसार अपने-आप में अपार होते हुए भी जिस प्रकार पूर्णिमा के दिन समुद्र बढ़ता है, उसी प्रकार रागादि से विशेष बढ़ता रहता है। इस वृद्धि का मूल कारण है—

† त्रि. श. पु. च. और आवश्यक में मार्गशीर्ष शु. ११ का उल्लेख है और 'जैन सिद्धांत बोल संग्रह' भाग ६ में भी ऐसा ही है। किन्तु यह सूत्रानुसार नहीं है।

❀ आवश्यक भाष्य गा. २६१ और टीका में छद्मस्थकाल 'अहोरात्रि' का लिखा। जैन सिद्धांत बोल संग्रह भा. ६ पृ. १८५ में भी ऐसा ही है। यह ज्ञातासूत्र से विपरीत है।

समता का अभाव। जहाँ समता है, वहाँ संसार की वृद्धि नहीं है। जो प्राणी उत्तरोत्तर आनन्द को उत्पन्न करने वाले समता रूपी जल में स्नान करता है, उसके राग-द्वेष रूप मल तत्काल धुल जाते हैं। प्राणी, जिन कर्मों को कोटी जन्म तक तीव्र तप का आचरण कर के भी नष्ट नहीं कर सकता, उन कर्मों को समता का अवलम्बन कर के आधे क्षण में ही नष्ट कर देता है। जीव और कर्म—ये दोनों आपस में मिल कर एकमेक हो गए हैं। इन्हें ज्ञान के द्वारा जान कर आत्मनिश्चय करने वाला साधु पुरुष, सामायिक रूपी सलाई से पृथक्-पृथक् कर देता है। योगी पुरुष सामायिक रूपी किरण से रागादि अन्धकार का विनाश कर के अपने परमात्म स्वरूप का दर्शन करते हैं।

जिन प्राणियों में स्वार्थ के कारण नित्य वैर—जाति वैर होता है, वे प्राणी भी समता के सागर ऐसे महान् संत पुरुष के प्रभाव से परस्पर स्नेह से रहते हैं।

समता उसी विशिष्ट आत्मा में निवास करती है, जो सचेतन या अचेतन—ऐसी किसी भी वस्तु में इष्ट अनिष्ट = अच्छे-बुरे का विचार कर के मोहित नहीं होती। कोई अपनी भुजाओं पर गोशीर्ष चन्दन का लेप करे, या तलवार से काट डाले, तो भी जिसकी मनोवृत्ति में भेद उत्पन्न नहीं होता, उसी पुरुष में अनुपम समता के दर्शन होते हैं। स्तुति करने वाले, प्रशंसा करने वाले अथवा प्रीति रखने वाले पर और क्रोधान्ध, तिरस्कार करने वाले या गालियाँ देने वाले पर जिस महानुभाव का चित्त समान रूप से रहता है, उस पुरुष में ही समता का निवास रहता है।

जिसने मात्र समता का ही अवलम्बन लिया है, उसको किसी प्रकार के होम, जप और दान की आवश्यकता नहीं रहती। उसको समता से ही परम निवृति = मोक्ष प्राप्त हो जाती है।

अहा! समता का कितना अमूल्य लाभ! बिना प्रयत्न ही शान्ति के ऐसे महान् लाभ को छोड़ कर प्रयत्न-साध्य और क्लेशदायक ऐसे रागादि की उपासना क्यों करनी चाहिए? बिना प्रयत्न के सहज प्राप्त ऐसी मनोहर सुखकारी समता ही धारण करनी चाहिए। स्वर्ग और मोक्ष तो परोक्ष होने के कारण गुप्त है, किन्तु समता का सुख तो स्वसंवेद्य = खुद के अनुभव का होने से प्रत्यक्ष है। यह किसी से छुपाया नहीं जा सकता।

कवियों के कहने से रूढ़ बने हुए अमृत पर मोहित होने की आवश्यकता ही क्या है? जिसका रस खुद के अनुभव में आ सकता है, ऐसे समता रूपी अमृत का ही निरन्तर पान

करना चाहिए। जो आत्मार्थी मुनिजन खाद्य, लेह्य, चुष्य, और पेय—इन चार प्रकार के रस से विमुख हैं, वे समता रूपी अमृत-रस को वारंवार पीते रहते हैं। उनके कंठ में कोई सर्प डाल दे और कोई मन्दार वृक्ष (एक उत्तम सुगन्धित वृक्ष) की माला पहिना दे, तो भी उनके मन में हर्ष-शोक अथवा प्रीति-अप्रीति नहीं होती। वे ही वास्तव में समता रूपी सुन्दरी के शक्तिशाली पति—स्वामी हैं।

समता न तो गूढ़ (समझ में नहीं आने योग्य) है, न किसी से हटाई जा सकती है और इसकी प्राप्ति भी कठिन नहीं है। चाहे अज्ञानी (विशेष ज्ञान रहित) हो, या वुद्धिमान् हो, यह समतारूपी औषधी दोनों को संसार रूपी रोग से मुक्त करने वाली है।

अत्यन्त शांत रहने वाले योगियों में भी एक क्रूर कर्म ऐसा रहा हुआ है कि जो समतारूपी शस्त्र से, रागादि दोषों के कुल का नाश कर देता है। समता का परम प्रभाव तो यही है कि इसके द्वारा पापीजन भी आधे क्षण में शाश्वत पद को प्राप्त कर लेते हैं।

जिसके सद्भाव से ज्ञान, दर्शन, और चारित्र ये तीनों रत्न सफल होते हैं और जिसकी अनुपस्थिति में ज्ञानादि तीनों रत्न निष्फल हो जाते हैं, ऐसे महाक्रमी समता गुण से सदा कल्याण ही कल्याण है। जब उपसर्ग आ गये हों, अथवा मृत्यु प्राप्त हो रही हो, तव तत्काल करने योग्य श्रेष्ट उपाय एक मात्र समता ही है। इससे वढ़ कर दूसरा कोई उपाय नहीं है।

जिन्हें राग-द्वेष को जीतना है, उन्हें एक समता को ही धारण करना चाहिए, जो मोक्ष रूपी वृक्ष का वीज है और अनुपम सुख देने वाली है।"

छहों राजा भी भगवान् के पास दीक्षित हुए और भगवान् के मातापिता ने देशविरति स्वीकार की।

भगवान् के भिषक् आदि २८ गणधर हुए। ४०००० साधु, ५५००० साध्वियाँ, ६०० चौदह पूर्वधर,+ २००० अवधिज्ञानी, ८०० मनःपर्ययज्ञानी, ३२०० केवलज्ञानी, ३५०० वैक्रिय लब्धिधारी, १४०० वाद लब्धि वाले, २००० अनुत्तरोपपातिक १८४००० श्रावक और ३६५००० श्राविकाएँ थी।

भगवान् ५४९०० वर्ष तक तीर्थंकर नाम कर्म के उदयानुसार विचर कर धर्मोपदेश

+ त्रि. श. पु. च. में संख्या भेद इस प्रकार है—६६८ चौदह पूर्वधर, २२०० अवधिज्ञानी, १७५० मनःपर्यवज्ञानी, २२०० केवलज्ञानी, २९०० वैक्रिय लब्धि वाले, १४०० वादलब्धि वाले, १८३००० श्रावक और ३७०००० श्राविकाएँ थी।

ते रहे । फिर निर्वाण समय निकट जान कर ५०० साधु और ५०० साध्वियों के साथ
म्मेदशिखर पर्वत पर चढ़ कर अनशन किया । एक मास के बाद चैत्र-शुक्ला ४ * भरणी
क्षत्र में मोक्ष पधारे । आपकी कुल आयु ५५००० वर्ष की थी ।

उन्नीसवें तीर्थंकर

भगवान्

॥ मल्लिनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

प्रथम भाग समाप्त

* त्रि. श. पु. च. और 'जैन सिद्धांत बोल संग्रह' भा. ६ के अनुसार फाल्गुन शु. १२ ।
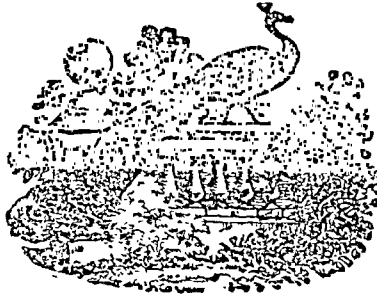
परिशिष्ट

तीर्थंकर भगवंतों का विवरण

तीर्थंकर नाम	नगर	पिता	माता	जन्म-तिथि	कुमार-अवस्था
ऋषभदेवजी	इक्ष्वाकु भूमि	नाभि	मरुदेवा	चैत्र कृ. ८	२० लाख पूर्व
अजितनाथजी	अयोध्या	जितशत्रु	विजया	माघ शु. ८	१८ लाख पूर्व
संभवनाथजी	श्रावस्ती	जितारी	सेना	मार्गशीर्ष शु. १४	१५ लाख पूर्व
अभिनंदनजी	अयोध्या	संवर	सिद्धार्था	माघ शु. २	१२५०००० पूर्व
सुमतिनाथजी	अयोध्या	मेघ	मंगला	वैसाख शु. ८	१०००००० पूर्व
पद्मप्रभःजी	कौशांबी	धर	सुशीमा	कार्तिक कृ. १२	७॥ लाख पूर्व
सुपार्श्वनाथजी	वाराणसी	प्रतिष्ठ	पृथ्वी	ज्येष्ठ शु. १२	५ लाख पूर्व
चन्द्रप्रभःजी	चन्द्रपुरी	महासेन	लक्ष्मणा	पोष कृ. १२	२॥ लाख पूर्व
सुविधिनाथजी	काकन्दी	सुग्रीव	रामा	मार्गशीर्ष कृ. ५	५०००० पूर्व
शीतलनाथजी	भद्दिलपुर	दृढ़रथ	नन्दा	माघ कृ. १२	२५००० पूर्व
श्रेयांसनाथजी	सिंहपुर	विष्णु	विष्णु	फाल्गुन कृ. १२	२१ लाख वर्ष
वासुपूज्यजी	चम्पा	वसुपूज्य	जया	फाल्गुन कृ. १४	१८ लाख वर्ष
विमलनाथजी	कंपिलपुर	कृतवर्मा	श्यामा	माघ शु. ३	१५ लाख वर्ष
अनंतनाथजी	अयोध्या	सिंहसेन	सुयशा	वैशाख कृ. १३	७॥ लाख वर्ष
धर्मनाथजी	रत्नपुर	भानु	सुव्रता	माघ शु. ३	२॥ लाख वर्ष
शांतिनाथजी	गजपुर	विश्वसेन	अचिरा	ज्येष्ठ कृ. १३	२५००० वर्ष
कुंथुनाथजी	गजपुर	शूर	श्री	वैशाख कृ. १४	२३७५० "
अरनाथजी	गजपुर	सुदर्शन	देवी	मार्गशीर्ष शु. १०	२१००० "
मल्लिनाथजी	मिथिला	कुंभ	प्रभावती	मार्गशीर्ष शु. ११	१०० "
मुनिसुव्रतजी	राजगृही	सुमित्र	पद्मावती	ज्येष्ठ कृ. ९	७५०० "
नमिनाथजी	मिथिला	विजयसेन	वप्रा	श्रावण कृ. ८	२५०० "
अरिष्टनेमिजी	सोरियपुर	समुद्रविजय	शिवा	श्रावण शु. ५	३०० "
पार्श्वनाथजी	वाराणसी	अश्वसेन	वामा	पोष कृ. १०	३० "
महावीर स्वामी	कुंडपुर	सिद्धार्थ	त्रिशला	चैत्र शु. १३	३० "

तीर्थंकर नाम	राज्य काल	दीक्षा तिथि	दीक्षा तप	छद्मस्थ काल
ऋषभदेवजी	६३ लाख पूर्व	चैत्र कृ. ८	बेला	१००० वर्ष
अजितनाथजी	५३ " पूर्व १ पूर्वांग	माघ शु. ९	"	१२ "
संभवनाथजी	४४ " " ४ "	मार्ग शीर्ष शु. १५	"	१४ "
अभिनंदनजी	३६५०००० पूर्व ८ पूर्वांग	माघ शु. १२	"	१८ "
सुमतिनाथजी	२९ लाख " १२ "	वैशाख शु. ९	०	२० "
पद्मप्रभ:जी	२१५०००० " १६ "	कार्तिक कृ. १३	बेला	६ मास
सुपार्श्वनाथजी	१४ लाख " २० "	ज्येष्ठ शु. १३	"	९ "
चन्द्रप्रभ:जी	६५०००० " २४ "	पौष कृ. १३	"	६ " +
सुविधिनाथजी	५०००० " २८ "	मार्गशीर्ष कृ. ६	"	४ "
शीतलनाथजी	५०००० "	माघ कृ. १२	"	३ "
श्रेयांसनाथजी	४२ लाख वर्ष	फाल्गुन कृ. १३	उपवास	२ "
वासुपूज्यजी	०	फाल्गुन कृ. ३०	बेला	१ "
विमलनाथजी	३० लाख वर्ष	माघ शु. ४	"	२ "
अनंतनाथजी	१५०००००	वैशाख कृ. १४	"	३ वर्ष
धर्मनाथजी	५०००००	माघ शु. १३	"	२ "
शांतिनाथजी	५००००	ज्येष्ठ कृ. १४	"	१ "
कुंथुनाथजी	४७५००	वैशाख कृ. ५	"	१६ "
अरनाथजी	४२०००	मार्गशीर्ष शु. ११	"	३ "
मल्लिनाथजी	०	पौष शु. ११	तेला	एक प्रहर®
मुनिसुव्रतजी	१५०००	फल्गुन शु. १ ‡	बेला	११ मास
नमिनाथजी	५०००	आषाढ कृ. ९ §	"	९ "
अरिष्टनेमिजी	०	श्रावण शु. ६	"	५४ दिन
पार्श्वनाथजी	०	पौष कृ. ११	तेला	८३ दिन
महावीर स्वामीजी	०	मार्गशीर्ष कृ. १०	बेला	बारह वर्ष साढ़े छह मास

+ ग्रंथ में ३ महीना है। ● ग्रंथ में मार्गशीर्ष कृ. ११ लिखा है। ® ग्रंथ में एक दिन-रात लिखा है। ‡ ग्रंथ में फाल्गुन कृ. ८ और ज्येष्ठ शु. १२ भी लिखा है। § ग्रंथ में श्रावण कृ. ९ भी लिखा है।

तीर्थंकर नाम	केवलज्ञान तिथि	गणधर	साधु	साध्वी
ऋषभदेवजी	फाल्गुन कृ. ११	८४	८४०००	३०००००
अजितनाथजी	पौष शु. ११	९०	१०००००	३३००००
संभवनाथजी	कार्तिक कृ. ५	१०२	२०००००	३३६०००
अभिनंदनजी	पौष शु. १४	११६	३०००००	६३००००
सुमतिनाथजी	चैत्र शु. ११	१००	३२००००	५३००००
पद्मप्रभःजी	चैत्र शु. १५	१०७	३३००००	४२००००
सुपार्श्वनाथजी	फाल्गुन कृ. ६	९५	३०००००	४३००००
चन्द्रभःजी	फाल्गुन कृ. ७	९३	२५००००	३८००००
सुविधिनाथजी	कार्तिक शु. ३	८६	२०००००	१२००००
शीतलनाथजी	पौष कृ. १४	८१	१०००००	१००००६
श्रेयांसनाथजी	माघ कृ. ३०	६६	८४०००	१०३०००
वासुपूज्यजा	माघ शु. २	६२	७२०००	१०००००
विमलनाथजी	पौष शु. ६	५६	६८०००	१००८००
अनंतनाथजी	वैशाख कृ. १४	५०	६६०००	६२०००
धर्मनाथजी	पौष शु. १५	४३	६४०००	६२४००
शांतिनाथजी	पौष शु. ९	९०	६२०००	८९००० ❀
कुंथुनाथजी	चैत्र शु. ३	३५	६००००	६०६००
अरनाथजी	कार्तिक शु. १२	३३	५००००	६००००
मल्लिनाथजी	पौष शु, ११	२८	४००००	५५०००
मुनिसुव्रतजी	फाल्गुन कृ. १२	१८	३००००	५००००
नमिनाथजी	मार्गशीर्ष शु. ११	१७	२००००	४१०००
अरिष्टनेमिजी	आश्विन कृ. ३०	१८	१८०००	४००००
पार्श्वनाथजी	चैत्र कृ. ४	८	१६०००	३८०००
महावीर स्वामी	वैशाख शु. १०	११	१४०००	३६०००

❀ ग्रंथ में ६१६०० है।

तीर्थंकर नाम	श्रावक	श्राविका	केवली	मनःपर्य ज्ञानी
ऋषभदेवजी	३०५०००	५५४०००	२००००	१२६५०
अजितनाथजी	२९८०००	५४५०००	२००००	१२५००
संभवनाथजी	२९३०००	६३६०००	१५०००	१२१५०
अभिनंदनजी	२८८०००	५२७०००	१४०००	११६५०
सुमतिनाथजी	२८१०००	५१६०००	१३०००	१०४५०
पद्मप्रभ:जी	२७६०००	५०५०००	१२०००	१०३००
सुपार्श्वनाथजी	२५७०००	४९३०००	११०००	९१५०
चन्द्रप्र:भजी	२५००००	४९१०००	१००००	८०००
सुविधिनाथजी	२२९०००	४७१०००	७५००	७५००
शीतलनाथजी	२८९०००	४५८०००	७०००	७५००
श्रेयांशनाथजी	२७९०००	४४८०००	६५००	६०००
वासुपूज्यजी	२१५०००	४३६०००	६०००	६०००
विमलनाथजी	२०८०००	४२४०००	५५००	५५००
अनंतनाथजी	२०६०००	४१४०००	५०००	५०००
धर्मनाथजी	२०४०००	४१३०००	४५००	४५००
शांतिनाथजो	२९००००	३९३०००	४३००	४०००
कुंथुनाथजी	१७९०००	३८१०००	३२३२	३३४०
अरनाथजी	१८४०००	३७२०००	२८००	२५५१
मल्लिनाथजी	१८४००० ❀	३६५०००‡	३२००§	८००
मुनिसुव्रतजी	१७२०००	३५००००	१८००	१५००
नमिनाथजी	१७००००	३४८०००	१६००	१२६०
अरिष्टनेमिजी	१६९०००	३३६०००	१५००	१०००
पार्श्वनाथजी	१६४०००	३२७०००+	१०००	७५०
महावीर स्वामीजी	१५९०००	३१८०००	७००	५००

❀ ग्रंथ में १८३००० है। ‡ ग्रंथ में ३७०००० है। § ग्रंथ में २२०० है। + ग्रंथ में १७५० है।

तीर्थंकर नाम	अवधिज्ञानी	पूर्वधर	वादलब्धि वाले	विक्रयलब्धि वाले
ऋषभदेवजी	९०००	४७५०	१२६५०	२०६००
अजितनाथजी	९४००	३७२०	१२४००	२०४००
सम्भवनाथजी	९६००	२१५०	१२०००	१९८००
अभिनंदनजी	९८००	१५००	११०००	१९०००
सुमतिनाथजी	११०००	२४००	१०६५०	१८४००
पद्मप्रभःजी	१००००	२३००	९६००	१६८००
सुपार्श्वनाथजी	९०००	२०३०	८४००	१५३००
चन्द्रप्रभजी	८०००	२०००	७६००	१४०००
सुविधिनाथजी	८४००	१५००	६०००	१३०००
शीतलनाथजी	७२००	१४००	५८००	१२०००
श्रेयांसनाभजी	६०००	१३००	५०००	११०००
वासुपुज्यजी	५४००	१२००	४७००	१००००
विमलनाथजी	४८००	११००	३२००	९०००
अनंतनाथजी	४३००	१०००	३२००	८०००
धर्मनाथजी	३६००	९००	२८००	७०००
शांतिनाथजी	३०००	९३०	२४००	६०००
कुंथुनाथजी	२५००	६७०	२०००	५१००
अरनाथजी	२६००	६१०	१६००	७३००
मल्लिनाथजी	२०००*	६००+	१४००	३५०†
मुनिसुव्रतजी	१८००	५००	१२००	२०००
नमिनाथजी	१६००	४५०	१०००	५०००
अरिष्टनेमिजी	८००	४००	८००	१५००
पार्श्वनाथजी	१४००	३५०	६००	११००
महावीर स्वामीजी	१३००	३००	४००	७००

* ग्रंथ में २२०० है। + ग्रंथ ५६८ है। † ग्रंथ में २९०० है।

तीर्थंकर नाम	चारित्र पर्याय	कुल आयु	निर्वाण तिथि
ऋषभदेवजी	एक लाख पूर्व	८४ लाख पूर्व	माघ कृ. १३
अजितनाथजी	एक पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	७२ लाख पूर्व	चैत्र शु. ५
संभवनाथजी	चार पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	६० "	चैत्र शु. ५
अभिनंदनजी	आठ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	५० "	वैशाख शु. ८
सुमतिनाथजी	१२ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	४० "	चैत्र शु. ९
पद्मप्रभःजी	१६ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	३० "	मार्ग कृ. ११
सुपार्श्वनाथजी	२० पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	२० "	फल्गुन कृ. ७
चन्द्रप्रभःजी	२४ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	१० "	भाद्र कृ. ७
सुविधिनाथजी	२८ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	२ "	भाद्र शु ९
शीतलनाथजी	२५००० पूर्व	१ "	वैशाख कृ. २
श्रेयांसनाथजी	२१००००० वर्ष	८४ लाख वर्ष	श्रावण कृ. ३
वासूपूज्यजी	५४००००० "	७२ "	आषाढ़ शु. १४
विमलनाथजी	१५००००० "	६० "	आषाढ कृ. ७
अनंतनाथजी	७५०००० "	३० "	चैत्र शु. ५
धर्मनाथजी	२५०००० "	१० "	ज्येष्ठ शु. ५
शांतिनाथजी	२५००० "	१ "	ज्येष्ठ कृ. १३
कुंथुनाथजी	२३७५० "	९५००० वर्ष	वैशाख कृ. १
अरनाथजी	२१००० "	८४००० "	मार्ग शु. १०
मल्लिनाथजी	५४९०० "	५५००० "	चैत्र शु. ४
मुनिसुव्रतजी	७५०० "	३०००० "	ज्येष्ठ कृ. ९
नमिनाथजी	२५०० "	१०००० "	वैशाख कृ. १०
अरिष्टनेमिजी	७०० "	१००० "	आषाढ़ शु. ८
पार्श्वनाथजी	७० "	१०० "	श्रावण शु. ८
महावीर स्वामीजी	४२ "	७२ "	कार्तिक कृ. ३०

तीर्थंकर नाम	निर्वाण साथी	निर्वाण तप	अन्तरकाल
ऋषभदेवजी	१००००	६ उपवास	•
अजितनाथजी	१०००	मासखमण	पचास लाख करोड़ सागर
संभवनाथजी	"	"	तीस लाख "
अभिनंदनजी	"	"	दस लाख "
सुमतिनाथजी	"	"	नौ लाख "
पद्मप्रभ:जी	३०८	"	नब्बे हजार "
सुपार्श्वनाथजी	५००	"	नौ हजार "
चन्द्रप्रभ:जी	१०००	"	नौ सौ "
सुविधिनाथजी	"	"	नब्बे करोड़ सागर
शीतलनाथजी	"	"	नौ "
श्रेयांसनाथजी	"	"	एक करोड़ सागर में छासठ लाख छब्बी हजार एक सौ सागर कम।
वासुपूज्यजी	६००	"	चौवन सागर
विमलनाथजी	६०००	"	तीस सागर
अनंतनाथजी	७०००	"	नौ सागर
धर्मनाथजी	८००	"	चार सागर
शांतिनाथजी	९००	"	तीन सागर में पौन पल्योपम कम
कुंथुनाथजी	१०००	"	अर्द्ध पल्योपम
अरनाथजी	१०००	"	पाव पल्योपम में एक हजार करोड़ वर्ष कम।
मल्लिनाथजी	१०००+	"	एक हजार करोड़ वर्ष
मुनिसुव्रतजी	१०००	"	५४००००० वर्ष
नमिनाथजी	१०००	"	६००००० वर्ष
अरिष्टनेमिजी	५३६	"	५०००००
पार्श्वनाथजी	३३	"	८३७५०
महावीर स्वामी	नहीं	बेला	२५० वर्ष

+ ज्ञाता में ५०० साध्वियां और ५०० साधु के साथ मुक्ति होना लिखा है, ग्रंथ में ५०० है। उसमें साध्वियों की संख्या नहीं लिखी होगी।

तीर्थंकरों के नक्षत्र

तीर्थंकर नाम	गर्भ	जन्म	दीक्षा	केवल	निर्वाण
ऋषभदेवजी	उत्तराषाढ़ा	उत्तराषाढ़ा	उत्तराषाढ़ा	उत्तराषाढ़ा	अभिजित
अजितनाथजी	रोहिणी	रोहिणी	रोहिणी	रोहिणी	मृगशिर
संभवनाथजी	मृगशिर्ष	मृगशिर्ष	मृगशिर्ष	मृगशिर्ष	आर्द्रा
अभिनंदनजी	पुनर्वसु	पुष्य	मृगशिर्ष§	अभिजित	पुष्य
सुमतिनाथजी	मघा	मघा	मघा	मघा	पुनर्वसु
पद्मप्रभ:जी	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा
सुपार्श्वनाथजी❀	विशाखा	विशाखा	विशाखा	विशाखा	अनुराधा
चन्द्रप्र:भजी	अनुराधा	अनुराधा	अनुराधा	अनुराधा	ज्येष्ठा ‡
सुविधिनाथजी	मूल	मूल	मूल	मूल	मूल
शीतलनाथजी	पूर्वाषाढ़ा	पूर्वाषाढ़ा	पूर्वाषाढ़ा	पूर्वाषाढ़ा	पूर्वाषाढ़ा
श्रेयांशनाथजी	श्रवण	श्रवण	श्रवण	श्रवण	धनिष्ठा
वासुपूज्यजी	शतभिषा	शतभिषा	शतभिषा	शतभिषा	उतराभाद्रपद
विमलनाथजी	उत्तराभाद्रपद	उत्तराभाद्र.	उत्तराभाद्र.	उत्तराभाद्र.	रेवती ●
अनंतनाथजी	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती
धर्मनाथजी	पुष्य	पुष्य	पुष्य	पुष्य	पुष्य
शांतिनाथजी	भरणी	भरणी	भरणी	भरणी	भरणी
कुंथुनाथजी	कृतिका	कृतिका	कृतिका	कृतिका	कृतिका
अरनाथजी	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती
मल्लिनाथजी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	भरणी
मुनिसुव्रतजी	श्रवण	श्रवण	श्रवण	श्रवण	श्रवण
नमिनाथजी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी
अरिष्टनेमिजी	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा
पार्श्वनाथजी	विशाखा	विशाखा	विशाखा	विशाखा	विशाखा
महावीर स्वामी	उत्तराफा०	उत्तराफा०	उत्तराफा०	उत्तराफा०	स्वाँति

§ अभिजित भी लिखा है। ❀ त्रिश. श. पु. च. में सुपार्श्वनाथ का गर्भ और दीक्षा अनुराधा में जन्म और केवल विशाखा में तथा निर्वाण मूल में लिखा है। ‡ श्रवण भी लिखा है। ● पुष्य भी लिखा है

स्पष्टीकरण

तीर्थंकर भगवंतों के गणधरों की संख्या में सूत्रों और ग्रंथों में अन्तर रहा हुआ है। जिन तीर्थंकर भगवंतों के गणधर महात्माओं की संख्या में अन्तर है, वे इस प्रकार हैं। ग्रंथों में भगवान् अजितनाथजी के ९५, सुविधिनाथजी के ८८, श्रेयांसनाथजी के ७२, वासुपूज्यजी के ६६, विमलनाथजी के ५७, शांतिनाथजी के ३६, अरिष्टनेमिजी के ११ और पार्श्वनाथजी के १० लिखे हैं।